amaj Foundation Chen

स्थगित यात्राएँ

राजेन्द्र यादव

6

in. Gurukul Kangri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

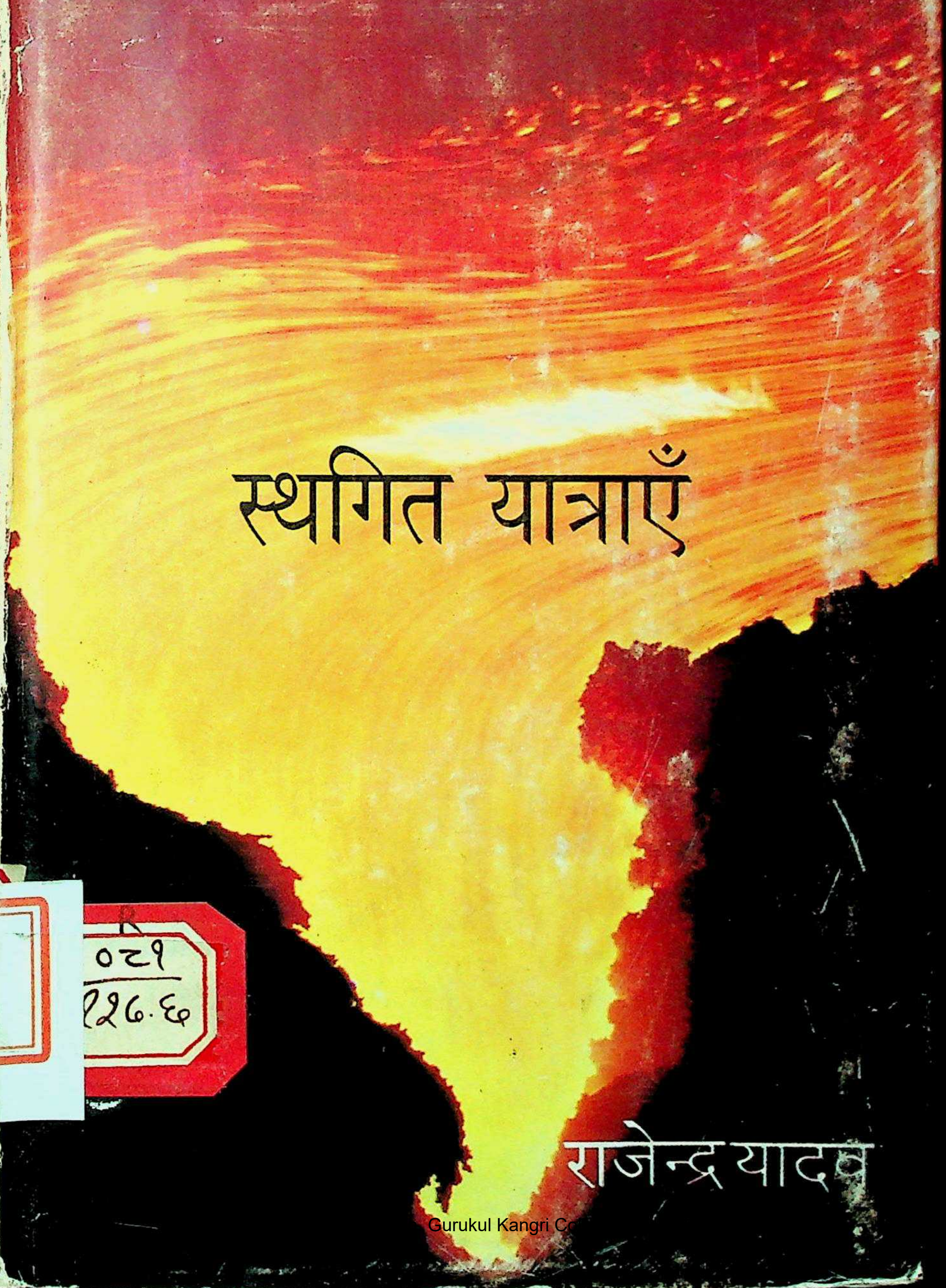

कांटे की बात-6

स्थगित यात्राएँ

0८१
१२६.६

राजेन्द्र यादव

Gurukul Kangri Co

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 112174

R
0८1
126.६१

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

112174

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
०८१
१२८.६

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

वर्ग संख्या.........

आगत संख्या 112174

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थगित यात्राएँ

कांटे की बात-6

112174

कांटे की बात-1

न लिखने का कारण

कांटे की बात-2

अनपढ़ बनाये रखने की साज़िश

कांटे की बात-3

गुलामी का आनंद और स्वतंत्रता के ख़तरे

कांटे की बात-4

आगे रास्ता बंद है

कांटे की बात-5

खामोश, चिंतन चालू आहे !

कांटे की बात-6

स्थगित यात्राएँ

पिछले 30 वर्षों में लिखी गयी समीक्षाओं, टिप्पणियों, अनुवीक्षाओं, 'हंस' के संपादकीयों से चुनाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाणी प्रकाशन

नयी दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांटे की बात-6

स्थगित यात्राएँ

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

राजेन्द्र यादव

समायोजन
विद्यानिधि

112174

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
0८२
१२६.८९

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1998
© लेखकाधीन

मूल्य : 100.00

कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110093
द्वारा लेज़र कंपोज

शुभम ऑफसेट, दिल्ली-110032
में मुद्रित

(Kante Ki Baat-6)
STHAGIT YATRAEN
by Rajendra Yadav

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

मुझे अपनी पिछली रचनाओं को देखने का प्रायः कभी मन नहीं होता। संकोच होता है कि पता नहीं वे कितनी कच्ची, अधूरी या संशोधनीय होंगी। अगर दुबारा समय होता तो शायद मैं उन्हें और सुधार सकता था। इसी उदासीनता के कारण बरसों से कुछ रचनाओं को पुस्तक रूप में देने की योजना टलती रही। अगर विद्यानिधि ने अपनी पहल पर उन्हें 'काँटे की बात' में समायोजित न कर दिया होता तो वे संभवतः अभी भी फाइलों में होतीं। पिछले चार खंडों के बाद दो खंड भी उन्हीं के कारण आ रहे हैं।

इधर विद्यानिधि अस्वस्थ रहने लगी हैं और दूर विलापुर (हिमाचल) में पढ़ाने चली गई हैं, लेकिन अपने ऊपर इतना निर्भर कर दिया है कि उपन्यासों पर एक पूरी किताब की सामग्री बरसों उन्हीं के संपादन-संशोधन की प्रतीक्षा करती रही।

'हंस' के संपादकीयों के अलावा इनमें कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो दूसरी जगहों पर प्रकाशित हुई हैं। कुछ व्यक्तिगत और 'चलते-चलते' जैसी टिप्पणियाँ भी हैं।

सचमुच नत-मस्तक हूँ अपने पाठकों का जिन्होंने 'असुविधाजनक' और 'परंपराद्रोही' होने के बावजूद इन लेखों को प्यार और स्वीकृति दी है। अपनी तरफ से इतना ही कहूँगा कि पता नहीं इनमें नया या विचारोत्तेजक कुछ है या नहीं, मगर पाठकों को उकसाया जरूर है कि बातें सिर्फ उतनी ही नहीं होतीं, जितनी हमें बताई जाती रही हैं—परिपाटी से हटकर और अलग तरह से भी उन पर सोचा जा सकता है, सोचा जाना चाहिए...शायद ये लेख दिमाग के कुछ नए खिड़की-दरवाजे खोलते हैं। प्रमाण यही है कि इन पर प्यार के साथ धिक्कार भी तो कम नहीं मिले हैं।

राजेन्द्र यादव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

अनलहक, यानी एक अल्पसंख्यक की हिमायत में... 9
डरता कौन है शानी से 18
बंद गली का आखिरी मकान 29
ब्राह्मण सभा में ज्यों अछूत 41
हिंदी प्रदेश और वैचारिक संकट 49
स्थगित यात्राएँ 57
हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण 64
बुर्कों की वापसी 73
विकल्पों से कौन डरता है 80
मूर्तियाँ बेचने की कला 86
अग्नि-परीक्षाएँ 94
ईश्वर ही सत्य है 100
खामोश, गणेश जी दूध पी रहे हैं 107
मानव-मेधा के सामाजिक व्यवहार का नाम ही है संस्कृति 114
हारे हुए विजेता 121
तीसरे अंक का स्थगित नायक 129
दिल ढूँढता है फिर वही फुर्सत के रात-दिन 143
छाया-युद्ध : प्रतिबिंब या अनुबिंब 149
बचा रहेगा शब्द 157
दूर बैठने का सुख 166
पतन की स्वतंत्रता के पचास साल 174

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनलहक़, यानी एक अल्पसंख्यक की हिमायत में...

भाषा और संस्कृति के सवाल ने बंगला देश का निर्माण किया था। इस्लाम के नाम पर पाकिस्तानी कठमुल्ले और फ़ौजें, दोनों 'जंगली' पूर्वी पाकिस्तानियों को सभ्य और धार्मिक बना रहे थे। एक-एक दिन में तीन-तीन हज़ार बुद्धिजीवियों को गोलियों से भूना गया था। कुल तीस लाख से अधिक मौत के घाट उतारे गए और न जाने कितने भागकर हिंदुस्तान आए। अभी तक याद है : ढाका विश्वविद्यालय के दो वरिष्ठ प्रोफ़ेसर मुझसे मिलने कुछ भारतीय मित्रों के साथ 'अक्षर' में आए थे और हम लोगों ने लंबी बातचीत की थी। फिर 'साहित्य अकादमी' के लॉन में मीटिंग हुई थी। वे डेढ़-दो महीने दिल्ली-अलीगढ़ रहे थे। कई बार मिले। चूँकि कुछ शब्द और लिपि अरबी-फारसी से बहुत मिलते हैं, इस आधार पर इस्लाम की भाषा सिर्फ उर्दू है, यह कहना ठीक वैसा ही है, जैसे कोई कहे कि हिंदुत्व की भाषा सिर्फ हिंदी है क्योंकि शब्द और लिपि संस्कृत से बहुत मिलते हैं, अर्थात् अहिंदी भाषी, विशेष रूप से दक्षिण भारतीय गैर-हिंदू हैं। न जाने कितनी अलग भाषाओं और विरोधी संस्कृति वाले क्षेत्रों का धर्म क्रिश्चियेनिटी है। पोप और वैटिकन की भाषा पोलिश, इतालवी कुछ भी हो सकती है—मगर बाकी देशों के लोग इन लोगों के मुकाबले कम या नीचे क्रिश्चियन नहीं हैं। धर्म, जीवंत भाषा और संस्कृति का अपरिहार्य हिस्सा हो ही नहीं सकता, ज़्यादा से ज़्यादा मंदिर, मस्जिद या चर्चों में पूजा के समय उठाई गई पोथी के रूप में साँस लेता रहा है।

इस्लाम का झंडा ऊँचा रखने वाले पाकिस्तान और बंगला देश के कठमुल्ले कैसे अपने-अपने शासनाध्यक्षों के रूप में दो-दो औरतों को बर्दाश्त करने का कुफ्र झेल रहे हैं—यह आश्चर्य की बात है। हाँ, इस बार धर्म सिखाने के लिए बंगला देश में फौजें पाकिस्तान से नहीं आई हैं—पच्चीस साल में यह फसल स्वयं वहीं उगी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ी है। खाद और पानी देने वाले वे ही पुराने और घिसे हुए घाव हैं जो तब अधार्मिकों की पहचानें बता-बताकर पाकिस्तानी फौजों को दिखा रहे थे। जो कल तक पाकिस्तान के फौजी थे, वे आज अपने आप इस्लामी सैनिक बन गए हैं। सलमान रुश्दी के शब्दों में 'ईरानी खुमैनी'। उधर कल के हज़ारों-लाखों 'काफ़िर' आज एक औरत के रूप में फिर से सिर उठा रहे हैं। तस्लीमा नसरीन चूल्हे पर चढ़ी देग़ची के उस ढक्कन की तरह फूटी है जिसके लिए घुटन और भाव को अपने में समेटे रख पाना असंभव हो उठा है। धर्म-धुरीणों को न आग से शिकायत है, न देग़ची और भाप से—उनका गुस्सा तो उस ढक्कन पर है जो विस्फोट के रूप में छत से टकरा रहा है। ढक्कन जैसी नाचीज की यह हिम्मत कि खुदा और उन जैसे नाखुदाओं की नाफ़रमानी करे ? खुदा, यानी वे खुद। मगर तस्लीमा अकेली नहीं है, प्रतीक है, विद्रोही विचार है। विचार को स्थगित तो किया जा सकता है, मारा कभी नहीं जा सकता। इसलिए यह कहना शायद जल्दबाजी नहीं है कि बंगला देश फिर एक दूसरी क्रांति की दहलीज पर खड़ा है, या तीस साल पहले के पूर्वी पाकिस्तान से दुबारा लड़ रहा है, एक समन्वित-संस्कृति के लिए। तस्लीमा 'कैटेलेटिक एजेंट' है।

शुरुआत 'लज्जा' से हुई थी। उसमें तस्लीमा ने हिंदुओं की कहानी नहीं लिखी थी, बहुसंख्यकों की दया पर रहने वाले एक अल्पसंख्यक परिवार की कहानी लिखी थी—ये अल्पसंख्यक हिंदुस्तान में सिख हो सकते हैं, मुसलमान हो सकते हैं, पाकिस्तान में हिंदू या शिया हो सकते हैं। शक्ति और धार्मिक अहंकार के चरम शिखर पर बैठे भिंडरावाले ने एक बार ऐलान किया था कि खालिस्तान के महान लक्ष्य के लिए शेष हिंदुस्तान में फैले दो करोड़ सिखों को अगर 'राइट ऑफ' भी करना पड़े तो उन्हें कोई चिंता नहीं है। ठीक यही बात आडवाणी और विश्व हिंदू परिषद के आचार्यों ने कही थी कि 'रामजन्म भूमि मंदिर' के लिए अगर दस-बीस लाख हिंदुओं या पाँच-सात हज़ार मंदिरों का बलिदान भी करना पड़े, तब भी वे गुलामी के स्मारक बाबरी ढ़ांचे को ढहाकर रहेंगे। उन्हें इतिहास की ग़लती को सुधारना है। नतीजे में खालिस्तानियों ने अपने धर्मस्थान का ध्वंस करने वाले शत्रु, इंदिरा गांधी को मार गिराया और बजरंगियों ने बाबरी मस्जिद को...विदेशों में बैठे जगजीत सिंह चौहान और गंगा सिंह ढिल्लों मिठाइयाँ बाँटते, शैम्पेन में नहाते रहे और हमारे हाथों सैकड़ों गुरुद्वारे या पाँच हज़ार बेकसूर सिख देखते-देखते जंगली घास की तरह भून दिए गए। अशोक सिंघल और लालकृष्ण आडवाणी रामनामी ओढ़े, तिलक लगवाते, जयजयकार कराते रहे और देश तथा पास-पड़ोस में फैले हजारों हिंदू परिवार अपनी ज़मीन-जायदाद लुटवाते, मंदिर तुड़वाते और बहू-बेटियों को नुचवाते रहे—बंबई-सूरत में अरबों-खरबों की जड़-संगम संपत्ति स्वाहा हो गई...बंगला देश में पीढ़ियों से बसे ऐसे ही एक हिंदू परिवार के समाप्त हो जाने की कहानी लिखी है तस्लीमा नसरीन ने। राजनेताओं और धर्मधुरीणों के लिए मरने वालों का जो सिर्फ़ एक आँकड़ा या सूचना बनकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी अगली रणनीति का जायजीकरण मात्र है, उसी आँकड़े की एक इकाई को मानवीय चेहरा दिया है तस्लीमा ने—दूर बैठकर देखने वालों के लिए जो सिर्फ एक संख्या होती है, वह अपनी वास्तविकता में एक परिवार होता है, किसी के बेटे-बेटियाँ होते हैं—परिवेश और परंपरा होती है। उनके नाम और सपने होते हैं। कौन होते हैं ढाका से हज़ारों मील दूर, अयोध्या में बैठे धर्माचार्य, जो उनके जीने और मरने के फैसले सुनाते हैं और उन अपराधों की सज़ा भुगतने के लिए मजबूर करते हैं, जिनमें न उनकी हिस्सेदारी है, न सहमति... ? यहाँ तक कि जानकारी भी नहीं।

'लज्जा' उपन्यास के किस रूप को 'पांञ्चजन्य' ने धारावाहिक रूप में निकाला है, मैंने नहीं देखा, मगर उपन्यास में पाँच-छः जगह आडवाणी और अशोक सिंघल को नाम लेकर इस सर्वनाश का जिम्मेदार ठहराया गया है, एक दर्जन बार बाबरी मस्जिद-ध्वंस को इस कत्ले-आम का कारण माना गया है। निश्चय ही 'पांञ्चजन्य' ने इन हिस्सों को संपादित कर दिया होगा, क्योंकि उन्हें 'लज्जा' को 'अल्पसंख्यकों पर होने वाले अत्याचार' के रूप में नहीं, मुस्लिम देश में हिंदुओं पर ढाए जाने वाले कहर के रूप में पेश करना था। वे यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकते थे कि सुरंजन परिवार को बंगलादेशी मुसलमानों ने नहीं, रामरथ पर सवारी गाँठते लालकृष्ण आडवाणी ने मौत की सज़ा सुनाई थी !

क्या तस्लीमा ने सुरंजन के बहाने बंगलादेशी अल्पसंख्यकों की यातनाप्रद त्रासदी ही लिखी है ? नहीं, तस्लीमा अपनी और अपने जैसे सोच वाले उन अल्पसंख्यक बुद्धिजीवी मानवतावादियों की कहानी लिख रही है जो इस 'धार्मिक' माहौल में हर कहीं असुरक्षित है। हर जगह उनके खिलाफ फतवा है और हर कहीं उनके सिरों पर लाखों के इनाम हैं। उन्हीं का फतवा हर सरकार और संविधान से ऊपर है। इसलिए निस्संकोच खुले-खजाने वे ललकारते हैं कि जो कोई उस अधर्मी का सिर लाएगा, उसे...तस्लीमा सिर हथेली पर रखकर उन करोड़ों निरीह लाचारों की कहानी लिख रही है जिसे आदम की एक पसली से बनाकर औरत का नाम दे दिया गया—जिसका न अपना कोई चेहरा है, न आवाज़। सिर्फ़ एक बुर्का है और उसके अंदर घुटती सिसकियाँ हैं जो इस्लामी कानून के मुताबिक दो मिलकर एक पुरुष के बराबर नहीं है, जिसे कभी भी तीन बार 'तलाक' कहकर बच्चों सहित सड़क या कोठे पर फेंका जा सकता है। तस्लीमा ने इस कमज़ोर और निहत्थे प्राणी या औरत के पक्षकार के रूप में अपनी आवाज़ उठायी है जिसकी सज़ा हज़ारों साल पहले धर्मग्रंथों में तय कर दी गयी है—ढाका, मैमन सिंह हों या सूरत-बंबई, धर्म की दिग्विजय का हर झंडा औरत की योनि में ही गाड़ा जाता है ! इसलिए तस्लीमा का 'अपराध' दुहरा है : अल्पसंख्यकों की तरफदारी में धर्म के खिलाफ बोलना और वह भी औरत होकर ...उसका तो सिर कटना ही है, आज नहीं तो कल...कसाइयों के छुरे से बकरे की माँ कब तक खैर मनाएगी...यही तो लिखा है सलमान रुश्दी ने तस्लीमा को, 'लिबरेशन'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम के पेरिस के दैनिक में (विश्व के बीस प्रसिद्ध लेखकों की शृंखला में पहला पत्र) "लोगों से अपने लिए महिला सलमान रुश्दी होने की बात सुनते-सुनते तुम जरूर आज़िज़ आ चुकी होगी। सच पूछो तो हमें धमकाने या कत्ल कर डालने का दैवी अधिकार मानने वाले हमारे विरोधियों में बहुत-सी एक जैसी मान्यताएँ हैं। मैं किसी ईश्वर, किताब में विश्वास करूँ या न करूँ, यह मेरा व्यक्तिगत अधिकार है। मगर उनके लिए बात इतनी सीधी नहीं है। उनके हिसाब से हमें सिर्फ़ यह विश्वास करना चाहिए कि दुनिया में एकमात्र सत्य वही है जो वे बताते हैं। कि सत्य की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम वही है जो उन्होंने तय किया है और इससे जो सहमत नहीं है उसकी एकमात्र सज़ा है मौत..." चूँकि वे साक्षात् कुफ्र यानी खालिदा ज़िया और बेनज़ीर भुट्टो को मार नहीं सकते, इसलिए उनका सारा गुस्सा तस्लीमा पर है ! उसे नास्तिक या धर्म-विहीन होने की भी इजाज़त नहीं है।

मगर मुझे लगता है कि तस्लीमा नसरीन की तुलना न सलमान रुश्दी से की जानी चाहिए, न घिसे और पके हुए कम्यूनिज्म-विरोधी बुद्धिजीवियों द्वारा बार-बार उद्धृत उन लेखकों-वैज्ञानिकों से, जिन्हें असहमतियों के कारण सोवियत शासन के दौरान साइबेरिया में ले जाकर दफ़न कर दिया गया। रुश्दी की लड़ाई धार्मिक कठमुल्लेपन के खिलाफ, व्यक्तिगत लेखकीय स्वतंत्रता की लड़ाई है। घुटन और भिंचाव में वह हाथ-पाँव हिलाने के लिए थोड़ी-सी खुली जगह चाहता है, ताकि शीशे के सामने तरह-तरह के मुँह बनाकर ईश्वर या उसके एलचियों का कैरिकेचर कर सके, उन्हें मुँह चिढ़ाकर अपने को स्वतंत्र महसूस कर सके ! तस्लीमा अपने लिए नहीं, अनेक स्तरीय अल्पसंख्यकों के लिए धार्मिक जकड़न में मानवीय ढील की माँग करती है ! वह मनुष्य के हक में धर्म को संशोधित करना चाहती है। इसी तरह सोवियत शासन में असहमति को कुचलने के लिए बाकायदा तंत्र था, मुकदमे और सज़ा का दिखावटी प्रावधान था, सज़ा के कार्यान्वयन के लिए सरकारी कर्मचारी थे। वह राज्य और व्यक्ति का मामला था। तस्लीमा को सज़ा तो सुना रहे हैं वे खुले खजाने घूमने वाले कठमुल्ले, जो अपने आपको धर्म का एकमात्र ठेकेदार मानते हैं। भड़काये हुए लोगों में से कोई भी इस पुण्य को लूट सकता है। मगर उसी समाज में वह वर्ग भी है जो इन बुनियाद-परस्तों के खिलाफ है और शायद यही कारण है कि तस्लीमा आज तक जिंदा है...इस लिहाज़ से तस्लीमा आग का ऐसा गोला है जो व्यक्तिगत रूप से रहे, न रहे; लेकिन गोला अपना आकार बढ़ाता ही जाएगा। मूलतः तस्लीमा आधुनिकता और मध्यकालीन कबीलाई जड़ता का द्वंद्व है और हर उस देश में उभर रहा है, जहाँ इस्लाम बदली हुई स्थितियों के डर से अधिक से अधिक जकड़बंद हो रहा है !

शायद यह इस्लाम के लिए विशेष, लेकिन प्रायः हर पुराने धर्म के लिए घनघोर संकट, तनाव और जीने-मरने का क्षण है। आधुनिक औद्योगिक विकास, तकनीकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरक्की, इलेक्ट्रॉनिकी का वर्चस्व मूलतः धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) तत्त्व है, आर्थिक निर्भरता और संचार-माध्यमों ने सारी दुनिया के कोने-कोने को एक-दूसरे के लिए खोल दिया है। और हम सब उसके हिस्से हैं। हर धर्म से ऊपर हम सब उन्हीं गैजेट्स और वस्तुओं का इस्तेमाल करते हैं जो दूसरा कर रहा है, आज कोई नहीं पूछता कि आइसक्रीम में अंडा होता है या नहीं, या खाना सर्व करने वाला बैरा किस जाति का है, होटलों का गोश्त झटका है या हलाल...बढ़ते हुए इस खुलेपन में यह संभव ही नहीं है कि विचारों का वैश्विकीकरण न हो...कभी विचार पहले आते हैं और चीज़ें बाद में, कभी चीज़ें पहले आती हैं और विचारों को उनके हिसाब से बदलना पड़ता है। यह रिश्ता द्वंद्वात्मक है। ए.के.–47 और न्यूक्लियर मिसाइल चलाने वाले की मानसिक बनावट, सोच वह हो ही नहीं सकती जो धनुष-बाण, गदा-तलवार या तेग़ और नेज़ा चलाने वालों की रही होगी। धर्म का द्वंद्व यह है कि वह आधुनिकतम चीजों का इस्तेमाल करने के लिए मजबूर है, मगर विचारों में वही डेढ़-दो हजार साल पीछे के मध्ययुगीन सामंतीकाल में बने रहना चाहता है–एक भीषण असुरक्षा का तनाव और अपराध-बोध का दबाव उसे ऊपर से पुराने कवच-कुंडल चिपकाये रखने को मजबूर करता है, वह घिरे हुए कमज़ोर कुत्ते की तरह ज्यादा से ज्यादा आक्रामक होने के लिए अभिशप्त है–अपनी धर्म-गुफ़ाओं में अधिक से अधिक पीछे हटते हुए...

तस्लीमा और रुश्दी–दोनों के संदर्भ में एक नारा बार-बार लगाया जा रहा है कि धर्म या शरीयत पर बोलने का अधिकार सिर्फ़ उन्हें है जो उसके पारंगत हैं ! कितनी लचर और दयनीय दलील है ! वे हमें सिर्फ़ इस शब्द-जाल में उलझाएँगे कि किस श्लोक या सूरा के अनुसार किस शब्द का क्या अर्थ है और उनके अनुसार क्या सजा या माफी तय होती है। ये उनके आपसी शास्त्रार्थ हैं और इसे वे ज़िंदगी भर चलाए रखें, हमें तो देखना यह है कि वे हमारी ज़िंदगी को कहाँ तोड़-मरोड़ रहे हैं। अगर इस्लामी शास्त्रों में औरत को बड़ा ऊँचा और बराबरी का दर्जा दिया गया है तो मैं भी हिंदू शास्त्रों से दर्जनों श्लोक सुना सकता हूँ जहाँ औरत देवी, माता, अपरा, आद्याशक्ति और न जाने क्या-क्या है ? मगर दोनों धर्मों ने औरत के लिए जो नरक-कुंड बनाए हैं और जहाँ से उसे निकलने की इजाज़त नहीं है, मेरे लिए यह सच है या कहीं कुरान-पुराण में लिखे कुछ भव्य वाक्य ? और अगर उनका इस्तेमाल अन्याय, अत्याचार और दमन की यथास्थिति बनाए रखने के लिए किया जा रहा है तो मुझे क्या करना चाहिए ? श्रद्धा भाव से उन धर्मग्रंथों का अध्ययन-पारायण या उनके खिलाफ विद्रोह ? फिर अल्लामा इकबाल का वह गुस्सा क्या है जो उन्होंने बिलकुल एक दूसरे संदर्भ में दमन के खिलाफ जाहिर किया है : "जिस खेत से इन्सां को मयस्सर न हो रोटी, उस खेत के हर ख़ोशए-गन्दुम को जला दो..." क्या यहाँ रोटी की जगह न्याय, खेत की जगह धर्म और ख़ोशए-गन्दुम (गेहू की बालियाँ) की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह शास्त्र और शरीयत को नहीं रखा जा सकता ? यह वैसा ही है जैसे कोई बम-विस्फोट के शिकार को यह समझाने का आग्रह करे कि अपने कटे-फटे हाथ-पाँवों को लेकर रोने-धोने से पहले यह जानने की कोशिश करो कि बम बनाया कैसे जाता है, उसमें किन-किन तत्त्वों और तकनीकों का इस्तेमाल होता है, उसे बनाने वाले कौन थे...उनके बारे में शास्त्रों में कैसी महान बातें लिखी हैं, इत्यादि इत्यादि...वस्तुतः "जो धर्म की गहराइयों को समझते हैं" शास्त्रज्ञों और काजियों की वह बौद्धिक ऐयाशियाँ या शास्त्रीय बाज़ीगरियाँ हैं जो वे मंदिरों-मस्जिदों के एकांत कमरों में बैठकर चला रहे हैं। इतिहास और पुराणों की भट्ठियों से पिघल-पिघलकर आने वाले लोहे का स्वाद वे नहीं, आम आदमी नाम का घोड़ा बताएगा, जिसके मुँह में वह लगाम बनकर फँसा है, पैरों में नाल बनकर ठुका है और कंधों पर जुआ या जीन बनकर चढ़ा है ...ज़्यादा से ज़्यादा ये धर्म-धुरीण हमें लोहा बनाने के तत्त्व और प्रक्रिया ही तो बता सकते हैं। मगर हम इस लोहे का अपने ढंग और ज़रूरत से हिसाब से ढालें, यह इन्हें बर्दाश्त होगा ? तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी।

अभी 14 जुलाई के 'पायनियर' में इकबाल मसूद का लेख, हर बार दुहराये जाने वाले तर्क को नए सिरे से दुहराता है : तस्लीमा, रुश्दी, शाहबानो के मुद्दों को बार-बार उछालने के बहाने ये छद्म बुद्धिजीवी, इस्लाम और मुसलमानों को नीचा दिखा रहे हैं। इन्होंने इस्लामी धर्मग्रंथों को पढ़ा-गुना होता तो पता चलता कि यह धर्म कितना मानव कल्याणकारी है। ठीक बी.जे.पी. और शंकराचार्यों का हिंदू-धर्म के पक्ष में दिया जाने वाला तर्क...वेद और शास्त्र पढ़ो तो मालूम हो। किसी भी अख़बार को खोल लीजिए, हर कोई दूसरे को शास्त्र पढ़ने की सलाह दे रहा है। अगर लिखने वाला मुसलमान है और बंधनों को ढीला करने की बात कहता है तो कुपढ़ है, और अगर मुसलमान नहीं है तो 'इग्नोरेंट ऑफ होली स्क्रिप्चर्स' (शास्त्रों से अनभिज्ञ) है, इसलिए उसे अपना मुँह बंद ही रखना चाहिए...यानी पहले तो हम मुल्लाओं और मौलवियों से यह सर्टिफिकेट लें कि हम बोलने के अधिकारी हैं या नहीं, फिर वही सब बोलें जो वे हमसे सुनना चाहते हैं, वरना हम बाहरी आदमी हैं। राहुल जी लंबे-चौड़े गौर व्यक्तित्व के स्वामी थे, वेद-शास्त्रों के पारंगत विद्वान थे, इसलिए बनारस के पंडितों की सभा में 'अधिकारी विद्वान' के रूप में शामिल हो गए, मगर जैसे ही उन्होंने वेदों और अन्य शास्त्रों के श्लोक-दर-श्लोक सुनाकर यह सिद्ध करना शुरू किया कि पुराने ऋषियों को गोमांस कितना प्रिय था और वसिष्ठ जैसे ऋषि ताजा बछड़े का मांस किस शौक से खाते थे तो हंगामा मच गया। यानी आप 'अधिकारी विद्वान' तभी तक हैं, जब तक उनके बताए अर्थों का समर्थन करें...

उन लोगों को विचारों की मुक्ति और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे शब्दों के इस्तेमाल का क्या हक है जो दिमाग़ की हर खिड़की-दरवाजे बंद किए बैठे हैं। जब मैं किसी भी हवाले में, पवित्र वेद, पूज्य शंकराचार्य, भगवान राम जैसे विशेषणों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना एक वाक्य नहीं बोल सकता तो सिवा कीर्तन और समर्थन के क्या करूँगा ? मुझे तो हर नया विचार अपना व्यक्तिगत अपमान और अपने पर हमला लगेगा। इकबाल मसूद जैसे बंद-जहिनयत के लोग इसी हीनता-बोध और असुरक्षा के मारे हुए हैं, वे डरे हुए लोग हैं : न मुल्लाओं को नाराज करना चाहते हैं, न बाहर पोंगापंथी होना सह पाते हैं। जिस तरह आप किसी भी कठमुल्ले या धर्माचार्य से कोई भी असुविधाजनक सवाल नहीं पूछ सकते, उसी तरह इकबाल मसूद या सरदार जाफ़री जैसे बुद्धिजीवी से भी नहीं पूछ सकते कि कुरान या मुहम्मद साहब हर प्रश्न, जिज्ञासा या विश्लेषण से ऊपर क्यों हैं ? बस, हैं। ठीक वैसे ही जैसे दो और दो चार। अब कर लीजिए बौद्धिक बहस और गाइए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का राग ! हाँ, दो और दो चार न कहने पर कोई कुछ नहीं कहेगा, मगर ऊपर वाले 'शाश्वत सत्य' पर उँगली उठाइएगा तो सर कलम ! इस पर भी आपको कहना यही पड़ेगा कि इस्लाम बड़ा कल्याणकारी धर्म है कि वह डर और आतंक के सहारे नहीं चलता।

मुझसे भी लोग अक्सर यही कहते हैं कि आप बातें तो सही कहते हैं मगर कहने का तरीका कुछ ऐसा बिटर (कड़वा) है कि खामखां विरोध करने को जी चाहता है। सत्य बोलिए, मगर इस तरह कि किसी की भावनाओं को चोट न लगे। 'न ब्रूयात सत्यं अप्रियं', अप्रिय सत्य मत बोलो। अब मैं समझने में सचमुच असमर्थ हूँ कि वह कौन-सा सत्य है जो सबको (या सिर्फ कुछ को) प्रिय हो ? इतिहास में सबकी आस्थाओं और भावनाओं को प्रिय लगने वाले सत्य ही बोले जाते तो न ज्ञान आगे बढ़ता, न विज्ञान...कितनी चोट लगी होगी गैलिलियों के सत्य से, और कितने रोये होंगे भारतीय चंद्रास्वामी या चन्द्रवंशी, जब पहला स्पुतनिक चाँद पर उतरा था। बोलिए, जहाँ देवताओं और इंद्र, अप्सराओं जैसों का वास रहा हो, वहाँ ससुरों ने लाइका नाम की कुतिया को उतार दिया। जब-जब किसी ने सच बोला है तो कुछ की भावनाएँ आहत हुई हैं। "मत कहो आकाश में कुहरा घना है, यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।" हम यह क्यों मान लें कि हमारे पूर्वजों को उपलब्ध इलहाम के रूप में या कुछ ताल-पत्रों और खाल-पत्रों में सुरक्षित सत्य, पत्थर का ऐसा टुकड़ा है जो जड़, अपरिवर्तनीय और जीवनातीत है। अगर वह सत्य है और उसका कोई रूप विचार या भावना है तो वह परिवर्तनीय भी होगा और विकासमान भी। भावनाओं की रक्षा के लिए ही इस बदले हुए सत्य को बोलना स्थगित किया जाता रहा तो हम सबको अपने ज्ञान-विज्ञान, सोच और तर्क को बस्ते में बाँधकर नदी में बहा देना चाहिए ...यह स्वयं उस सत्य के साथ विश्वासघात होगा जो अपनी प्रकृति में ही जड़ नहीं है। हर किसी को इस सत्य को बोलने या इसकी व्याख्या करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता, इस दलील के आधार पर कब तक कुछ लोग अपनी दुकानें चलाते रहेंगे ? तस्लीमा और सलमान रुश्दी को सलाह देने वाले भी अक्सर औरों की भावनाओं की ही दुहाई देते हैं। कुछ की भावनाओं का दबाव ही है कि अपनी सारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगतिशीलता और उदारता के बावजूद शायद ही कोई भारतीय मुसलमान इनके पक्ष में खुलकर सामने आया हो, जबकि कठमुल्ले छाती ठोंककर अपनी बातें कह रहे हैं। इनमें सबसे ख़तरनाक वे हैं जो दबे-ढंके तरीके से सिर्फ़ इतना कह रहे हैं कि मौत का फ़तवा कुरान-सम्मत नहीं है। यह कहने की हिम्मत किसी में नहीं है कि सम्मत हो या असम्मत, ऐसा फतवा ही अमानुषिक, नृशंस और बर्बर है। यह वैसी ही क्रूर तानाशाही है, जैसे किसी गाँव की पंचायत बैठकर अपराध तय करती है और किसी को भी फाँसी पर लटका दिया जाता है, कुल्हाड़ी से गर्दनें काट दी जाती हैं या बाँधकर चारे की तरह आग में झोंक दिया जाता है और पूरी बिरादरी पंचायत कहती रहती है कि मर्यादाओं का पालन हो रहा है। वहाँ न कोई जिरह है, न अपने पक्ष की सुनवाई। क्या इस्लाम इस बर्बर कबीलाई मध्य युग से कभी बाहर नहीं निकल पाएगा और बासी मर्यादाओं के नाम पर अपने को अधिक से अधिक बंद करता जाएगा ?

सज़ाएँ तो तस्लीमाओं और रुश्दियों को वे सलमान खुर्शीद और महीप सिंह जैसे भी सुना रहे हैं जो उनके समर्थन का तेवर दिखाते हुए कहते हैं कि वे अपनी बात कहें, इसकी उन्हें आज़ादी है, मगर अपने पक्ष के लिए वे इतनी प्रतिबद्ध हैं तो खुलकर सामने आएँ, यह मुँह छिपाने या जमींदोज़ हो जाने या दूसरी सरकारों से शरण माँगने की कायरता क्यों दिखा रहे हैं ? यानी वे आएँ और सत्य बोलने के एवज़ में सिर कटा दें, ताकि उनके धर्म-संकट और झंझट खत्म हों। यानी फ़ैसला उनका दूसरे शब्दों में वही है जो सर काटने वाले कठमुल्लाओं का है। वे उन्हें धर्म के खिलाफ बोलने की सज़ा दे रहे हैं तो ये सत्य बोलने की। अगर उन्हें यह विश्वास होता कि उनके साथ हज़ार-पाँच सौ लोग खड़े हो जाएँगे तो शायद उन्हें छिपने और भागने की ज़रूरत नहीं पड़ती। आपमें तो इतना भी गुर्दा नहीं है कि खुलकर कह सकें : हम मुशीरूल हसन के पक्ष में हैं या 'बेदार' ने कोई गलत बात नहीं की, या प्यार सिंह और पिशोरा सिंह के अध्ययनों को वही सम्मान मिलना चाहिए जो एकेडमिशियनों के विश्लेषणों को मिलता है। वे तो तस्लीमा या रुश्दी से कह रहे हैं कि ज़रा बाहर आओ, फिर देखते हैं कितना सच बोलते हो। वस्तुतः इनके भीतर वही रोमन-सम्राट बैठे हैं जो खुद तो ऊँचे मचानों पर सुंदरियों से रंगरेलियाँ करते रहते थे और नीचे अखाड़े में एक निहत्थे हब्शी को खूँखार शेर फाड़ते-खाते रहते थे। कम से कम उन लोगों से जो अपने आपको प्रबुद्ध लेखक, बुद्धिजीवी या स्वतंत्र-चेता कहते हैं, यह उम्मीद तो की ही जा सकती थी कि वे खुलकर सामने आते और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी सुरक्षा के समर्थन में खड़े होते। सिर्फ़ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात अधूरी है, अगर उस स्वतंत्र अभिव्यक्ति को बचाए रखने का ज़िम्मा हम खुद भी नहीं लेते। बेहद क्रूर है यह कहना कि तुझे सच बोलने का भूत सवार हुआ है—अब तू ही भुगत, हम क्यों किसी से दुश्मनी मोल लें ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी व्यथा से लिखा है सलमान रुश्दी ने तस्लीमा के नाम लिखे अपने पत्र में, ''निर्वासन में बैठे व्यक्ति के लिए यह सुख कितना बड़ा है तस्लीमा, कि दुनिया के बड़े लेखक. कलाकार, बुद्धिजीवी आपके समर्थन में खड़े हैं और आपके पक्ष में जनमत बना रहे हैं। मुझे यह स्वतंत्रता तो होनी ही चाहिए कि मैं किसी ईश्वर या किताब को मानूँ या न मानूँ, धर्म में रहूँ या न रहूँ।''

'हंस', अगस्त, 1994

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डरता कौन है शानी से

इसी छह फरवरी को हिंदी कथाकार शानी नहीं रहा। गुर्दों की लंबी बीमारी से लड़ते-लड़ते हार गया। 62 वर्ष का था। मैं सोच रहा हूँ कि अगर हिंदी में शानी नहीं होता तो हम क्या कुछ अधूरे होते ? ऐसे वाक्य कहने का रिवाज हो गया है। फिर भी मुझे लगता है कि शानी की उपस्थिति एक ऐसी आग की तरह थी जो रोशनी भी देती है और ताप भी। चालीस वर्षों की लंबी दोस्ती में मैंने दोनों को महसूस किया है। लंबी-लंबी बहसें, ज़िंदगी की कुछ बेहद ही खूबसूरत यादगार शामें, कहकहे, बहसें, भावनात्मक हिस्सेदारियाँ, लड़ाइयाँ, झगड़े, चीखना-चिल्लाना, उदासीनता; उपेक्षा और खिंचाव—सभी कुछ तो याद आते रहे उस दिन दिल्ली गेट के कब्रिस्तान में। पाँच-छः दिन पहले की हो तो बात है। वह तकियों के सहारे लेटा था और मैं कुर्सी पर इस तरह बैठा था कि आमने-सामने बात करने में दिक्कत न हो। पहले बोलने में तकलीफ हुई, फिर बातें करने लगा—पंद्रह साल में एक के बाद एक लंबी बीमारियाँ, उनसे लड़ते रहने की आदत, जिजीविषा, ग़ालिब, तोल्सतोय, पुराने दिन, सभी बीच-बीच में आते रहे। इस बार ठीक होते ही 'अभी दिल्ली दूर है' को आत्मकथा का रूप देना है, सारा खाका साफ है। सोचा है, भरसक बेबाक और बेलिहाज होकर लिखूँगा। हम दोनों ही नहीं जानते थे (या शायद जानते थे) कि इस आत्मकथा में सिर्फ पाँच दिन शेष हैं। बस्तर के पिछड़े इलाके से शुरू हुई यह आत्मकथा भोपाल होती हुई दिल्ली गेट के कब्रिस्तान तक आई थी...

"कभी-कभी रात गए ऐसा लगता है, तुम बहुत गहरी नींद में हो। अचानक चौंककर उठ बैठते हो। लगता है, किसी ने दस्तक दी है। तुम्हारा नाम लेकर पुकारा है, साफ-साफ ऐसे कि आवाज तक पहचानी हुई है। तुम लपककर दरवाज़ा खोलते हो, लेकिन देखते हो कि वहाँ कोई नहीं है। पहले भी कोई नहीं था। सिर्फ हवा थी ...लेकिन आखिर हुआ क्या ? एक दिन जगदलपुर से जिस ज़ोम में चले थे, उसकी परिणति क्या ऐसी होनी थी ?" लिखा था शानी ने अप्रैल 1988 में, 'अभी दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर है' की अंतिम किस्त में। हम सब जो अपने-अपने जगदलपुर छोड़कर किसी दिल्ली में आ बसे हैं—रात-बिरात ऐसी ही आवाजें सुनते हैं और एक दिन 'पकड़े' जाते हैं। विडंबना यह है कि जब वहाँ होते हैं, तो 'गुलबकावली' आँखों में झिलमिलाती है, कोहे-निदा से पुकारती आवाज एक पल चैन से नहीं बैठने देती और आखिर पहाड़ी घाटियों या चटखते रेगिस्तानों में ला पटकती है। इसी दिशाहीन भटकन को हम नाम दे लेते हैं दिल्ली...मगर हर यात्रा दिल्ली गेट से बाहर ही हज़ारों लोगों से आबाद किसी कब्रिस्तान तक ही तो है...पता नहीं, यह सवाल पूछने की फुर्सत मिल पाती है या नहीं, "इसकी परिणति क्या ऐसी होनी थी ?" कहाँ गई वह गुलबकावली...

मगर शानी की यह यात्रा गुलशेर खां से शानी और फिर गुलशेर खां शानी बन जाने की यात्रा है। यानी पहले वह मुसलमान था, फिर इस सांचे को तोड़कर लेखक बना; मगर धीरे-धीरे सिर्फ मुसलमान हिंदी लेखक बनकर रह गया। शुरू में शायद खुद उसने बनना चाहा था, मगर जब दूसरे उसे इस रूप में पहचानने लगे तो गुस्से से तिलमिलाता रहा। उसे सिर्फ 'लेखक शानी' कहा जाता तो वह आग्रह करता कि मेरा पूरा नाम गुलशेर खां है और जब उसका परिचय इस रूप में दिया जाता तो नाराज हो जाता "मैं सिर्फ लेखक शानी हूँ, बाकी से आपका कोई मतलब नहीं है। राजेंद्र, तुमने कथा-दशक में सिर्फ़ शानी नाम क्यों नहीं दिया ? मैं गुलशेर खां कब से हो गया ?" वह मेरी मेज़ के सामने बिफर रहा था। मुझे लगता है, उसकी सारी जिंदगी इन्हीं नामों-उपनामों से लड़ने, उनके नीचे छिप जाने, छटपटाने, उन्हें तोड़कर बाहर निकल आने या फिर इन्हीं की आड़ के पीछे हमला या पनाह लेने की ज़िंदगी रही है। कभी मैं उसका सबसे अच्छा दोस्त होता तो कभी सिर्फ 'हिप्पोक्रेट' हिंदुओं का प्रतिनिधि। "तुम अल्पसंख्यक होने की तकलीफ कभी नहीं समझ पाओगे ?" दर्द से उसने न जाने कितनी बार कहा होगा, "उनका डर, उनकी असुरक्षा-भावना, दहशत से उनका एक-दूसरे से चिपके रहना, हमेशा शक और संदेह की तेज रोशनियों के बीच घिरे होने का एहसास..." और दूसरे ही पल गुस्से से तड़पकर "मैं भी नहीं मानता कि मेरे पुरखे कहीं ईरान-तूरान से आए होंगे, वे वहाँ बस्तर के जंगलों में कहाँ ऐसी-तैसी कराने पहुँचते ? हो सकता है, वे हिंदू ही रहे हों। मगर तीन पीढ़ियों से मैं मुसलमान हूँ और वही बने रहना चाहता हूँ। यह मुल्क, यह जबान, यह राष्ट्र सिर्फ उनके बाप का नहीं, मेरा भी उतना ही है, जितना उन हरामज़ादों का। मैं उनकी शर्तों और कृपा पर यहाँ का नागरिक नहीं हूँ। क्यों ख़त्म कर दूँ मैं अपनी आइडेंटिटी... ? सिर्फ इसलिए कि मैं अल्पसंख्यक हूँ...मुझसे क्यों माँग की जाती है कि मैं हर बार अपने को वैसा साबित करूँ जो वे चाहते हैं ?" जानता तो मैं भी था कि यह छटपटाहट, उद्वेग, गुस्सा और आग किन जहरीली गरम हवाओं से उसकी रग-रग में घुस रही है, मगर उसका दार्शनिकीकरण करने की कोशिश करता, "शानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसे तुम बहुसंख्यक कह रहे हो, क्या सचमुच वह इतना इकहरा, संगठित और 'मोनेलिथिक' समाज है ? इसमें हम सब क्या अलग-अलग अल्पसंख्यक नहीं हैं ? कहीं धर्म के आधार पर, कहीं जाति के आधार पर, कहीं भाषा और क्षेत्रीयता के आधार पर—सभी तो एक-दूसरे के गले पर सवार हैं। फिर लेखक या पढ़ने-सोचने वाले तो शाश्वत अल्पसंख्यक हैं। हमेशा रहे हैं। बहुसंख्यकों के जाहिल समाज में अपने आपको छिपाते, स्थगित करते हम बहुरूपिये नहीं तो क्या हैं ?'' सुनकर चुप हो जाता, काँपती अँगुलियों से सिगरेट पीने की कोशिश करता। मगर मैं जानता था कि वह मुसलमान लेखकों और बुद्धिजीवियों से भी उतना ही नाराज था, ''सब साले झूठे, मक्कार, मौकापरस्त और डरपोक लोग हैं। गंगोजमुन और मुश्तर्का कल्चर की बातें करते हैं। वह सब क्यों नहीं कहते या लिखते जो आपस में करते हैं या अकेले में सोचते हैं।'' फिर अगले ही क्षण भावुक होकर विगलित हो जाता, ''कुछ कहो राजेन्द्र, आदमी साला न हिंदू होता है, न मुसलमान। वह सिर्फ आदमी होता है। अब यह डॉक्टर अखिल मिश्रा, क्या नहीं कर रहा है मेरे लिए ? मेरा उससे क्या परिचय ? क्यों जान झोंके हुए है भाई तू ? अरे, मरने दे साले एक मुसल्ले को। मगर नहीं, क्या-क्या इसने नहीं किया मेरे इलाज में। कदम चूमने को मन करता है। 'नहीं शानी जी, आपको कुछ नहीं होगा...' मैं तो यार, तुम्हीं लोगों के बीच पला-बढ़ा हूँ। मुझे तो पता ही नहीं कि इसके अलावा भी कुछ होता है। दम घुटता है उनके बीच, साले दाढ़ी और कुरान से बाहर ही नहीं निकल पाते...किसी भी 'इंट लेक्चुअल' बहस का तो सवाल ही नहीं है। अब बोलो, पड़े हैं सलमान रुश्दी की जान को...बताओ, जब सभी कुछ कुरान में लिखा है तो क्यों स्कूलों, कालेजों, लैबों और यूनिवर्सिटियों में ऐसी-तैसी करा रहे हो ? डालो भाड़ में...'' मगर अगले ही दिन पता लगता कि शानी जी मस्जिद में नमाज पढ़ने गए हैं, ''अल्ला में यकीन न हो, मगर कुछ कहो यार, अपनों के बीच हिम्मत तो बंधी रहती है।'' और वहाँ पता चलता है कि सजदे में झुके नमाज़ियों के बीच आप अकेले सीधे खड़े हैं और घबरा रहे हैं कि 'ये क्या जगह है दोस्तो, ये कौन-सा दयार है...' ('अभी दिल्ली दूर है')

शानी और गुलशेर खां के भयानक अंतर्विरोधों के बीच टक्करें मारते व्यक्ति की भीतरी यातना का नाम था शानी...एक सुलगता, सुरसुराता बम, जो कभी भी साहित्य की दुनिया में विस्फोट कर सकता था। मंदिर मार्ग, जंगपुरा, शेखसराय, मयूर विहार, 'अक्षर' की न जाने कितनी शामें हैं, जब तीन पैग के बाद खुद वह मुसलमान होकर हमें जनसंघी हिंदू बना डालता था और हम शुद्ध गेरुआ ज़बान बोलने लगते थे। पिछले दिनों तो मैं इन शामों से बचने लगा था। शराब के बाद अपने सबसे खूँखार रूप में मैंने या तो शानी को देखा है या निर्मल वर्मा को। उस समय हर उस लेखक को वे कोड़े लगाते हुए फाँसी चढ़ा सकते हैं, जो उन्हें किन्हीं कारणों से पसंद नहीं हैं ! अगर शानी ने अपनी आत्मकथा लिखी होती, तो मैं उसी के एक उपन्यास के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम पर नाम रखता, 'साँप और सीढ़ी'। उसकी जिंदगी को इससे अच्छा प्रतीक नहीं दिया जा सकता था। कभी पाँच नंबर के खाने में, तो कभी पन्चानवे के। मगर उसका और हमारा दुर्भाग्य कि वह खुद सिर्फ 'काला जल' होकर रह गया। जिसकी भीतरी तहों में केकड़े और केंचुए भी थे और कीमती पत्थर और चमकती सीपियाँ भी, सतह पर काहिया गुंजलक थे तो पुरइन के लहलहाते पत्ते और कमल के फूल भी। 'काला जल' एक समय और समाज का रूपक (मैटाफर) ही नहीं, शानी की अपनी ज़िदगी का रूपक भी है। व्यक्तिगत और सामाजिक, शायद इन्हीं दोनों के संयोग ने उसे हिंदी का अद्वितीय उपन्यास बना दिया है। पीछे छूटती दुनिया के एक-एक व्यक्ति के नाम फातिहा पढ़ने की टेक्नीक के अद्भुत इस्तेमाल के साथ शानी अपने छिलकों और काही को छुड़ा रहा है, अगली बड़ी यात्राओं के लिए। जब मैंने पांडुलिपि पढ़ी थी तो शिकायत की थी कि ताज़ियों का उसने वैसा सार्थक इस्तेमाल नहीं किया है, जैसा बाद में राही मासूम रजा ने 'आधा गाँव' में किया। निश्चय ही 'काला जल' मुस्लिम निम्न-मध्यवर्गीय समाज का अद्वितीय और अत्यंत प्रामाणिक दस्तावेज है। हिंदी के बेहद महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में से एक। मगर 'आधा गाँव' से उसकी तुलना सुनते ही शानी शोले की तरह भड़क उठता था। उसे राही की लफ्फाजी कभी पसंद नहीं आई। बाद में भी हिंदुओं के सुर में सुर मिलाकर उनके बोलने का वह हमेशा आलोचक रहा...'हम औरों की चिंता किए बिना, ईमानदार मुसलमान रहते हुए हिंदी के लेखक क्यों नहीं हो सकते ? राही के 'महाभारत' सीरियल पर उसने 'नवभारत टाइम्स' के अपने कॉलम 'इस बहाने' में लिखा भी। कभी मैं ने उसे बताया था कि बचपन में हिंदू-मुस्लिम पुराणों की कहानियाँ मैंने इंडियन प्रेस से छपी ज़हूर बख्श की किताबों से ही सीखी थीं, बाद में दोनों को बशीर अहमद 'मयूख' के माध्यम से जाना था तो तड़पकर उसने कहा था, "क्या हुआ ? उन्हीं बाबा ज़हूर बख्श की विशाल लाइब्रेरी और घर जबलपुर के दंगों में फूँक दिए गए थे।"

112174

उसे शिकायत ही यही थी कि हिंदी कथा-साहित्य में मुस्लिम चरित्र क्यों नहीं हैं ? जहाँ हैं, वहाँ या तो मज़दूर मिस्त्री हैं, अपराधी और वेश्याएँ हैं या फिर वफादार नौकर और जान देने वाले फिल्मी दोस्त...प्रेमचंद-यशपाल की वह परंपरा कहाँ चली गई ? यह जिम्मेदारी असगर वजाहत, आलमशाह खां, अब्दुल बिस्मिल्लाह, मंजूर इहतेशाम या नासिरा शर्मा पर ही क्यों छोड़ दी गई ? बंकिमचंद्र के आततायी अत्याचारी और देशद्रोही मुसलमानों की मिथ को रवीन्द्रनाथ ने 'काबुलीवाला' में क्या तोड़ा कि अफगानी पठान, कहानी और फिल्मों का वैसा ही स्टॉक चरित्र बन गया, जैसा सिखों के त्योहार के नाम पर भांगड़ा...। एक और बात से उसे भयानक चिढ़ थी; जैसे ही उसका पूरा नाम लेकर परिचय कराया जाता कि सामने वाले को फौरन ही अपने बचपन, गाँव या घर की याद हो आती कि कैसे वहाँ एक रफीक चाचा, मामा या भैया थे और वह उनके घर के साथ किस तरह घुल-मिल गए थे, थे तो धुनिया, रंगरेज,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्जी या ऐसे ही कुछ, मगर परिवार के एकदम सगे सदस्य की तरह थे। अगर जरा ऊँचे स्तर के हुए तो आपसी घरोपे का वर्णन...'हालाँकि उनके वर्तन अलग थे, मगर उन्होंने कभी इस बात का बुरा नहीं माना।' यह या ऐसा ही कोई वाक्य सुनकर शानी को पलीता लग जाता है "लानत है उन साहब पर, जो इतनी ज़िल्लत बर्दाश्त करके भी आपके पिता के दोस्त बने हुए थे।" हो सकता है, उसकी भीतरी कड़वाहट के पीछे ऐसे ही कुछ अपमानों का सिलसिला रहा हो। अगर मैं भूल नहीं करता तो अब्बा के दोस्त त्रिपाठी जी को चाय पेश किए जाने और धनंजय वर्मा के परिवार को लेकर 'गर्दिश के दिन' में कहीं हल्का-सा हवाला भी है, 'मेरी दिक्कत यह है, राजेन्द्र कि मैं संस्कार या चलता चला आया है, कहकर आँखें नहीं बंद कर पाता। काशीनाथ सिंह की माँ द्वारा मधुकर सिंह के जूठे वर्तनों को आग से शुद्ध करना मेरा खून खौला देता है। सब चलता है—कहकर मैं भी ऐसी बातों को टाल सकता था..." कभी-कभी शानी अपने घाव खोलता, "जब हम एक ही नाव के यात्री हैं तो इस आपसी भेदभाव का मतलब क्या है ? मैं आज़िज आ गया हूँ हिंदी लेखकों की इस हिप्पोक्रेसी से ...सब हरामजादे हिंदू हैं, क्यों जरूरी है हिंदी में लिखने के लिए हिंदू होना।"

'काला जल' शानी का कीर्ति-स्तंभ भी है और समाधि-लेख भी। हो सकता है उपन्यास ने बहुत नाम और पैसा कमाया हो, मगर यह भी सच है कि उसके बाद शानी ने कुछ भी वैसा नहीं लिखा। 'जहांपनाह जंगल' अपने खोते जाने की पीड़ा है, बोटी-बोटी खाने वाले जंगल के लहुआलूदा दाँत हैं और अपने होने की दयनीय तलाश है। "हममें से कोई भी मेजर राइटर नहीं बन पाया" वह कराहकर कहता और मुझे उसकी बात सच लगती। हमारी सारी पीढ़ी की ट्रेजेडी यही थी कि हमने ध्यान देने लायक एक-दो रचनाओं से अपने भीतर आत्मविश्वास और बाहर उम्मीदें तो बहुत जगा दीं, मगर फिर अपना वास्तविक लेखन स्थगित ही करते रहे। हमारी अच्छी से अच्छी रचनाएँ विश्व-साहित्य में कहाँ हैं ? या ऐसी भी कौन-सी रचना है जिसमें हमने अपने-आप को पूरी तरह उलीच और उंड़ेल दिया हो ?—सिर्फ खुद को समझाते रहे कि वह तो कभी आगे आएगी, जरा ज़िंदगी के संघर्षों से मुक्ति मिले, फुर्सत और सुविधा मिले तो बैठकर लिखें... और वह क्षण कभी नहीं आया। जब आया भी, तो हम अपने-आप से इतने दूर और अपरिचित हो चुके थे कि सारे गाड़े गए खज़ानों का सोना मिट्टी हो गया था। विस्फोट की प्रतीक्षा में हम सीले हुए पटाखे थे। हममें से कुछ लिखते जरूर रहे मगर वह सिर्फ पन्ने भरने का अभ्यास था—अंधों में एक आँख वाले की उपस्थिति। शायद ज़हर कहीं माहौल में ही था, जिसे हम अपनी-अपनी व्यक्तिगत कमजोरी समझ रहे थे। मूलतः हमारी नैतिक मान्यताएँ, प्रतिबद्धताएँ और प्राथमिकताएँ—सब बदल गई थीं। हम सती-साध्वी का अभिनय करने वाली वेश्याएँ थे। शानी भी हममें से ही एक था, अपने-आप को चींथता, भंभोड़ता और दूसरों पर गुर्राता-झपटता अपनी अक्षमता के लिए हर दूसरे कारण को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़िम्मेदार ठहराता।

मगर उसमें जगदलपुर के आदिवासी की जिजीविषा और पठान होने की आक्रामकता थी। अंतिम दिनों को छोड़कर वह शायद ही भीतर से कभी हारा हो—उस समय भी नहीं, जब नौकरी नहीं थी और शहनाज की शादी करनी थी, और उस समय भी नहीं जब गर्दन पर कंठ माल फूट आई थी, कैंसर घोषित कर दिया गया था, हर दूसरे-तीसरे दिन तोप की नली जैसी चीज़ में फिट करके कोबाल्ट रेज़ की थेरेपी चल रही थी। उन दिनों शानी को देखकर डर लगता था। वह चूज़े की तरह बेडौल हो गया था—सिर्फ हड्डियाँ, जिसकी भौहों के बाल तक जल चुके थे। फिर उस पर निमोनिया, हँसकर कहता, "मैं भी साला जैन साधु लगता हूँ।" उसे लंबी चलने वाली कई बीमारियाँ भुगतनी पड़ीं, भयानक हार्ट अटैक भी। हर बार मौत के किनारे छूकर लौटा। लगता था, एक जिद्दी योद्धा है जो हर बार जमीन पर लोट-पोटकर फिर उसी गुस्से और तेवर से उठ खड़ा होता है। उसे अच्छा खाने और मित्रों को दावतें देने का शौक था—कोरमा, बिरियानी, कबाब, गोश्त, शराब—क्या नहीं होता था हर रोज़ उसकी मेज़ पर। हो सकता है, शानी के नाम पर दिल्ली के कुछ मित्रों को उसके घर की हंगामी शामें और डोंगों से उठतीं खुशबुएँ ही याद आती हों। गरमजोशी और ज़िंदगी को उत्सव की तरह भोगने का उत्साह ही शानी का पर्याय था। मगर मैं पिछले दो-तीन सालों से इन शामों से बचने लगा था। जब हर खूबसूरत शाम किसी कड़वी बहस और आक्रामक मतभेदों में ही खत्म हो, तो कन्नी काटना ही बेहतर है। मलिक साहब के रोहतक रोड फ्लैट पर नए वर्ष की पार्टी में मुहम्मद असलम द्वारा पंकज बिष्ट के उपन्यास 'लेकिन दरवाजा' की तारीफ हो या 'अक्षर' में काजी अब्दुरसत्तार-साजिद के सामने औरतों के बारे में अपने को फ्यूडल सिद्ध किया जाना; मुद्‌गल के घर किसी वैज्ञानिक का साहित्य पर बात करना हो या राजेन्द्र माथुर के यहाँ प्रभास जोशी से भाषा की बहस हो—अच्छी खासी रंगीन शामों को यज्ञ-ध्वंस के भाव से बर्बाद किए जाते देखकर मुझे उसके साथ फूँक-फूँककर बोलना होता था। पता नहीं, कहाँ-कहाँ का गुबार उस समय फूटता था—खिलाने-पिलाने की फराखदिली के बावजूद आत्मीय बैठकों को युद्ध-स्थितियों में बदल देना इधर बढ़ गया था। लगता, वह हमेशा अपने को याद दिलाता रहता था कि पठान का दिल ही बड़ा नहीं होता, वह गलत-सही की चिंता किए बिना अपना सिर भी कटा सकता है, काट भी सकता है। भोपाल-दिल्ली के अनेक दोस्तों के 'सिर काटकर' उनमें भुस भरे बैठा था वह, जिसमें एक सिर दुष्यंत कुमार का भी था, कभी उसका सबसे प्यारा दोस्त।

छोटी या पिछड़ी जगह का होने की कचोट या बी.ए. के आगे न पढ़ पाने के मलाल ने एक ऐसी आक्रामक ज़िद उसके अंदर पैदा कर दी थी कि हमेशा औरों से अलग या योग्य सिद्ध करने की साधना उसकी सबसे बड़ी ताकत बन गई थी। लिखा चाहे उसने बहुत न हो, लेकिन पढ़ा भयानक था—खास तौर पर उर्दू शायरी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूसी क्लासिक्स और अमेरिकन नीग्रो साहित्य। कम्बख़्त की याद्दाश्त भी गज़ब की थी। गालिब और मीर तो साँस-साँस में बसे थे। वह प्रभावी वार्तालापकर्ता और नाटकीय उतार-चढ़ाव के साथ जादू पैदा करने वाला शख़्स था—सैकड़ों शेर, कविताएँ, प्रसंग सहज ही बातों में आते चले जाते थे। 'नवभारत टाइम्स' का 'किसी बहाने' कॉलम उसके अध्ययन और याद्दाश्त के लिए ही नहीं, खूबसूरत ज़बान के लिए भी हमेशा याद किया जाएगा। हालाँकि इधर उर्दू मुहावरा कुछ ज़्यादा ही आने लगा था, मगर अद्भुत भाषा का धनी था शानी। एक-एक शब्द और अभिव्यक्ति पर किसी सिद्ध शायर की तरह मेहनत करने वाला। इतना जानदार और शानदार गद्य लिखने वाले हिंदी में दो-चार से अधिक नहीं हैं। शायद यह उसने अज्ञेय के सान्निध्य में और अधिक मांजा था। यूँ अपनी भाषा के लिए वह पहले भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। हाँ, पहले उसकी भाषा अनुभवों की बारीकियाँ व्यक्त करती थी, अब विचार की ऊर्जा और धार को सान देने लगी थी। भाषा को उसने उसी तरह साधा था, जैसे एडवर्ड जे के संपर्क में अंग्रेजी बोलने को। अशुद्ध भाषा या गलत उच्चारण उसे भद्दी गाली की तरह भड़का देने के लिए काफी थे। वैसे, उसके निजी सौंदर्य-बोध को भड़काने के लिए किसी खास बहाने की ज़रूरत नहीं थी—"आपका नाम साला झक्कू लाल है, आप क्या साहित्य-वाहित्य लिखेंगे ? पहले सही नाम रखकर आइए..."

गुस्सा और आवेश उसके स्थायी भाव, उद्दाम-संवेग संचारी भाव थे। शायद अपने शुरुआती दिनों में उसने इतने अफसरों को भुगता था कि पहला मौका मिलते ही वह उनसे ज्यादा बीहड़ अफसर बन बैठता था। चाहे वह भोपाल की साहित्य कला परिषद हो या 'साहित्य अकादमी' में 'भारतीय साहित्य' की संपादकी, वह ठीक उसी प्रोन्नत (प्रमोटी) आई.ए.एस. अफसर का चोला ओढ़ लेता था, जिसकी नकल जिंदगी भर विष्णु खरे और धर्मवीर भारती करते रहे। न जाने कितने नए-पुराने लेखकों को नाराज किया था शानी ने। जो मूड और मन के अनुरूप नहीं है वह क्यों वहाँ है, अभी तक उसे दरिया में ग़र्क क्यों नहीं किया गया। घर हो या बाहर, असहमति और आलोचना उससे सहन नहीं होती थी। वैसे, इतना इम्पल्सिव (तुनुकमिज़ाज) भी नहीं था कि आगा-पीछा सब भूल जाए। कभी-कभी उसके गुस्से में गणित भी होता था। इतनी व्यवहारकुशलता भी थी कि कौन कितना ऊँचा या उपयोगी है, उसे कहाँ और कैसे साधा या बाँधा जा सकता है। शायद यही कारण है कि उससे 'पीड़ित' और उसके मददगारों के दो अलग वर्ग हैं। ऐसे मौकों पर कब वह अपने मुसलमान होने को तर्क या तलवार की तरह इस्तेमाल करने लगेगा, बताना मुश्किल है। हो सकता है, इसके पीछे यह आत्मविश्वास भी हो कि वह जब चाहे, लोगों को अपनी तरह ढाल सकता है। शायद भीतरी भय और चौकन्नापन ही था, जो हर गाँव वाला बड़े शहर में आकर महसूस करता है कि पता नहीं, कौन कब उसकी गठरी लेकर चलता बने। फिर वह धीरे-धीरे इसी भोलेपन और मासूमियत को रणनीति की तरह इस्तेमाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना सीख जाता है—अजित कुमार, विश्वनाथ त्रिपाठी से लेकर नामवर, केदारनाथ सिंह तक इस कला के महारथी हैं। पचास साल से दिल्ली में रहते हुए भी वे कब गाँव वाले और कब शहरी हो जाते हैं, इसे देवता भी नहीं जान सकते, तो हम मनुष्यों की क्या बिसात।

"अरे यार, तुम तो हम जैसे ही हो, कहते थे कि आदिवासी पिछड़े इलाके से आए हो।" कोट, पैंट टाई पहने शानी को ऊपर से नीचे तक ग़ौर से देखकर मैंने कहा था 58 या 59 में। धनंजय वर्मा और शानी भोपाल से अपनी 'साहित्यिक यात्रा' पर मेरे घर आगरा आए थे। ठहाका लगाकर बोला, "तो क्या आप समझते हैं कि मैं आदिवासियों के तीर-कमान, मुकुट-कुंडल लगाए नंगे बदन आऊँगा और बीच में झम्म से भाला ठोककर कहूँगा कि मैं शानी हूँ..." हम दोनों एक-दूसरे की रचनाओं के भयानक प्रशंसक थे। उसे मेरी कहानियों के न जाने कितने स्थल याद थे, जिन्होंने उसे प्रभावित किया था। उसे बुखार भी था, तो हम लोग रात-रात भर अपने समकालीनों की रचनाओं पर बातें करते रहे थे। बेहद जिंदादिल और लिखने की योजनाओं से भरा हुआ। जाहिर है कि उसके मुसलमान होने की बात ने चौंकाया ही था और मुझे भी पिताजी के दोस्त अमीन साहब या अनवर चाचा की याद आई जिनके हम बाकायदा पैर छूते थे, मगर था तो जमाना अलग बर्तनों वाला ही, दोनों के जाने के बाद मैंने बाई (माँ) को डरते-डरते बताया तो सहज ढंग से बोलीं, "हमें क्या, कोई हो, आदमी तो अच्छा था।" इसके बाद तो हम लोगों की ज़िंदगियाँ इस तरह जुड़ गईं कि दिल्ली के प्रारंभिक दस साल लगभग एक ही परिवार की तरह रहे। 'काला जल' का ('आधा गाँव' का भी) प्रथम प्रकाशन 'अक्षर' से हुआ, नेशलन प्रकाशन वाले संस्करण में मैंने उसकी भूमिका भी लिखी। 'साक्षात्कार' का विमोचन उसने मुझसे ही कराया और भोपाल के सांप्रदायिक माहौल से निकलकर दिल्ली आने की योजना हमने साथ ही बनाई—निलंबन और प्रताड़ना के इस दौर में वह इतना हताश और टूटा हुआ व्यक्ति था कि जब मैंने टी.टी. नगर के उस छोटे-से घर में उसे 'नवभारत टाइम्स' के फीचर संपादक का नियुक्ति-पत्र दिया तो लगभग अविश्वास से वह बौखला उठा था। दिल्ली आकर वह पहले एकाध महीने ख्वाजा बदीउज़्जमा के साथ रुका। हम लोग साथ ही मकान तलाश करने भटकते थे। वह मेरे लिए भी धक्के के क्षण होते थे। जब 'अगले हफ्ते में आ जाइए' कहने वाला मकान-मालिक पूरा नाम सुनते ही बताता था कि फ्लैट के लिए तो वह पहले ही अपने किसी रिश्तेदार को वचन दे चुका है। शानी तकलीफ से कहता था, 'मैं ग्वालियर में साफ-सुथरी जगह रहना चाहता था, बच्चों को अच्छा वातावरण देना चाहता था। मगर इसी सब की वजह से मुझे मस्जिद के पास उस बजबजाती गली में रहना पड़ा, जहाँ टाट के फटे पर्दे थे, सूअर-कुत्ते लोट लगाते थे और हर वक्त मुर्गियाँ कैं-कैं करती घूमती थीं।' पहले मकान मिले मंदिर मार्ग, जंगपुरा, शेखसराय और फिर मयूर विहार में। दस सालों का वह अजीब माहौल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था—शायद ही कोई दिन जाता हो, जब हम न मिलते हों—कभी 'अक्षर', तो कभी रोहतक रोड, कभी शानी के घर, तो कभी शक्तिनगर...मैं, मलिक साहब और साजिद ...नवभारत टाइम्स की लड़ाइयाँ, एमर्जेंसी के बाद जनता-राज...वात्स्यायन जी की मदद से साहित्य अकादमी की नौकरी—जहाँ मैं सिर्फ डॉक्टर केलकर और बाद में इंद्रनाथ चौधरी को साधने का एक माध्यम था। जिंदगी और साहित्य की कौन-सी ऐसी बखिया थी जो हमने नहीं उधेड़ी...वे दस साल लगभग एक सपनीले घरेलू उत्सव की तरह ही बीते। उन्हीं आत्मीय मस्तियों की उपज थी फिल्म 'शौकीन', जिसे शानी ने लिखा और बासु चटर्जी ने बनाया था। फिर, भारतीय राजनीति पर 'राष्ट्रीय संस्कृति' के गेरुए गिद्ध मँडराने लगे और हमारे बीच की बौद्धिक-साहित्यिक बहसें अनिवार्यतः असहमतियों, मतभेदों और कटुताओं पर आकर टूटने लगीं। मेरठ, मलियाना, मुरादाबाद, सूरत के दंगे, अयोध्या और बाबरी मस्जिद, आडवानी की रथयात्राएँ हम सबको दहला रही थीं। व्यक्तिगत कुछ भी नहीं था, मगर हम 'शानी' और 'राजेंद्र' नहीं रह गए थे, बदल रहे थे। 'तुम हिंदू' और 'हम मुसलमान' में हालाँकि 'हंस' की एक-एक पंक्ति इसी अविश्वास या व्यक्तिगत को कुचलकर जातियों और संप्रदायों में बदले जाने के खिलाफ थी, मगर उस कराह को मैं भी अनसुना नहीं कर पाता था जिसे कभी-कभी शानी फोन पर वाणी देता था "क्या हो गया है राजेन्द्र हमारे बीच...किसी दिन मेरे बारे में भी सुनोगे कि जमशेदपुर के ज़की अनवर की तरह हलाक कर दिए गए।" मुझे वह उन दिनों उस बिल्ली की तरह लगने लगा था जो अपने बच्चों को पेट के नीचे छिपाए हर बाहरी खतरे के प्रति भयभीत, चुप चौकन्नी और आक्रामक हो उठती है। बाहरी गरम हवाएँ हमें भीतर-भीतर झुलसा रही थीं। जिस दबाव, अधिकार से उसने मुझसे 'साक्षात्कार', 'नवभारत टाइम्स' और 'समकालीन भारतीय साहित्य' में लिखवाया था, उसी से मैंने 'दिल्ली दूर है' की किस्तें निचोड़ी थीं। मगर मूलतः उसका वह मानसिक 'फ़ेज' हावी को चुका था जब परास्त और हारा हुआ आदमी स्वीकार करने लगता है कि "क्या होगा ये सब लिखने-पढ़ने से। हमें यह कहीं नहीं ले जाता। हर क्षण मैं मन में कुछ न कुछ लिखता हूँ। फिर झटके से सब मिटा देता हूँ..."पता नहीं, पहले शारीरिक रूप से या पहले मानसिक रूप से—वह सब जो व्यवस्थित, इंटिग्रेटेड और एकाग्र था, धीरे-धीरे बिखरने और विखंडित होने लगा था। शरीर और मन से बार-बार टूटते और फिर उस सबको समेटकर उठने की कोशिश करने की जिजीविषा का ही नाम था शानी...तनाव और आवेश (टेन्स और इन्टेन्स) में हमेशा बने रहने की विवशता ने ही शायद उसे थका डाला था मगर इसके बिना उसके व्यक्तित्व की कल्पना करना भी मुश्किल है।

नाटकीयता और गरमजोशी उसके स्वभाव के वे हिस्से थे जिनके बिना उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। आप बैठे काम कर रहे हैं कि हाथ को मशीन-गन की तरह आगे बढ़ाते हुए शानी गंभीर भाव से कमरे में प्रवेश करते हैं, झटके से आपका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ पकड़कर लिपट जाते हैं—"ऐश कर रहे हो राजेन्द्र तुम भी, ख़ुदा की क़सम, ऐश कर रहे हो...कहता है, दिया है ख़ल्क को भी कि वां नज़र न लगे...लिखा है ऐश तजम्मुल हुसैन खां के लिए...गालिब भी साला इसी तरह कुढ़ता होगा तजम्मुल हुसैन खां से..." और फिर ज़ोरदार ठहाके...बेहद प्रभावशाली वार्तालापकर्ता था शानी—हाव-भाव, आवाज़ के उतार-चढ़ाव सभी से बोलता था। दूसरों में भुस भरने और अपने-आप का मज़ाक उड़ाना उसके प्रिय शग़ल थे। संगीत और कविता के पीछे पागल...लाचारी का नाटक करते हुए खाने पर दूसरों से कहता, "लीजिए, ये हैं साहब राजेन्द्र यादव। सलमा ने इतना अच्छा गोश्त पकाया है और आप दो बोटियाँ लेकर शोरबा खा रहे हैं..." मैं जवाब देता, "शानी, मैं सभ्य और सुसंस्कृत आदमी हूँ। तुम्हारी तरह आदि मानव नहीं हूँ।" "सो कैसे ?" नाटक चलता, "देखो, गोश्त तो पाँच हजार साल पहले भी ऐसा ही था—हमारी सारी सभ्यता-संस्कृति का विकास इन मसालों और शोरबे का ही विकास है..." ठहाके के बीच कहता। "तो फिर खाइए अपनी संस्कृति..." कभी रात को ग्यारह बजे फ़ोन बजता। उधर जनाना अमेरिकन आवाज़ में कोई मेरा नाम पूछता। मैं आपके उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' पर रिसर्च कर रही हूँ...परसों जा रही हूँ। आपसे कहाँ इत्मीनान से मिल सकती हूँ, 'अक्षर' सुनकर वह कुछ कहती कि झटके से फोन लेकर शानी साहब बोलते, "हाँ-हाँ, बुला लो साली को कहीं अकेले में...राजेन्द्र यार, तुम भी नंबरी हो..." अक्सर ही आवाज़ें बदल कर खुद या दूसरों से वक्त-बेवक़्त फ़ोन कराते रहना उसका प्रिय खेल था...चाहे बात पप्पू की हो कि साहबज़ादे आजकल इश्क़ फरमा रहे हैं या सूफ़िया की शादी की ...तान हमेशा इसी बात पर टूटती, "राजेन्द्र यार, ख़ुदा की क़सम, बहुत ऐश कर रहे हो..." मैं जवाब देता, "तुम तो अंगारों पर लोट रहे हो न..." "अच्छा, तुम्हारे यहाँ उसे अंगारा कहते हैं ?" और ज़ोरदार कहकहे।...शानी मूलतः मैं और तुम वाले दो आदमियों के मिलने को ही वास्तविक मिलना मानता था—ज़्यादा लोग या तो उसे उखाड़ देते थे या गुम कर देते थे। हाँ, गोष्ठियों, महफ़िलों में चहकना भी उसके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष था, बशर्ते वही सब पर छाया रहे। एक बार हम तीन-चार लोग शेखसराय में खाने-पीने जमा हुए थे। बासु भट्टाचार्य भी था। बासु हो तो फिर किसी के बोलने की ज़रूरत नहीं है। दो-तीन घंटे बाद शानी भड़क गया : "साले तुम ही तुम बोलते रहोगे। हम क्या बेवकूफ हैं..." और फिर जो हंगामा हुआ...शायद इसके पीछे यह भावना रही हो कि एक फिल्मवाला, सारे साहित्यिकों को एक शब्द न बोलने दे...साहित्य की अप्रासंगिकता और साहित्यिक होने का दंभ दोनों उसके भीतर शक्ति और कुंठा दोनों थे...पहले फार्स्टर के 'पैसेज टु इंडिया' के अजीज़ में अपने को देखता था, फिर क्रिश्चियन दुनिया में यहूदियों की जिंदगी और यातना के अद्वितीय चितेरे सिंगर का भक्त हो गया। मैं छेड़ता, "सिंगर साला तुम्हें इसलिए पसंद है कि तुम्हारी तरह ही हरामी था। है 'एनिमीज़' जैसा उपन्यास लिखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का गुर्दा...?" "लिखूँगा राजेन्द्र, लिखूँगा, ज़िंदगी मिली तो वह लिखूँगा, जो तुममें से कोई लिखने की हिम्मत नहीं कर सकता...खुदा की कसम..."

बात अधूरी रह जाएगी, अगर हर क्षण बदलते मौसम में शांत और धीर-गंभीर धरती की तरह आश्वस्त सलमा भाभी का जिक्र न किया जाए। न कभी बोलतीं, न विचलित होतीं। दिन-भर में दो-चार वाक्य बोलकर कोई कैसे रह सकता है, इससे मुझे हमेशा बेचैनी और झुँझलाहट होती थी। सब समझतीं और सोखतीं सलमा भाभी श्रद्धा और डर—एक साथ पैदा करती थीं। शानी के सभी मित्रों-परिचितों के बारे में उनकी 'रीडिंग' अद्भुत थी। शानी जैसे शौकीन, फ्यूडल और तूफानी आदमी के साथ शांत, स्थिर और संतुलित बने रहना मुझे चकित-विस्मित ही करता था। अभी विजय मोहन सिंह ने जिस आत्मीयता से उनकी अ-बोली ऊष्मा, पाक-कौशल और मौन उपस्थिति को याद किया है, उस सबका हिस्सेदार बरसों मैं भी रहा हूँ। वे सचमुच बस्तर के स्वास्थ्य, साहस और सहजता की प्रतिमूर्ति हैं। जिस भारतीय नारी की गरिमा हम दिन-रात सुनते बड़े हुए हैं, उसकी एक झलक सलमा भाभी में भी मुझे दिखाई देती थी। याद है, होली के दिन सुकुमार चटर्जी के यहाँ मस्ती से खाने-पीने के बाद धींगामुश्ती के साथ एक-दूसरे को गुलाल लगाने के दौरान जब उन्होंने अचानक झुककर मलिक साहब के चरण छुए तो मुझे लगा कि उनका नाम सीता भी हो सकता था। मगर यह सब कहने की हिम्मत कभी नहीं हुई, भड़ककर शानी कहता, "इन मुसलमान हरिजन पर कोटिन हिंदू वारिए वाली सरपरस्ती, दया और कृपाशील उदारता दिखाकर अपमान करने का आपको कोई हक नहीं हैं...हम जैसे हैं, हैं और न हमें ईरान जाना है, न पाकिस्तान..."

अगर शानी न होता तो हम आत्ममुग्धों, संस्कृति-धर्म की स्वघोषित इकहरी महानताओं के शंखों-घोंघों में कैद जगद्गुरुओं को झकझोर कर कौन दिखाता कि बहुसंख्यकों के बीच अकेले और असुरक्षित होना क्या होता है। क्या होता है पाकिस्तान, बंगलादेश और कुवैत में हिंदू होकर रहना। तस्लीमा नसरीन की मानवीय पक्षधरता के सामने हमारी अहंकारी धार्मिक 'सावार ऊपर मानुष' की किताबी चीत्कार कितनी बौनी और टुच्ची है। और अगर शानी न होता तो अफ्रीकी, नीग्रो संघर्षों के पक्ष में आठ-आठ आँसू बहाने वाले हिंदी बुद्धिजीवियों की आँखों में उँगली डालकर जेम्स बॉल्डविन, रिचर्ड राइट या अलैक्स हेले की काली आवाज में कौन यह बताता कि "इस मुल्क या भाषा में जो भी श्रेष्ठ और गर्व करने लायक है, उसे बनाने, सँवारने में हमारा भी खून-पसीना बहा है...न हम दूसरे दर्जे के नागरिक हैं, न अलग नस्ल..." हो सकता है, शानी कुछ ज़्यादा ही 'लाउड' हो, मगर वह 'फ़ेक' तो नहीं ही था...हाँ, जटिल और क्लिष्ट जरूर था, जो इन अस्वाभाविक स्थितियों में हर कोई हो जाता है...

'हंस', मार्च 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंद गली का आखिरी मकान

25 दिसंबर धर्मवीर भारती का उसी तरह जन्म-दिवस है जिस तरह नामवर सिंह का एक मई। एक ईसा का जन्म-दिन है, दूसरा मजदूर दिवस। ज़ाहिर है वास्तविक दिन कोई और रहे होंगे, निराला के सरस्वती-दिवस यानी बसंत-पंचमी की तरह। वास्तविक दिन अगर मालूम न हो तो इन्हें ही जन्म दिन मान लेने में हर्ज भी क्या है ?...जब जिसका मानसिक जन्म हो, उसी दिन से दुनिया का प्रारंभ...हिंदी में 'देवशिशु' का उपयोग भले ही अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' के भुवन में किया हो, मगर आत्मसात उसे भारती ने ही किया–खुद अपनी सलीब ढोते ईशु तक...वे आत्मस्थ भाव में अपने शत्रुओं को यही कहकर क्षमा करते रहे कि "ईश्वर, उन्हें क्षमा करना, क्योंकि वे नहीं जानते, वे क्या कर रहे हैं।" भारती ही क्यों, शायद वह युग ही ऐसा था, जहाँ हम सब अज्ञातवास भोगते निर्वासित राजकुमार थे, जिन्हें एक निश्चित अवधि के बाद सिंहासन मिलने थे। जब भी कोई राजकुमार 'पकड़' या पहचान लिया जाता था तो दूसरे मन ही मन हँसते थे, "देखो मूर्खों को, बहुरूपिए को राजकुमार समझ रहे हैं, इन्हें पता ही नहीं कि असली राजकुमार कौन है ?"

इधर बहुत दिनों बाद भारती 'बाहर' आए हैं। (ईशु को दुबारा आना ही था)। दूसरे 25 दिसंबरी धीरेंद्र अस्थाना को उन्होंने अपने वनवास-काल की कुछ बातें 'जनसत्ता' और 'सबरंग' में बताई हैं–वही दिसंबर'94 के अंतिम अंकों में। संदर्भ बिड़ला फाउंडेशन का 'व्यास सम्मान' है, चूँकि यह 'पुनरागमन' पुरस्कारों और सम्मानों के ही माध्यम से हुआ है। इसलिए जलकुक्कड़ों को जवाब भी देने ही थे। 'जनसत्ता' में धीरेन्द्र ने दो-तीन दिलचस्प सवाल भी पूछे हैं : नियोगी हत्याकांड के प्रमुख अभियुक्त और शराब माफिया केडिया का पुरस्कार लेते हुए आपको कैसा लगा ? दूसरा था, "राजेन्द्र यादव को आपसे क्यों शिकायतें हैं ?" पहले प्रश्न का उत्तर था कि पुरस्कार उन्होंने तभी लिया, जब सुप्रीम कोर्ट नें केडिया को निरपराध घोषित कर दिया। दूसरे सवाल का जवाब तो सीधा ही था–ईर्ष्या, द्वेष, कुंठा। अपने सबसे अच्छे दोस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमलेश्वर से भी राजेन्द्र की दोस्ती कहाँ चल पाई ? या मोहन राकेश से भी संबंध कहाँ रहे ?

मैं तभी से सोच रहा हूँ कि कुछ तकल्लुफी छेड़-छाड़, जानदार पत्राचार या कुशल-क्षेम के बावजूद सचमुच भारती से मेरे नक्षत्र क्यों नहीं मिल पाए ? लगभग 45 साल हम लोग सहयात्री रहे हैं, फिर भी दोनों तरफ से वह निकटता क्यों महसूस नहीं हुई जो मोहन राकेश, गिरिराज, कमलेश्वर, दुष्यंत, सत्येन्द्र शरत के साथ समय-समय पर रही। बहुत ज़्यादा न मिल पाने के बावजूद सुरेन्द्र वर्मा, अरुण कौल और बासु चटर्जी के साथ रही। मगर फिर भारती की ही किससे रही ? कहाँ गई वह चौकड़ी– रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश, रघुवंश, लक्ष्मीकांत, केशव...जगदीश गुप्त का तो भारती पर लेख ही 'हंस' में आ चुका है। हो सकता है कि कुछ मित्र, मेरे या स्वयं उनके कारणों से आज दूर चले गए हों, मगर यह गर्व तो सिर्फ मेरे ही पास है, जो न भारती के पास है, न कमलेश्वर के कि बिना किसी साधन, स्रोत, संरक्षण और सरपरस्ती के सिर्फ कुछ मित्र ही तो हैं कि 'हंस' दस वर्षों से निकलता आ रहा है–स्वतंत्र, निर्भीक और समझौते किए बग़ैर...वरना क्या मैं और क्या मेरा वजूद...

मगर नहीं, इस बचाव से काम नहीं चलेगा, बात कुछ ज़्यादा दूर और गहराई तक जाती है। सच है कि मेरे मन में भारती को लेकर ईर्ष्या भी रही है, द्वेष भी–कुंठा और आक्रोश भी। संत और अनासक्त होने का दंभ मुझे कभी नहीं रहा। सच यह भी है कि इलाहाबाद में एक बार छोड़कर भारती ने कभी मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं किया कि मैं गाँठ बाँधकर बैठा रहूँ। बल्कि संपादक की तरह अतिरिक्त प्यार और सम्मान ही दिया। सहज शायद उन्हें लेकर मैं ही नहीं हो पाया। मुझे हमेशा लगता रहा कि भारती ने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मूल रूप से मेरे भीतर उन्हें लेकर न ईर्ष्या है, न द्वेष, शायद कुंठा भी नहीं–सिर्फ एक गुस्सा है। यह गुस्सा नामवर को लेकर भी है। इसकी परतें धीरे-धीरे मोटी हुई हैं।

कह सकता हूँ कि मैंने भारती की लिखी एक-एक पंक्ति पढ़ी है–वे लंबे-लंबे निजी पत्र भी, जो वे इलाहाबाद के दिनों में 'कहीं' लिखा करते थे और हफ्ते-भर के अंदर वे मेरे पास कलकत्ता पहुँच जाते थे। संकोच मुझे यह कहने में भी नहीं है कि शुरू से ही मैं उनकी भाषा-शैली और प्रारंभिक ऊर्जा का भयानक प्रशंसक रहा हूँ। न जाने कितनी बार पढ़े होंगे मैंने 'गुनाहों का देवता', 'ठंडा लोहा', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'सात गीत वर्ष' या बाद में 'कुनप्रिया' और 'अंधायुग'...देह, मन और आत्मा का मुक्त स्वीकार उनकी रचनाओं को अजीब मांसल जीवंतता देता था। हालाँकि तब भी इलाहाबादी कवि यही कहते थे कि अंचल, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा में, फ़िराक और साहिर लुधियानवी मिलाने से भारती की कविता बनती है। कुछ इनमें बोदलेयर (गुनाहों के फूल) और ऑस्कर वाइल्ड को भी मिलाने की सलाह देते। बहरहाल, सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलाकर भारती की देहगंधी कविताएँ, पौराणिक मिथकों का उपयोग, अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की परछाइयाँ, निजी अनुभूतियों की चित्रात्मकता, युवा-स्वप्नों के विंब—मुझे निहायत अपने लगते—लगभग अद्वितीय। ये वे कविताएँ थीं, जहाँ दूसरा पक्ष भी साक्षात् उपस्थित था—न उसका वायवीकरण किया गया था, न रहस्यीकरण। ये प्रेमिका के साथ उसे सीधे संबोधित कविताएँ थीं—युवा होते किशोर मन के बदलते, सघन मौसम थे। इन कविताओं को पाने के लिए अपने से अलग किसी और लोक में जाने की जरूरत नहीं थी- -वे अपने आस-पास, निहायत अपनी भाषा की मध्यवर्गीय अभिव्यक्तियाँ थीं। यहाँ फीरोज़ी होंठों को चूमा जा सकता था, प्रेमिका के उजले पाँवों को गोद में लेकर सहलाया जा सकता था और जाते हुए डोले की छाया को दोपहरी की अमराइयों में देवदास बनकर देखा जा सकता था। हालाँकि को लेकर वह कविता नेहरू भी थी जहाँ अपने कोट में दरबारी फूल लगाने के लिए नेता दूसरी पाली में जा मिलता है...

और फिर संयोग देखिए कि भारती 'धर्मयुग' के संपादक के रूप में चुन लिये गए। सारा हिंदी साहित्य स्तब्ध, शॉक्ड और शंकित कि रोमानी कविताएँ लिखना या शीत-युद्धीय नेतागिरी करना एक बात है, 'धर्मयुग' जैसे पत्र को संभालना दूसरी बात। हालाँकि कलकत्ता में रहने के कारण मुझे लगभग हर स्थिति की जानकारी थी। श्री लक्ष्मीचंद्र जैन बड़े भाई भी थे और परिवारी भी। इलाहाबाद छूट गया और नायक बंबई चला गया। व्यक्तिगत स्तर पर इलाहाबाद में जैसा वातावरण हो गया था, उससे भारती को मुक्ति ही मिली थी। फिर देखते-देखते भारती ने 'धर्मयुग' को हिंदी का ही नहीं, भारत का सर्वश्रेष्ठ साप्ताहिक बना डाला। अब वे पूरे देश के नायक थे। लगभग पंद्रह साल घर-घर में 'धर्मयुग' का डंका बजता था। जो 'धर्मयुग' नहीं पढ़ता था, वह न तो साहित्यकार था, न पढ़ा-लिखा। उस समय भारती के रुतबे का क्या कहना...

कभी-कभी यह देखकर आश्चर्य होता है कि जेनुइन क्षणों में रचना के बहाने हम अपना आत्म ही नहीं लिखते, नियति भी निर्धारित करते हैं; कनुप्रिया, यानी राधा को छोड़कर कृष्ण बड़े युद्धों में चले गए और राकेश के कालिदास, विक्रमादित्य के मंत्रिमंडल में, पहले उज्जयिनी, फिर काश्मीर—दोनों पीछे छोड़ गए व्यथा और वेदना की कहानियाँ लिखे जाने के लिए कोरे पन्ने; मूलतः लौटा उन दोनों में से कोई नहीं। भारती से साहित्य छूट ही गया। बंबई की दुनिया दूसरी थी—शक्ति, सत्ता और वैभव की। भारती को यहाँ पत्रकारिता की चुनौतियों का ही सामना नहीं करना था, अब साहित्य का दिमाग भी ठीक करना था जिसने इलाहाबाद में रहते, टुच्चे ईर्ष्या-द्वेष के चलते उन्हें, उनका 'ड्यू' नहीं दिया था। वे हिंदी-साहित्य के एकछत्र नेता थे। कहना चाहिए, यह वह युग था, जब एक तरफ हिंदी के सारे विश्वविद्यालय और सरकारी क्षेत्रों में डॉ. नगेन्द्र की तूती बोलती थी तो दूसरी तरफ पूरे साहित्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग्य-निर्धारक थे भारती...डॉ. नगेन्द्र बड़बोले भी थे और बदज़बान भी—किसी भी असहमति, विरोध या दूसरा मत रखने वालों के लिए उनके पास एक ही भाषा थी—"कुचलकर रख दूँगा, भूखा मार दूँगा, कहीं का नहीं रखूँगा..." भारत में या बाहर भी हिंदी की नौकरियाँ देना-दिलाना चाहे डॉ. नगेन्द्र की तरह भारती के हाथ में न रहा हो, मगर साहित्यकार बनना-बनाना तो उन्हीं की कृपा पर था। उनके हथियार ज़्यादा बारीक और वार ज़्यादा मारक थे। एक के बाद एक विरोधियों या प्रगतिशीलों का, सफेद झंडे उठाए उनकी शरण में आना उन्हें विश्वविजेता नेपोलियन का 'संतोष' देता था। वे पोप के भाव में उनका कल्याण करते थे। अमरनाथ झा आई.सी.एस. नहीं बन पाए—उनकी इस ख़लिश या खुंदक के बहुत सजीव संस्मरण दिए हैं जगदीशचंद्र माथुर ने, कि वाइस-चांसलर बनने पर किस तरह वे अपने बड़े ऑफिस में एक ही ऊँची कुर्सी रखे बैठे सिगार पीते रहते थे। लकदक झब्बे-वर्दीधारी चपरासी चिटें लाकर रखता जाता और वे अपने आई.सी.एस. या बाद में आई.ए.एस. विद्यार्थियों को मूड या समय के अनुसार कृपापूर्वक 'दर्शन' देते थे—सामने वाले को मेज़ के पार नीची कुर्सी पर बैठाकर। भारती के लिए भी सैडिस्ट उल्लास के क्षण वही होते थे, जब अपने को तीसमार खाँ लगाने वालों को वह दो-दो घंटे दफ्तर के बाहर इंतजार कराते और फिर व्यस्त भाव से बिना मिले सामने से निकल जाते। दफ्तर के अपने ही लोग मिलने के लिए दो-दो दिन साँस रोककर प्रतीक्षा करते। उस माहौल को समझने के लिए रवीन्द्र कालिया की लंबी कहानी 'काला रजिस्टर' पढ़नी होगी। चाहें तो कन्हैयालाल नंदन भी उस तरह के अनुभवों में कुछ जोड़ सकते हैं, जब सत्यनारायण सिन्हा नाम के पुराने और दबंग पत्रकार का भारत-चीन सीमा विवाद पर एक लेख छप गया था जिसमें राजनैतिक और सामरिक महत्त्व के कुछ ऐसे विवरण आ गए थे जिन्हें लेकर गृह मंत्रालय ने आपत्तियाँ उठाई थीं और भारती ने सारा ज़िम्मा नंदन पर डालकर उसकी नींद हराम कर दी थी। बात उसकी नौकरी पर भी थी और वह स्नायविक तनाव के पागल-बिंदु पर पहुँच गया था।

जैसा कि मैंने कहा, भारती ने मुझे हमेशा ही प्यार और सम्मान से छापा—'आलोचना' से लेकर 'धर्मयुग' तक में, मगर सत्ता की निरंकुशता हमेशा एक प्रतिरोध और विरोध को जन्म देती है। न डॉ. नगेन्द्र ने मेरा कुछ बिगाड़ा था, न भारती ने, मगर धौंस और धाँधली की हर घटना, चाहे वह देश के किसी भी भाग में हो, आपके भीतर आक्रोश ही पैदा करती है। न मेरी कोई हैसियत थी, न शक्ति, मगर दोनों के प्रति शत्रुता का एक भाव अपने-आप उग रहा था। वियतनाम और इराक पर हमला करने वाले अमरीका ने भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा था। अनुशासन, संगठन, एकता, अखंडता के नाम पर सत्ता अपने-आप को जितना ही केंद्रीकृत करती जाती है, इस दबाव से उतनी ही अंदरूनी सीवनें खुलने लगती हैं और उसकी भीतरी-बाहरी दरारें चौड़ी होती जाती हैं। बाहरी आघातों के साथ सत्ता-वर्चस्व सबसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक टूटता है अपने ही अंतविरों धों में। सुरक्षा के लिए आप जितने मज़बूत परकोटे अपने चारों ओर गढ़ते हैं, देखते-देखते वे ही खुद आपकी अपनी कैद बन जाते हैं। एक दिन पाते हैं कि अकेले, मित्रहीन, निष्कवच आप अकेले ही ध्वस्त परकोटों पर 'तुगलक' के अंतिम दृश्य की तरह टहल रहे हैं। बाहर की आवाज़ें सुनना तो आपने पहले ही बंद कर दिया था, अब खुद आपकी आवाज़ कहीं तक नहीं पहुँचती। रात के अंधेरे सन्नाटे में प्राचीरों की हर धसकती ईंट की भुतहा और दहशत पैदा करने वाली आवाज़ें ही आपको कभी-कभी चौंकाती हैं या काले आसमान से टूटता कोई नक्षत्र...

नहीं, यह सिर्फ इलाहाबाद से बंबई की यानी बंद गली के आखिरी मकान तक की यात्रा नहीं थी—यह शीतयुद्ध में दूसरों के दिए सत्ता-विमर्श से सत्ता-केंद्र तक पहुँचने की यात्रा थी। रवींद्रनाथ के 'गोरा', शरच्चंद्र के सव्यसाची (पथ के दावेदार) और तुर्गनेव के बज़ारोव (पिता-पुत्र) की प्रशस्ति में कभी भारती ने वज्रध्वजी औपन्यासिक नायकों पर एक ज़बर्दस्त लेख लिया था। इन सारे नायकों ने सैकड़ों बिजलियों की कड़क वाले व्यक्तित्व से उस समय के समाज को झकझोर कर रख दिया था। निश्चय ही वे महामानव हमारे आदर्श नायक थे। मगर मूलतः वे अपने सारे वज्र व्यक्तित्व के बावजूद स्वप्नहीन नायक थे। समाज और शासन में जो सड़ा-गला, दमनकारी था, उसे वे सिर्फ तोड़-फोड़ देना चाहते थे। बज़ारोव तो बाकायदा अनार्किस्ट था। एक विकल्पहीन विध्वंसक, यानी वर्चस्व का प्रतिरोध विद्रोह और विप्लव से आगे अपनी तार्किक परिणति। राधा के प्रसंग में 'जिस्म' जैसे शब्द खटकते थे मगर भारती ने उन्हें ग्राह्य बना दिया था। रोमांटिक विद्रोह का अजीब जादुई माहौल था—उस उम्र से सीधा संवाद करता या पौराणिक रोमन-कैथोलिक संदर्भों में अपनी आशाओं-आकांक्षाओं और पराजयों को परिभाषित या महिमान्वित करता। वहाँ थकान, हार और मृत्यु भी बेहद गरिमामयी लगती थी—कभी हम युद्ध-क्षेत्र में रथ का टूटा पहिया लेकर लड़ते हुए अभिमन्यु होते, तो कभी व्याध का बाण झेलते कृष्ण, कभी भागवत के पृष्ठों पर रखी बांसुरी होते, तो कभी टूटी तलवारों की मूठ लिये मृत्यु माँगते योद्धा...

हू कुड रेज़िस्ट दिस भारती ?...इस भारती के जादू से कौन बच सकता था ? पूरी एक पीढ़ी प्रतिभा के इस प्लावन में बह गई थी। उत्तर भारत का तो शायद ही कोई प्रेमी युगल हो, जो प्रारंभ में 'गुनाहों का देवता' और फिर बाद में 'कनुप्रिया' एक-दूसरे को भेंट न करता हो। भारती उन दिनों मध्यवर्गीय युवा कामनाओं, स्वप्नों और आकांक्षाओं के कवि थे, न तो अज्ञेय की तरह स्नॉब (उन्नासिक), न सुमन, नीरज, रंग की तरह मंचीय...मगर नहीं, भारती एक नहीं, दो थे। एक भारती था जो कविताएँ, नाटक, उपन्यास, कहानियाँ लिख रहा था—कभी 'नीली झील,' तो कभी 'चाँद और टूटे हुए लोग' और उसकी हर रचना एक के बाद एक चमत्कृत करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चली जाती थी। वहाँ हममें से कोई उसके पासंग भी नहीं आता था। वह साक्षात प्रतिभा था जिसके लिए 'सूरज का सातवां घोड़ा' की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा था कि "मैं नहीं कहता कि भारती जीनियस हैं, मगर उनमें जीनियस के गुण जरूर हैं।" इस पर राकेश ने मजाक उड़ाते हुए कहा था, "यह तो ऐसी ही बात हुई, जैसे कोई कहे—फलाने साहब गुंडे तो नहीं हैं, मगर उनमें गुंडों के लक्षण जरूर हैं।" सच बात तो यह है कि अज्ञेय ने यह भूमिका भारती की प्रतिभा पहचान कर नहीं, अपनी राजनीति के हिस्से के रूप में लिखी थी। बेहद यथार्थवादी होते हुए भी 'सूरज का सातवां घोड़ा' में प्रगतिशीलों का मज़ाक उड़ाया गया था। कथा-प्रयोग तो वह आज भी अपने ढंग का अकेला ही है।

और अज्ञेय द्वारा 'ठप्पित' यही वह भारती था जो हमारा दुश्मन था। उस समय के प्रगतिशीलों और परिमलियनों के किस्से आज साहित्य के इतिहास के दिलचस्प प्रसंग हैं। दो बड़ी विश्व-शक्तियों का शीत-युद्ध, साहित्य की दुनिया में भी प्रगतिशीलों और परिमलियनों के बीच लड़ा जा रहा था। परिमल-गिरोह के नेता भारती थे—साथ में रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, केशवचंद्र वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा और स्वीट विशन—यानी विशन टंडन। दूसरी तरफ प्रकाश चंद्र गुप्त, अश्क, अमृत राय, भैरव प्रसाद गुप्त, कृष्ण दास, नेमिचंद्र जैन, विजयदेव नारायण साही, नामवर, कमलेश्वर, मार्कंडेय, दुष्यंत कुमार इत्यादि। आगरा में उस समय थे रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, राजेन्द्र रघुवंशी, अमरकांत...हम लोगों को दिशा मिल रही थी सोवियत साहित्य और वहाँ के राजनैतिक वक्तव्यों से। उधर 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' और 'मॉरल रि-आर्मामेंट' जैसी संस्थाएँ या तो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रचंड बौद्धिक साहित्य दे रही थीं या सोवियत नृशंसताओं का भंडाफोड़ कर रही थीं। पीछे था सी.आई.ए. का अकूत धन...आर्थिक सहयोग तो शायद प्रभाकर माचवे, अबू सईद और अज्ञेय जैसों तक ही था, लेकिन परिमल के यहाँ बौद्धिक उधारी में कोताही नहीं थी। 'गॉड दैट फेल्ड', 'डार्कनेस ऐट नून', 'योगी ऐन्ड कमिसार' जैसी पुस्तकें रामनाम की लूट की तरह बाँटी जाती थीं— कभी सोवियत लौह-कपाटों से भागे हुओं की 'प्रामाणिक' स्वीकारोक्तियाँ होती थीं, तो कभी क्रांति के दौरान पश्चिम में निकल आने वाले शाही ख़ानदानियों के लोमहर्षक संस्मरण...। उधर स्थिति ज़्यादा मज़बूत थी, क्योंकि संस्कृति, साहित्य के किसी भी क्षेत्र में सन् तीस के बाद आने वाले विश्व के सारे बुद्धिजीवी या तो वाम थे या अपने सर्वश्रेष्ठ रचनाकाल में वाम रह चुके थे और अब मोहभंग का साहित्य लिख रहे थे। इनमें पिकासो, आइन्स्टीन, बर्ट्रेंड रसैल, सार्त्र जैसे लोग थे, तो साहित्यिक दुनिया के एक से एक दिग्गज़...परिमल जैसी संस्थाओं की कमज़ोरी यह थी कि उन्हें मार्क्सवाद या सोवियत दुनिया की सीधी जानकारी नहीं थी—जो कुछ वे जानते थे वह सब शीत-युद्ध की प्रचार-पुस्तकों में हम भी पढ़ते थे। उस शब्दावली और अनुवाद के मुहावरों को शायद ही कभी किसी ने गंभीरता से लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो : दूसरे, भारती को छोड़कर वहाँ कोई प्रथम-श्रेणी का रचनाकार नहीं था। पश्चिम से निकलने वाले 'एनकांउटर', भारतीय 'क्वेस्ट' और बाद में परिमल-गुट के पास आ जाने वाली 'आलोचना' ने जरूर इस दल को बौद्धिक सहारा दिया। इससे पहले 'निकष' और 'नई कविता' के प्रयोग थे।

दीगर बात है कि अपने पक्ष के लिए मेनिफ़ेस्टो की तरह लिखी गई 'मानव मूल्य और साहित्य' पुस्तक को भारती की सारी भाषाई जादूगरी के बावजूद आज न कोई याद करना चाहता है, न स्वयं भारती। मगर यह भी सच है कि परिमल के कंधों पर सवारी गाँठते भारती ही उस समय इलाहाबादी दुनिया के अमिताभ बच्चन थे। मुझे अभी तक सुनने का अवसर नहीं मिला, मगर लोग कहते हैं कि विजयदेव नारायण साही के बाद वही सबसे ओजस्वी वक्ता भी थे—साही बौद्धिक-तार्किक की तरह बोलते थे ते भारती माखनलाल चतुर्वेदी या महादेवी वर्मा की तरह भावुक छायावादी मुहावरे में। बालकृष्ण राव के शब्दों में 'एलोक्वैंट ऑरिटर'...। बहरहाल, यही वह क्षेत्र था जहाँ भारती हमारे शत्रु थे। ज़ाहिर है, मेरा रवैया प्यार और घृणा का एक साथ था...रचनाकार के रूप में वह मेरा सबसे प्यारा लेखक था तो 'विचारक' या दलीय नेता की तरह सबसे बड़ा शत्रु। असंभव था ऐसे व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा या चुनौती न महसूस कर पाना...वह दुश्मन था। क्योंकि महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर को खुले और बेबाक शब्दों में 'धुरीहीन' कहकर आरोप लगा रहा था कि उन्होंने साहित्यिक मूल्यों के साथ सौदे किए थे, व्यक्तिगत लाभ के लिए दल बदले थे और सबसे बड़ा अपराध कि प्रगतिशीलों के लिए 'नरम' थे। उस समय भारती ने अपने विद्रोही तेवरों से भले ही बड़े-बड़े दिग्गजों को ध्वस्त कर दिया हो, मगर जिस 'धुरीहीनता' का 'बुमैरंग' उन्होंने इन दुश्मनों पर चलाया था, वही जिंदगी-भर उन्हें खुद आंसता रहा...यही प्रमथ्यु के कंधों पर बैठा वह गिद्ध था जो बाद में काफी दिनों तक माँस नोंच-नोंचकर खाता रहा—फिर पता नहीं, दोनों में से कौन मर गया...प्रमथ्यु या वह गिद्ध...सारे मत्सर (मैलिस) के बावजूद मुझे वह 'धुरीहींनता' वाला लेख अच्छा लगा था, कोई तो है जो बेलौस होकर अपनी बात कह सकता है। अगर मैं भूल नहीं करता तो उसमें ब्राउनिंग क्रांतिकारी होने तक नहीं जाता था। क्रांतिकारी के पास एक विकल्प और स्वप्न होता है और शेखर के मानस-पुत्रों को इसी से सबसे ज़्यादा परहेज़ था। यह विद्रोह जितना अपने आस-पास के प्रति था, उतना ही इस स्वप्न और विकल्प के प्रति भी था—वहाँ विद्रोही होना ही अपने आप में इतना बड़ा लक्ष्य और मिशन है कि किसी भी स्वप्न या भविष्य से बाँधना उसे बौना करना है, इतिहास का गुलाम हो जाना है। भारती की सबसे प्रिय पुस्तक रही है अलबेयर कामू का 'रिबेल'। उनके प्रारंभिक लेखन में जगह-जगह उसकी प्रतिध्वनियाँ देखी जा सकती हैं। कामू ने जिन तात्विक, दार्शनिक और आध्यात्मिक धरातलों पर इस 'विद्रोही' को समझने और विश्लेषित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने की कोशिश की है, वह सचमुच स्तब्धकारी है। गीता वह पुस्तक हम सबकी रही है, मगर उसमें कामू ने देश-काल से परे जिस आत्यंतिक और एकांत 'विद्रोही' को स्थापित किया है, वह आज निर्विकल्प बौद्धिक चमत्कार ही ज़्यादा लगता है। संयोग नहीं है कि 'अंधायुग' अस्तित्ववादी मुहावरों का बेहद खूबसूरत संकलन भी है।

सोवियत प्रभुसत्ता में व्यक्ति के संहार के खिलाफ लोकतंत्र में व्यक्ति स्वातंत्र्य की वकालत निश्चय ही बुद्धिजीवियों का एकमात्र सरोकार रही है। मगर आगे यह यात्रा व्यक्तित्व की निजता को विलक्षणता और अद्वितीयता में बदलती हुई निरंकुशता तक भी तो जाती है। अगर एक व्यवस्था स्तालिन को पैदा करती है तो दूसरी मुसोलिनी और हिटलर को, वहाँ अनिवार्यतः दूसरे व्यक्तित्वों को खाकर ही चमत्कारी व्यक्ति ऊपर आता है। वह अपने-आप में ही शक्ति का एकमात्र और अंतिम केंद्र होता है। दी हुई व्यवस्था के प्रति जिस आक्रोश, गुस्से और विद्रोह की अभिव्यक्ति बनकर वह व्यक्तित्व (नायक) बनता है, उसे बदलता बिलकुल नहीं है, सत्ता का अधिग्रहण करता हुआ क्रूरतापूर्वक सिर्फ उसके कील-काँटे दुरुस्त करता है। टुकड़े-टुकड़ों में बिखरे समय (टाइम इज़ आउट ऑफ़ ज्याइंट) यानी सड़ी-गली स्थितियों को चुस्त-दुरुस्त करने की हमारी आशाओं, आकांक्षाओं का वह जिस हद तक केंद्र बनता जाता है, उतनी ही उसकी निरंकुशता बढ़ती जाती है। एमर्जेंसी युग में इंदिरा गांधी और उनसे भी बढ़कर संजय गांधी के रूप में इस 'महानायक' के चमत्कारी व्यक्तित्व का स्वाद हमने भी चखा था—तब सारा प्रशासन भयानक रूप से कुशल, प्रभावी और एफिशियेंट हो गया था। यह वही युग था जब प्रायोजित हत्याओं, आत्महत्याओं, दुर्घटना-मृत्युओं की बाढ़ आ गयी थी और वर्चस्व को चुनौती देने वाले सुंदर डाकू, नागरवाला, चारु मजूमदार जैसों को ठीक फिल्मी अंदाज में मार डाला गया था। सारा वातावरण संदेह, आतंक और भय से थरथराता रहता था। संयोग नहीं है कि भारती ने तब संजय गांधी की प्रशस्ति में 'सूर्य का स्वागत' लिखा था। बाद में महानायक की तलाश उन्हें 'मुनादी' तक लायी। याद दिलाना जरूरी है कि 'मुनादी' जयप्रकाश आंदोलन की सबसे लोकप्रिय कविता थी। मगर फिर भारती के पराभव-काल में पुष्पा भारती ने राजीव गांधी पर, बड़ी अँखियों और रसीले होठों वाले 'हाय हैंडसम'—नुमा साक्षात्कार भी लिखे। अकेले भारती ही क्यों, तब तो कमलेश्वर, नामवर और यहां तक कि रवीन्द्र कालिया जैसे युद्धों से लौटे विजेता, अपनी पुरानी वर्दियाँ, तमग़े और फीते चमकाते राज्य-सभा की तरफ टकटकी लगाए थे। ''कबहुं तो दीन-दयाल के भनक परैगी कान''। भारती की हालत तो यहाँ तक आ गई कि 'व्यास सम्मान' पाने के लिए अप्रैल 94 में छपी किताब पर 93 सिर्फ इसीलिए डालना पड़ा कि उस अवधि में शामिल किया जा सके, या जो भारती की छाया नहीं छू सकते, वह उनका कद नापते हुए तय करने लगे कि उनका सार्थक सम्मान क्या हो। या खुद उन्हें सफाई देनी पड़ी कि सुप्रीम कोर्ट से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ससम्मान बरी हो जाने पर ही उन्होंने केडिया पुरस्कार लिया।

लगता है, सुप्रीम कोर्ट को भारती सुविधापूर्वक भूल गए हैं। वे खुद भी तो बरी हुए थे। 'शैलेश मटियानी बनाम धर्मवीर भारती तथा अन्य' वाले केस में। कानूनी तौर पर भले ही शैलेश मटियानी हार गए हों, मगर हम सब जानते हैं कि भारती की वह सबसे बड़ी नैतिक पराजय थी, क्योंकि वही सबसे अधिक जानते थे कि वे गलत हैं। एक तरफ सचमुच माँग-माँगकर लड़ा जाने वाला मुकदमा और दूसरी तरफ बैनेट-कोलमैन के विपुलतम साधन ! जाहिर है, मैं शैलेश के साथ था। हाँ, खुंदक भी थी ही, व्यक्तिगत नहीं, भारती के निरंकुश वर्चस्ववाद के खिलाफ साहित्यिक। सारे भारत में फैले साम्राज्य को जिस औरंगजेबी तेवर से उन दिनों भारती संचालित करते थे, उसके विरुद्ध प्रतिरोध न हो—यह असंभव था। इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, कलकत्ता, चंडीगढ़ सभी जगह थीं असंतोष की चिनगारियां। भारती तब लेखक बनाते और बिगाड़ते थे। अशोक वाजपेयी और भारत-भवन के खिलाफ 'धर्मयुग' के जितने पन्ने झोंके गए थे और जिस तरह की लामबंदियाँ की गई थीं, उस युग के तो हम सब गवाह रहे हैं। एकछत्र सम्राट को बर्दाश्त नहीं था कि देश में कहीं भी सरकश सिर उठाएँ—अलग केंद्र उभरें और लोग दूसरी तरह सोचें...उनके इशारों पर 'जो टायर हैं, वे टायर ही रहेंगे' के व्यंग्यों से कभी शरद जोशी कमलेश्वर को ठिकाने लगा रहे थे तो कभी धनंजय वर्मा मेरी पोलें खोल रहे थे। खुद अज्ञेय को भी नहीं छोड़ा गया था, क्योंकि उन्होंने 'दिनमान' के रूप में ज्यादा खुला समानान्तर स्थापित कर दिया था। उधर नामवर की 'आलोचना' दूसरा सिरदर्द था। सचमुच, दिलचस्प है वह प्रसंग, जब खुद भारती के खिलाफ 'काला रजिस्टर' लिखने और नौकरी छोड़ (या छुड़ा) कर आने वाले रवीन्द्र कालिया और भारती साथ गले मिलकर कचहरियों में लिखित गुहारें लगा रहे थे कि शैलेश मटियानी हमें सिर्फ इसलिए परेशान कर रहे हैं कि हम संजय गांधी के चमचे हैं। बहुत बार मेरा मन हुआ है कि उस सारी कानूनी लड़ाई को विस्तार से दे ही दिया जाए, क्योंकि उसके पीछे सिर्फ छोटी-सी घटना यही थी कि 'धर्मयुग' में छपी एक प्रचार-पुस्तिका की समीक्षा (जो किसी बिहारी लाल ने लिखी थी) 'अमेठी के दिन बहुरे' से मटियानी को आपत्ति थी कि उसमें उन्हें अपमानजनक तथा गलत ढंग से पेश किया है और वे उसका प्रतिवाद छपाना चाहते हैं। जाहिर है, तब 'धर्मयुग' में प्रतिवाद या संपादक से असहमति जैसी चीजें छापने की न तो परंपरा थी, न गुंजाइश...

1985 में 'रविवार' में प्रकाशित अपनी एक टिप्पणी 'एक साप्ताहिक मौत' के बहाने सांम्राज्य-पतन और सम्राट के निस्तेजीकरण युग पर कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करके मैं अपनी बात समाप्त करूँगा...

"सौभाग्य से 12-13 साल पहले तक धर्मवीर भारती की स्थिति यह नहीं थी। वे एक प्रतिभाशाली कवि और गद्यकार की तरह 'धर्मयुग' को अपना अंशदान करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। तब वह हिंदी का जीवंत और शक्तिशाली साप्ताहिक था। बंगलादेश-निर्माण के समय तक भारती के पत्रकार का स्वर्ण युग रहा। मगर इस 'चरम विजय' के अहंकार ने भारतीय राजनीति को ही निरंतर निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं बनाया, पत्रकारिता को भी दंभी और खुशामदपरस्त बना दिया। 'इलस्ट्रेटेड वीकली' में आ बैठे खुशवंत सिंह। आते ही उन्होंने पत्रकारी भांगड़ा नाच शुरू कर दिया। सर्कुलेशन के लिए कभी किसी प्रांत, देश पर विशेषांक निकाले, तो कभी जातियों पर। समृद्ध पृष्ठभूमि से आए थे, इसलिए सभी तरह की आर्थिक स्वतंत्रताएँ मालिकों से झाड़ लीं। दस पैसे की चीज को नौ पैसों में लाकर मालिकों को खुश करने की कुंठा के शिकार नहीं थे। 'धर्मयुग' स्तब्ध...भारती बहुत दिनों तो अपने को यही कहकर समझाते रहे कि नहीं, हम इस सांस्कृतिक कुत्साकरण के आगे नहीं झुकेंगे, हमारी एक गरिमा और मर्यादा है। मगर बदले में गंभीर पत्रकारिता का आदर्श रखने की बजाय भारती ने पत्र में या तो खुद अपनी तारिफें कीं या करवाईं...80 तक आते-आते तो स्थिति और भी विकृत हो गई। 'सूर्य का स्वागत' करने के पाप का प्रायश्चित्त जनता मंत्रियों को धुआंधार मंच देने से होता, न होता कि सूर्य फिर वापस आ गया। नतीजे में फिर वही पुराने कपड़े, मेकअप विशेषांक निकालने पड़े। बौद्धिक जगत् में ऐसे तान-पलटे औरों की निगाह में अविश्वसनीय और अनिर्भणीय तो बनाते ही हैं, बार-बार के इस बदलाव के साथ 'खूबसूरती' से चोला बदलना अपने-आप-को भी तोड़ता-मरोड़ता है। राजनीति और पत्रकारिता–दोनों में ही कॉकस बनने लगे। साम्यवाद के खिलाफ–नंद किशोर मित्तल, उपन्यासों का संहार–चंद्रकांत बांदिवडेकर, कविता में भारती प्रशस्ति के लिए डॉ. विनय, शत्रुओं का संहार–शरद जोशी। हरेक के कार्य-क्षेत्र तय हो गए, लेकिन अपनी इस विश्वस्त मंडली के बावजूद स्थिति नहीं संभली। बगल में बैठे खुशवंत सिंह का वर्जनाहीन खुलापन और साहित्य-संस्कृति में अशोक वाजपेयी की गतिशीलता निरंतर भारती के 'वर्चस्व' को अप्रासंगिक बनाए जा रही थी और आठ-सात सांचोपांजा मिलकर भी सम्राट की गिरी प्रतिमा को पुनर्स्थापित नहीं कर पा रहे थे। बटरोहीनुमा लेखक भी जान गए थे कि लिखो कुछ भी, बस घुमा-फिराकर संपादक की रचना का ज़िक्र कर दो और प्रचार-पारिश्रमिक पाओ... वे होड़ बंद कर भैंसाखेड़ी में 'नीली झील' और झुमरी तलैया में 'अंधायुग' के विश्वप्रसिद्ध मंचन की सचित्र टिप्पणियाँ भेजते रहे। यहाँ तक कि 'धर्मयुग' में कहानियों के छपने की शर्त हो गई कि कहीं न कहीं नायिका को 'गुनाहों का देवता' पढ़ते हुए दिखाना होगा...

'खैर, जैसे-तैसे खुशवंत से जान छूटी। 'हम इतने छिछले और बाज़ारू स्तर पर नहीं उतर सकते' का तर्क कुछ सहारा देता लगा। लेकिन अब सहसा आ गया प्रीतीश नंदी...गंभीर विषय, सूझबूझ, ब्रिलियेन्ट और एक से एक प्रामाणिक नाम... अब क्या हो ? मुझसे छोटा है या बड़ा, इस हिसाब-किताब में 'न' पड़कर "मुझे भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हर क्षेत्र का सर्वश्रेष्ठ चाहिए'' वाली अशोक वाजपेयी की नीति ने भारती को वैसे ही बौना बना दिया था, प्रीतीश नंदी ने तो एकदम कुचलकर रख दिया...''मैं दूसरे कवि, साहित्यकार या उसकी रचना को क्यों प्रचार-प्रसार दूं'' का तर्क भहराकर गिर पड़ा...प्रीतीश ने दिखा दिया कि पत्रिका को महत्त्वपूर्ण या लोकप्रिय बनाने के लिए जरूरी नहीं है कि हर तीसरे महीने क्रिकेट या फिल्म-विशेषांक ही निकाले जाएँ, साहित्य-कला की गंभीर समस्याओं से बचा ही जाए या लोकप्रियता सिर्फ होली, दीवाली, व्रत-त्योहार, भविष्यफल, व्यंजन, कपड़ों और अमिताभ, शत्रुघ्न की आरती उतारने का ही दूसरा नाम है...यह 'डोज़' सचमुच भारती के लिए ज़रूरत से ज़्यादा था। उन्होंने हाथ-पाँव डाल दिए। अब मुझसे कुछ नहीं होता...राजनीति सब जगह होती है, लेकिन साहित्य की राजनीति से क्षुब्ध होकर कला-संस्कृति-साहित्य के बहिष्कार का तर्क किसी नैतिक बोध के कारण भारती ने नहीं लिया था, उसके पीछे सिर्फ यही कुंठा थी कि साहित्य मेरी बताई लीक पर क्यों नहीं चल रहा है ? बार-बार इलाहाबाद के किशोर सपनों को खोदने-खंगालने से शुरू या समाप्त होने वाले लेख, युद्ध-भूमि में रूसी और नेपोलियन की लड़ती सेनाओं के बीच एक खूबसूरत छोटे-से फूल को निहारते इस 'पियरे' को महान क्यों नहीं बना रहे हैं ? और इस तरह धुरीहीन होकर रथ का टूटा पहिया, हिमालय की महान वर्फानी यात्रा में खो जाने की गरिमा को प्राप्त हुआ। यानी 'धर्मयुग' का संपादक सामग्री-मैनेजर होकर रह गया, तरह-तरह की योजनाएँ, लोगों से लिखाना, रचनाओं से जुड़े होना—ये सब बीते दिनों की बातें हो गईं। अब तो आप पत्रिका पढ़िए, न पढ़िए, कोई अंतर नहीं पड़ता। बुरा हो प्रीतीश नंदी तेरा, तूने कैसी कुंठाव पर एक खतरनाक समानांतर लाकर रख दिया...कैसे तू दूसरे कवियों, लेखकों को भी ऐसे धूम-धड़ाके से छाप लेता है ? तेरा दिल नहीं कचोटता ? हम तो ज्ञानपीठ पुरस्कार वालों को भी ऐसी प्रमुखता नहीं दे पाते...जो कुछ सिर्फ हमें मिलना चाहिए, वह हम खुद दूसरों को क्यों दें ?''

सोवियत व्यवस्थाएँ या वाम सरकारें सफल हुई हों या विफल, मगर मैं अभी भी मानता हूँ कि बिना एक 'विज़न' (इसका अर्थ चाहे विश्व-दृष्टि लगा लें या भविष्य का स्वप्न) के 'विद्रोह' रोमानी होता है। वह अपने-आप को ही 'विज़न' का पर्याय और प्रतीक समझने लगता है, नतीजे में अवसर मिलने पर सबसे पहले खुद भी वही बन बैठता है, जिनके खिलाफ विद्रोह का झंडा उठाता है। चिरंतन विद्रोह जैसी कोई चीज़ नही होती। हर क्रांत द्रष्टा ने 'विजन' दिए हैं। हमारी सबसे बड़ी ट्रेजेड़ी इस विज़न का विलोप है। हममें से अधिकतर ने मार्क्सवाद के विरोध के नाम पर हर किसी वैकल्पिक स्वप्न की हत्या की है। न हो मार्क्सवाद, मगर कोई तो विज़न हो जहां मानवीय गरिमा के लिए अन्याय, शोषण, गरीबी, भुखमरी, असमानता, गुलामी के विरुद्ध दुनिया के ब्लू-प्रिंट की ठोस लकीरों की तलाश की जा रही हों—वह सिर्फ एक सदाशयता, सद्भावना और स्वप्नाकांक्षा का हवाई आश्वासन भर न हो...जिसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियति वक़ौल कामू, तात्विक (मेटाफिजिकल) 'आत्महत्या' यानी संत, स्वामी और 'सिनिक' वन जाने में होती है—या जिसे अपने 'पापों' से शांति, प्रभु के चरणों में ही मिलती है।

जिस प्रतिभा को मैं प्यार करता रहा हूँ, उसे लेकर पद-मद या उसकी जोड़-तोड़ को बर्दाश्त नहीं कर पाता तो आप इसे मेरी व्यक्तिगत कुंठा कहने के लिए स्वतंत्र हैं।

'हंस', अप्रैल 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत'

निराला

खुशामद, तिकड़म, दलाली और 'जियो-जियो रे लला' छाप बौद्धिक-सांस्कृतिक माहौल के बीच भैरव प्रसाद गुप्त एक असुविधाजनक उपस्थिति थी। 77 वर्ष की उम्र पाकर यह उपस्थिति 7 अप्रैल, 95 को अलीगढ़ में समाप्त हो गई। इधर तो बहुत प्रभावी भी नहीं रह गई थी—बड़े मकान के एक कोने की कोठरी में सीमित बूढ़े की तरह। साहित्य के उत्सवी माहौल में शायद उनकी याद भी नहीं आती थी। कभी-कभी हलका-सा अचेतन अंकुश जरूर महसूस होता था, जैसे खुलकर ठहाके लगाते हुए अचानक बीमार का ध्यान हो आए और एक क्षण को 'रुकावट के लिए खेद है' की इबारत चमक उठे। अब वह भी नहीं रहा। अब हम तीन-चार लोग निश्शंक और स्वच्छंद भाव से खुलकर एक-दूसरे को पुरस्कार देते रह सकते हैं, अभिनंदन और प्रशस्ति-ग्रंथ निकाल सकते हैं, परस्पर 'महत्त्व' की बौद्धिक ताजपोशियाँ कर सकते हैं, सांस्कृतिक अनुदानों और वृत्तियों के बँटवारे कर सकते हैं और एक दूसरे के नाम से मोटे-मोटे ग्रंथों के संकलन-उत्पादन को अमर कृतियों के रूप में प्रोत्साहन के खाते में डाल सकते हैं। समाजवाद का अंत लूट की यह निस्संकोच छूट तो देता ही है। लूट-तंत्र का बहुत बड़ा 'पॉज़िटिव' पक्ष यही है कि न यहाँ वर्ग आड़े आता है, न वर्ण, न पुराने अपमान-सम्मान रोकते हैं, न सैद्धांतिक दूरियां। सभी को अपना हिस्सा या टुकड़ा मिले, तो किस बात का सिद्धांत और किस बात का अपमान ? फिर, सिद्धांत और अपमान तो मन की अवस्थाएँ हैं। कोढ़ की तरह शरीर पर पड़े दाग तो हैं नहीं कि छिपाते फिरें. लूट-तंत्र, दोस्त-दुश्मन का भेद मिटाकर वैश्विक उदारीकरण की उदात्त भावना से भाई चारा बढ़ाता है। इस आंधी में मानवीय भविष्य का सपना नाम के कैंसर में गलते भैरव प्रसाद गुप्त जैसे अड़ंगे जितनी जल्दी साफ़ हों, रास्ता उतना ही निष्कंटक होगा। उनके जाने का क्षण, शोक का नहीं, नए देवता की चरण-वंदना का हर्षद उत्सव बन उठे तो आश्चर्य की क्या बात है : मरने वाले के साथ मरा तो नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता। क्या फ़र्क पड़ता है कि भैरव प्रसाद गुप्त व्यक्ति थे या विचार...क्या प्रचंड बौद्धिकों ने विचार और विचारधारा का जनाज़ा पहले ही नहीं निकाल डाला ?

भैरव जी पिछले चालीस वर्षों से साहित्य की कुलीन या तथाकथित मुख्य धारा के समानांतर एक शक्ति-केंद्र के रूप में रहे। यह कुलीन धारा कविता की धारा थी और इसे साहित्य की एकमात्र 'आर्य-वाणी' होने का गौरव पिछले हज़ारों सालों से सुलभ था। वही स्वयं साहित्य थी। पहले वह नदी के द्वीप के 'तर्क' से अपनी शुचिता-शुद्धता को बचाने की मांग करती थी, फिर शुद्ध कविता की खोज करती हुई आज व्योम, कल आसमान में अपना उपग्रह बनाती या निजी विशिष्ट जनतंत्र में अपनी स्वायत्तता (इसे आभिजात्य भी पढ़ें) बचाने की वैश्विक वाणी बोल रही है। इसी के प्रतिरोध में आया था 'नई कहानी' आंदोलन, छायावाद के बाद एकमात्र साहित्यिक उभार। नेता थे भैरव प्रसाद गुप्त। एक पूरी पीढ़ी थी जो नई कहानी के आस-पास उभरी थी, जिसमें एक ओर निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, भीष्म साहनी, रामकुमार जैसे लोग थे तो दूसरी तरफ रेणु, मार्कंडेय, शिव प्रसाद सिंह—वहाँ चंद्रकिरण सौनरेक्सा, कृष्णा सोबती, मन्नू, उषा प्रियवंदा थी तो अमरकांत, रमेश बक्षी, शेखर जोशी, शानी। नामवर जी को भी तेजस्वी समीक्षक की मान्यता 'नई कहानी' ने ही दी। शिकायत हो सकती है कि हम लोग चाहे घर के अंदर देखते हों या बाहर, विदेश की ओर झाँकते हों या गाँव की ओर—मगर मूलतः केंद्र तो मध्य वर्ग ही था। यह सच भी है कि स्वतंत्रता के बाद मध्य वर्ग जिस केंद्रीय सत्ता और व्यापक बौद्धिक तथा भावनात्मक हलचलों के बीच उभर रहा था, उसी ने नई कहानी को ऊर्जा और शक्ति दी थी। यही वह समय था, जब कृश्न चंदर, बेदी, मंटो, इस्मत, अश्क भी हमारे उतने ही अपने लेखक थे, जितने हिंदी के। और इन सबको एक जगह मंच दिया था भैरव प्रसाद गुप्त ने...

सचमुच, इस अंतर्विरोध को समझना आसान नहीं है कि 'सोंटा गुरु' के नाम से विख्यात, दबंग, अक्खड़ और मुँहफट भैरव जी संपादक के रूप में कैसे इतनी विविधताओं को समाहित और प्रोत्साहित करते थे। 'तीसरी कसम' को छोड़कर शायद 'नई कहानी' को बनाने वाली लगभग सारी कहानियाँ भैरव जी के संपादन में पहले 'कहानी' और फिर 'नई कहानियां' पत्रिकाओं में ही आई हैं। रांगेय राघव की 'गदल' छापने वाला ही मन्नू की 'यही सच है' भी छाप सकता है, भैरव जी के व्यक्तित्व को देखते हुए यह बात अविश्वसनीय ही लगती है। वे किसी को कुछ भी कह सकते थे, 'आप कुछ नहीं जानते, आपको न साहित्य की रत्ती-भर समझ है, न जनता की।' वामपंथी विचारधारा और उससे प्रतिबद्धता को लेकर वे इतने अधिक आग्रही और आश्वस्त थे कि कोई भी विचलन बर्दाश्त नहीं कर पाते थे। शायद सबसे ज्यादा गुस्सा उन्हें विचार और व्यवहार के अंतर्विरोध पर आता था। तर्कों की बहुत अधिक बारीक़ियों और पेचीदगियों में जाना उन्हें बौद्धिक छल ही लगता था। स्वयं उनकी कहानियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आरोप है कि वे प्रायः इकहरी और निष्कर्षवादी कहानियाँ हैं, स्थितियों और मनःस्थितियों के अप्रत्याशित और अनछुए मोड़ वहाँ नहीं हैं। यशपाल ने पहाड़ी अंचलों की कुछ ग्राम-कथाएँ भले ही लिखी हों, मगर मूलतः वे शहरी मध्यवर्गीय नैतिक द्वंद्वों के कथाकार हैं—भैरव जी कुछ शहरी कहानियों के बावजूद गाँव-खेत खलिहानों के संघर्षधर्मी रचनाकार के रूप में ज़्यादा जाने जाते हैं। भैरव, यशपाल के मुकाबले ज्यादा पूर्वानुमेय (प्रिडिक्टेबिल) हैं। मुझे उनकी रचनाओं में 'गंगा मैया' सबसे ज्यादा सुगठित, सशक्त लघु उपन्यास लगता है। सबसे कमजोर है—'अंतिम अध्याय', जिसके लिए कहा जाता है कि अश्क-दम्पत्ती से हिसाब चुकाने के लिए लिखा गया है। शुरुआत शायद अश्क जी ने ही दो-तीन कहानियाँ लिखकर की थी। बहरहाल, सब मिलाकर भैरव जी कहीं भी स्वयं नई कहानी की चेतना के कथाकार नहीं थे। हाँ, नई कहानी के प्रवर्तक, संरक्षक और अधिवक्ता ज़रूर थे। उनका अपना यश 'मुक्का-तान' जुझारूपन और लालसुबहवादी ही रहा—जो आगे जाकर वर्ग-शत्रु के सफ़ायेनुमा नक्सली कहानियों से जुड़ाव तक आया। यहाँ उनमें और हंसराज 'रहबर' में ध्यान देने लायक समानता है। अमेरिकनी गेहूँ न खाने वाली, भूखों मरती बुढ़िया की कहानी को तो कमलेश्वर आज तक उनकी 'जड़ता' के प्रमाणस्वरूप पेश करता है।

मगर अजीब लगाव था उन्हें नई कहानी आंदोलन, उस युग की रचनाओं और रचनाकारों से। वहाँ किसी भी प्रकार का हमला उन्हें सचमुच काल-भैरव बना देता था। आज के न जाने कितने कथाकार हैं जिन्हें भैरव जी ने या तो पहली बार मंच दिया था या उनकी वास्तविक प्रतिभा को पहचान दी थी। उनके इस मोह का नज़ारा मैंने भी भुगता है। शायद पटना में गोष्ठी थी, शाम को हम कुछ लोग बैठे थे। भैरव जी का कहना था कि नई कहानी का नामकरण उनके संपादन में नामवर जी ने किया। मेरी जानकारी थी कि यह पुरोहिताई दुष्यंत कुमार ने की—'कल्पना' में एक लेख के माध्यम से। बाद में 'धर्मयुग' में राजेश्वरी त्यागी ने हम तीनों को अलगा दिया। मेरा तर्क था कि विचार ही नहीं, नाम उड़ाकर सारा श्रेय लूट लेने की कला में नामवर जी माहिर हैं। 'कहानी : नई कहानी' नाम से मेरा एक लंबा लेख 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के छह-सात अंकों में धारावाहिक छपा था। उसके दो साल बाद जब नामवर जी के कहानी-संबंधी लेखों का संकलन 'लोकभारती' से आने लगा तो उन्होंने बाकायदा मुझे बताकर मेरे लेख का नाम उड़ा लिया। "नाम से क्या होता जी", भैरव जी गरज रहे थे, "बात दृष्टि और मूलचेतना की है। तुम लोगों ने जालसाज़ी की, समझे जालसाज़ी की है। सारे नई कहानी आंदोलन को तुमने, राकेश, कमलेश्वर ने 'हाइजैक' कर लिया। कमलेश्वर तो हल्लाबोल छाप था—बदमाशी तुम्हारी और राकेश की थी। तुम सीधे हो, असली शातिर राकेश था, उसने तुम दोनों का इस्तेमाल किया। ओमप्रकाश से मिलकर सारी मलाई उसने खाई और..." पता नहीं क्यों, उस दिन मुझे भी गुस्सा आ गया, "यह सब बकवास है भैरव जी, आप अश्क की भाषा बोल रहे हैं। एक-एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अलग करके आप हमें लड़ाना चाहते हैं ? मार्कंडेय, शिवप्रसाद को आप ने खड़ा तो किया था हम लोगों के खिलाफ, प्रेमचंद के नाम पर। ससुरों में दम ही नहीं था तो हम क्या करते...?'' ''तुम कुछ नहीं जानते। अमरकांत, रेणु, शेखर जोशी के तुम सब मिलकर पासंग भी नहीं हो। नामवर से तुम अपना क्या मुकाबला करते हो ?'' उस दिन शायद बहुत हंगामा हुआ। अगले दिन भैरव जी के कंधे पर मेरा एयरबैग था और वे मुझे छोड़ने जा रहे थे—मुद्राराक्षस के साथ। वे मुझे कम और मन्नू को ज्यादा प्यार करते थे, क्योंकि मन्नू स्वयं कहती थी ''मेरी पहली कहानी भैरव जी ने छापी थी'' और इसका उन्हें गर्व था।

संपादक के रूप में भैरव जी की तुलना महावीर प्रसाद द्विवेदी से की जाती है। मैंने उनकी संपादित कुछ पांडुलिपियां देखी हैं—एक-एक पंक्ति लाल स्याही से रंगी। द्विवेदी जी की तरह रचनाओं को दुबारा तो नहीं लिखते थे, मगर मेहनत शायद उनसे कम नहीं करते थे। नए से नए लेखक को सामने लाने और साहित्य को मूल्य-दृष्टि देने का आग्रह दोनों में समान है। 'सरस्वती' के साथ (हालाँकि इसमें सुधा, माधुरी, चांद भी शामिल हैं) छायावाद का आंदोलन जुड़ा है तो 'कहानी', 'नई कहानियाँ' के साथ 'नई कहानी' का। साहित्य में आंदोलनों के रूप में बीसवीं सदी के सिर्फ यही दो उभार हैं जिन्हें शुद्ध साहित्यिक आंदोलन कहा जा सके। मगर भैरव प्रसाद गुप्त और महावीर प्रसाद द्विवेदी में एक मूलभूत अंतर है। द्विवेदी जी मूलतः यथास्थितिवादी और 'कन्ज़र्वेटिव' हैं। उन्होंने ज़िंदगी भर सरकारी नौकरी की और एक ऐसी पत्रिका के संपादक रहे जिसका प्रकाशन 'इंडियन प्रेस' से होता था यानी नवल किशोर प्रेस के साथ—उस समय उत्तर-भारत का सबसे बड़ा मुद्रण-संस्थान। सारी पाठ्य पुस्तकें ही नहीं, दुनिया-भर के सरकारी काम इंडियन प्रेस से ही छपते थे। शायद यही कारण है कि उस समय चलते स्वाधीनता-संग्राम को वाणी देने वाली रचनाएँ 'सरस्वती' में एक सिरे से नदारद हैं। वे साथी पत्रिकाओं में दिखाई देती हैं। इस दृष्टि से 'चाँद' सबसे अधिक क्रांतिकारी पत्र था। द्विवेदी जी मूलतः अनुशासनवादी पत्रकार हैं—लगभग हेडमास्टर की तरह विद्यार्थियों को हाँकने, साथ ही उन्हें बेहद प्यार करने वाले। उन्हें बिगड़े, विद्रोही या बहुत अधिक लीक तोड़ने वाले रचनाकार पसंद नहीं हैं। निराला, प्रसाद या मैथिलीशरण गुप्त के प्रतिस्पर्द्धी अयोध्या प्रसाद उपाध्याय 'हरिऔध' को तो उनके स्कूल में प्रवेश ही नहीं मिल पाया। या तो उन्हें मैथिलीशरण गुप्त की सीधी-सादी सुधार-संशोधनवादी कविताएँ पसंद थीं या फिर 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म' का अमूर्त विद्रोह व्यक्त करने वाली सुमित्रानंदन पंत जैसों की रचनाएँ। यहाँ महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल में अजीब समानता है। इस दृष्टि से भैरव जी निश्चय ही ज्यादा 'रैडिकल' हैं। वह अपनी व्यक्तिगत 'दृढ़ताओं' से उठकर विविधता और विद्रोह—दोनों को प्रोत्साहित करते हैं। उनकी अपनी 'प्रतिबद्धता' उन्हें औरों के प्रति अधिक उदार बनाती हैं। वे मुझे एक ऐसे सच्चे धार्मिक व्यक्ति लगते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जो हर धर्म का सम्मान करता है। पता नहीं, यह उदारता गहरी आस्था से आती है या 'हज़ारों फूलों को साथ खिलने दो' की माओ की पंक्ति के आत्मसातीकरण से।

भैरव प्रसाद गुप्त कठोर अनुशासनाप्रयता और वैचारिक प्रतिबद्धता वाली 'इमेज' के साथ ही याद आते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा अपने श्रद्धास्पद 'निराला' या पुराने मित्र अमृतलाल नागर और बैसवाड़े के कुछ अन्य रचनाकारों को 'छूट' देने के बावजूद अपनी मान्यताओं पर आज भी वैसे ही दृढ़ हैं, जैसे पचास साल पहले थे। कभी उन्होंने परशुराम के आक्रोश के साथ रचनाकारों का संहार किया था और उनकी मुंडमालाओं से अपनी साहित्यिक वंदनवारें सजाई थीं। आज वे ऋषि की तरह वेदों से लेकर विदेशों तक की बौद्धिक यात्राएँ करते अपनी एकांत साधना में लीन हैं। उनका परिश्रम, लगन और अविचल प्रतिबद्धता श्रद्धा पैदा करती है। डर भी। अतीत और वामपंथ के जिस रूप पर उन्हें आस्था है, वहाँ वे अडिग हैं। इससे उन्हें बहुत फर्क नहीं पड़ता कि वामपंथ की भौगोलिक और वैचारिक दुनिया में कहाँ कितनी उथल-पुथल हो चुकी और हो रही है या अतीत या वर्तमान को देखने की दूसरी दृष्टियाँ उपेक्षित और दमित धाराओं को कहाँ और कितना पहचान रही हैं। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक वर्चस्ववाद की टूटती केंद्रीयताएँ उनके चिंतन का सरोकार नहीं है। उनके लिए देवताओं और आर्यों के अर्थ बदल सकते हैं, मगर स्थितियाँ वही हैं और वैसी ही महान हैं, इसमें उन्हें कोई संदेह नहीं है। हमेशा अमूर्तनों और प्रत्ययों में बने रहने ने उन्हें विद्वत्ता और पांडित्य की उस श्रेणी में पहुँचा दिया है जहाँ एक श्लोक से दूसरा श्लोक या एक चौपाई से दूसरी चौपाई सिद्ध और पुष्ट कर दी जाती है। अन्य दृष्टियों से वास्तविकता को परखने के स्थान पर उद्धरणों और आँकड़ों की बैलेंस-शीट से वास्तविकता तय कर दी जाती है। यानी वहाँ 'टेक्स्ट' संदेह से परे और अंतिम है और हमें वहीं ऊँचाइयाँ या गहराइयाँ खोजनी हैं। स्वयं वह पाठ किन स्थितियों की उपज है और उसके ऐतिहासिक या सांस्कृतिक संदर्भ क्या हैं, इसकी वे बहुत चिंता नहीं करते। कोई भी पाठ सिर्फ अपने-आप तक सीमित नहीं होता—उसे बनाने या रचने वालों के साथ-साथ संबोधित होने वालों की स्थितियाँ या मानसिकताएँ भी 'पाठ' का अनिवार्य हिस्सा हैं। उसे तोड़कर ही वहाँ पहले से मौजूद दूसरे अर्थ और संदर्भ-सूत्र भी तलाश किए जाते हैं वरना किसी भी पाठ की न तो पुनर्व्याख्या की जरूरत है, न कहीं मतभेद की गुंजाइश—वह अपने-आप में स्वयंसंपूर्ण और स्वयंसिद्ध तो है ही। अभी तक अत्यंत कलात्मक, निर्दोष, घर-परिवारों में सीमित और बेहद ही महिला-सुलभ भोलेपन (इन्नोसेन्स) की भावना-प्रवण लेखिका जेन ऑस्टिन के उपन्यास 'मैंसफील्ड पार्क' का विश्लेषण करते हुए एडवर्ड सईद ने 'कल्चर ऐन्ड इंपीरियलिज़्म' में जिस तरह उपनिवेशवाद के बारीक सूत्रों को पकड़ा और उनकी व्यापक समीक्षा की है—वह सिर्फ दूर की कौड़ी नहीं, वहाँ पहले से मौजूद बिंदुओं की खोज और अर्थ पाने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश है। आज हम अंग्रेज़ी के भारतीय साहित्य को समझने के लिए आग्रहपूर्वक यह सवाल पूछते हैं कि वे कौन लोग हैं जो इस साहित्य को लिखते हैं, उनकी हैसियतें, वर्ग, सामाजिक सरोकार क्या हैं ? फिर, इससे भी आगे जाकर वे किन पाठकों को संबोधित हैं, क्या उन पाठकों की मानसिकता, प्रत्याशाएँ, सामाजिक अवस्थिति और प्रतिक्रियाएँ इस लेखन के विषय, ट्रीटमेंट, एप्रोच और पूरी बनावट या भाषा को प्रभावित-निर्धारित नहीं करते ? लेखक पाठक के इस संवाद में वे कौन से मुद्दे, समस्याएँ और स्थितियाँ हैं जो छूट जाती हैं या छोड़ दी जाती हैं ? अगर ये सारे सवाल 'टेक्स्ट' की संपूर्णता और ऐतिहासिकता को समझने के लिए ज़रूरी है तो वैदिक-औपनिषदिक टेक्स्ट को इन सवालों का सामना क्यों नहीं करना चाहिए ? क्या सारे संत और रीतिकालीन साहित्य को हम 'टेक्स्ट' तक ही सीमित रखकर इन संदर्भों के बिना संपूर्णता में समझ पाएंगे ?

बहुत बड़ा दंभ लग सकता है यहाँ सन् 1975 में पहली बार 'चंद्रकांता' पर लिखे अपने लंबे लेख 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान' के पहले प्रारूप का ज़िक्र करना। मगर यह सच है कि तब मैंने न विखंडनवाद (डि-कन्स्ट्रक्शन) का ज़िक्र सुना था, न किसी गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक के लेखन से परिचित था। हो सकता है, बीस साल पहले स्वयं उन्होंने भी न सुना हो। मगर उसमें सिर्फ़ टैक्स्ट तक ही सीमित रहने या उसे फ़ेस-वेल्यू पर लेने की परिपाटी का अतिक्रमण किया गया था। उसमें मैंने राजनैतिक नियति को बदलने वाली सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों की, उनसे लड़ते, बदलाव की आकांक्षा जी रहे और साथ ही उन दबावों में ढलते लोगों की मानसिकता की विस्तृत पड़ताल की थी। अपनी सारी अक्षमताओं के बावजूद वहाँ पहली बार यही बताने की कोशिश थी कि टेक्स्ट उतना ही नहीं कहता जो वहाँ है, वह अपने विभिन्न संदर्भों में उससे कई गुना अधिक भी कहता है। शायद उसे 'पढ़े' बिना हम टेक्स्ट को भी नहीं जान पाते।

बहुत बड़ा प्रश्न हो सकता है कि आर्य बाहर से आए या यहाँ से बाहर गए, विश्व की पुरानी सभ्यताओं में कितनी समानताएँ और समरूपताएँ हैं और भाषिक दृष्टि से ऋग्वेद या अन्य वैदिक ग्रंथों की व्याप्ति कहाँ-कहाँ तक थी या देवी-देवताओं के नाम कहाँ-कहाँ कितने मिलते हैं ? यह भी कम बड़ी खोज नहीं है कि देव-तंत्र के सामाजिक आधार और कार्य-व्यापार कैसे बदलते रहे, या उस युग में दासों और जातियों का वह रूप नहीं था जो दूसरी जगहों पर था और कालांतर में हमारे यहाँ हो गया। यह सब इतने विराट फलक पर जानकर अपनी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विरासत पर गर्व हो सकता है। मगर यह सवाल भी उठता है कि वह सारी संपन्नता, वैभव, चिंतन की ऊँचाइयाँ या साधना की निश्चिंतताएँ किन लोगों की कीमत पर थीं या आज भी हैं। सैकड़ों सालों से उस सबका उपयोग कौन लोग और किन स्वार्थों से कर रहे हैं, ये सारे उदात्त और महान सांस्कृतिक उद्धरण आज की अमानवीयताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को समझने या उनसे मुक्ति में कहाँ सहायक हैं ? आज उन्हें शोषण-तंत्र की यथास्थिति को बनाए और बचाए रखने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है या सामाजिक बदलाव के लिए ? महान सांस्कृतिक रथ की गद्दियाँ या वल्गाएँ किन हाथों में सुरक्षित हैं और जो घोड़े या पहिये बनकर इसे ढो रहे हैं, उन्हें ये वैदिक ऋचाएँ कितनी राहत या सांस्कृतिक शांति दे रही हैं ? कहीं ये मंत्रोच्चार की गूँजें और आकाश-वेधी शंखध्वनियाँ इसीलिए तो नहीं हैं कि विराट रथ के लौह चक्रों को चलाए रखने या उनके नीचे कुचले जाते लोगों की कराहें-चीखें औरों को सुनाई न दें ? दमन-तंत्र को बदलने में कहाँ मदद करती हैं ये पुरातात्विक उपलब्धियाँ ?

यह मेरी व्यक्तिगत अयोग्यता और अज्ञान ही है कि डी.डी. कोसाम्बी और डॉ. रामशरण शर्मा या यहाँ तक कि अंबेडकर की रचनाएँ जिस तरह खींचती और नई दृष्टि पाने का रोमांच देती हैं, वह डॉ. रामविलास शर्मा की प्रकांड पांडित्य-भरी रचनाएँ नहीं कर पातीं। वे सिर्फ मुग्ध और आतंकित करती हैं। शायद इसका कारण यह हो कि इतिहासकार के लिए टेक्स्ट प्रथमतः दस्तावेज है, कलाकृति बाद में। साहित्यकार उसकी कलात्मक, भाषिक या सौंदर्य छटाओं तक ही सीमित रहते हुए इस तथ्य को अनदेखा भी कर सकता है कि टेक्स्ट एक दस्तावेज़ भी है। उनका मुख्य हथियार एकेडेमिक भाषा शास्त्र है। चॉम्स्की का भाषा-शास्त्र उन्हें तीसरी दुनिया के संघर्षों से जूझनेवाला 'ऐक्टिविस्ट' बनाता है, रामविलास जी उसके माध्यम से वेदों में ही अटक जाते हैं।

विराट अध्ययन और पांडित्य के स्थान पर डॉ. रामविलास शर्मा ने वैदिक और औपनिषदिक आर्य-टेक्स्ट का ऐसा ही विश्लेषण भी किया होता तो हमें भी कोई नई दृष्टि मिलती।

अब तो हम उनकी तरह ऋषियों के महान और मानवीय चिंतन के सामने अभिभूत और नतमस्तक ही हो सकते हैं। वैदिक-आग्रह और बौद्धयुगीन वैचारिक विमर्श की लगभग अनुपस्थिति देखकर आश्चर्य ही नहीं होगा कि कल रामविलास जी का सारा वैदिक ज्ञान, हिंदुत्ववादियों के लिए सबसे बड़ा शास्त्रागार साबित हो। अपने सारे साहित्यिक वर्तमान को पहले भौतिक रूप से ध्वस्त और बाद में मानसिक रूप से अस्वीकार करते चले जाते रामविलास जी जिस तरह अतीत और अमूर्तन की दुनिया में चले गए हैं—वह आतंक तो पैदा करता है मगर पीछे बंजर ही उगाता है। आगरा के अपने निर्माणकाल से आज तक इस वट-वृक्ष ने अपने आस-पास सिर्फ ऊसर और उजाड़ ही छोड़े हैं। चिंतन हो या रचना, रामविलासजी अपने-आप में ही संपूर्ण हैं। वे अपने जीवनकाल में ही ऐसे क्लासिक ग्रंथ हो गए हैं जिसके होने या पास रखने में गर्व सभी महसूस करते हैं, पढ़ने या उनके माध्यम से अपने समय को समझने की हिम्मत कोई नहीं जुटा पाता। अब वहाँ दृष्टि नहीं, स्वयं उनके पांडित्य और पूर्वजों के अभिजात-चिंतन के प्रति श्रद्धा ही मिलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यहीं रामविलास जी से भैरव जी अलग हैं। सैद्धांतिक दृढ़ता या बौद्धिक लचीलेपन का अभाव दोनों के व्यक्तित्वों से एक दूरी और डर पैदा करता है। लेकिन भैरव जी में कहीं कुछ ऐसा भी है, जो अपने आस-पास या अपने साथ एक रचनात्मक गहमागहमी भी बनाए रखता है। उन्होंने एक पूरी कहानी पीढ़ी छोड़ी है। यहाँ कहने की जरूरत नहीं कि रामविलास जी अगर एक समय अखिल भारतीय प्रगतिशील संघ के जनरल सेक्रेटरी रहे थे तो भैरव जी भी जनवादी लेखक संघ के अध्यक्ष बने रहे। दोनों का अपने-अपने क्षेत्र में योगदान हम सबके सामने है। वर्चस्ववादी केंद्रीयता यानी वैदिक और वामपंथी महानता की एकांत श्रद्धा ने रामविलास जी को अपनी तरह 'नदी के द्वीप' की गरिमा दी, तो भैरव जी ने गंगा मैया की धारा के साथ किनारे बनने का अदृश्य अनुशासन और दिशा...हाँ, दोनों में एक और समानता जरूर है कि दोनों मानते हैं : गर्बाचौव के 'ग्लासनॉस्त' ने सोवियत व्यवस्था का विघटन किया। सही किसी हद तक स्टालिन ही था। "अगर वह इतना ही अत्याचारी और नृशंस था तो उसकी फौजें और जनता हिटलर से क्यों नहीं जा मिलीं ? वह संकल्प और बलिदान क्या थे कि महीनों लेनिनग्राद के घिराव के बीच भी सोवियत संघ दुनिया की सबसे बड़ी अविजेय फौजों से लड़ता रहा...यही नहीं, उसे चकनाचूर करके रख दिया..."

बहरहाल, अपने अंतर्विरोधों में भैरव जी स्वतंत्रता के बाद की कहानी के निर्माता और नेता तो थे ही...

'हंस', मई 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी-प्रदेश और वैचारिक संकट

जब श्रीकांत वर्मा ने लिखा था 'मगध में विचारों की कमी है' तो वास्तव में वे हिंदी-प्रदेश की ट्रेजेडी के बारे में लिख रहे थे। ग्रियर्सन ने 'हिंदी हार्टलैंड' नाम दिया था उत्तर प्रदेश और बिहार को। वस्तुतः इन्हीं दो प्रांतों से उत्तरी भारत की सारी मानसिकता को समझा जा सकता है। इसे डॉ. रामविलास शर्मा 'हिंदी जाति' कहकर गौरवान्वित करते हैं। जिसे हम भारतीय इतिहास कहते हैं, वैदिक काल से उसका निर्माण और निर्धारण इसी हिंदी-प्रदेश में हुआ है। यहाँ की बदलती सत्ताओं ने सारे भारत के राजनैतिक भूगोल को बदला है। न जाने कब से देश की राजधानियाँ यहाँ बनती-बिगड़ती रही हैं। मगर आज चारों तरफ से आवाजें उठ रही हैं कि बौद्धिक रूप से जड़, वैचारिकता में ठस, यह संस्कृति और सोच-विहीन प्रदेश ही क्यों सारे देश का भाग्य-निर्धारण करे ? चूँकि यहाँ देश की राजधानी है और सबसे बड़ा 'वोट-बैंक' यहीं बनता है और इसी बूते पर चार-चार प्रधानमंत्री यहीं के थे, इसलिए क्या इस क्षेत्र को यह निर्विवादित शाश्वत अधिकार मिल गया है कि वह अपनी मनमानी करता रहे ? यह वर्चस्व तो इसे सिर्फ बहुसंख्यकों की हुल्लड़बाजी और बुद्धिहीनों के 'बुलीइज़्म' (धौंस-पट्टी) से मिला है। वस्तुतः यह लोकतंत्र का विकृततम रूप है। सांस्कृतिक रूप से तो यह क्षेत्र, देश के बाकी प्रदेशों पर हावी नहीं हो पाया, लेकिन एक भयानक राजनैतिक संस्कृति ज़रूर इसने सारे देश पर लाद दी। मानवीय पतन का कौन-सा रूप है जो अपने चरम पर यहाँ नहीं है और फिर भी देश की अखंडता-एकता के नाम पर यह प्रदेश या यहाँ का भी एक वर्ग अपना वर्चस्व कायम रखना चाहता है। कब तक चलता रह सकता है यह सब ? देश को तो टूटना ही है। क्यों बर्दाश्त करें हम बुद्धिहीनों का असांस्कृतिक वर्चस्व ? कैसे तय हो गया कि हिंदी-प्रदेश के छोटे से क्षेत्र का इतिहास ही सारे भारत का इतिहास है या इस केंद्रीयता को तोड़ना सारे राष्ट्र को तोड़ना है ? अगर राष्ट्र या राष्ट्रीयता के अर्थ वही हैं, जो यह बता रहे हैं तो निश्चय ही हम इसके हिस्से नहीं हैं। उत्तर भारतीय वर्चस्व या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी एक पार्टी की सत्ता का विरोध करना, दूसरे शब्दों में मुट्ठी-भर लोगों द्वारा हथियायी गई केंद्रीयता को तोड़ना ही अगर 'राष्ट्रद्रोह' है तो हम उसके अपराधी हैं।

भड़ककर प्रत्यारोप करने से पहले हमें ईमानदारी से जाँचना चाहिए कि इन आरोपों नें सचाई कितनी है। सच पूछें तो मुझे वे बहुत बेबुनियाद नहीं लगते। आठ-नौ साल पहले मैंने 'इतना कायर हूँ कि उत्तर प्रदेश हूँ' नाम के लेख में इस सांस्कृतिक और बौद्धिक जड़ता को समझने की कोशिश की थी। ज़ाहिर है, बहुत हाय-हल्ला मचा। पहले मैं इस लेख का शीर्षक देना चाहता था, 'मूढ़ों का प्रदेश : उत्तर प्रदेश'। मूढ़ों से मेरा आशय मूर्खों और ढोंगियों से था। मगर फिर कवि धूमिल की पंक्तियों से काम चल गया। उसमें मैंने यही कहने की कोशिश की थी कि हज़ारों सालों से विश्व-प्रसिद्ध तीर्थों का केंद्र बने रहने के कारण यह प्रदेश न तो अपना बौद्धिक विकास कर पाया, न सांस्कृतिक। इसकी ज़रूरत भी नहीं समझी गई। चूँकि तरह-तरह के भगवान हमारे पास थे और सारे देश से श्रद्धा-भक्ति के मारे लोग यहाँ आकर हमारे चरण छूते थे, इसलिए शेष सबसे ऊँचा होने की ग्रंथियाँ और जटिलताएँ पनपती गईं। हमें अपने भगवान को और उससे जुड़े होने के नाते स्वयं अपने-आप को, सबसे पवित्र और श्रेष्ठ दिखाते रहने का इतना लंबा अभ्यास हो गया कि स्वयं हम उसे लगभग प्राकृतिक मानने लगे। दूसरे को अगर स्वर्ग में जाना है या मोक्ष पाकर अपना जीवन सार्थक करना है तो उसे हमारे भगवान यानी हमारी सेवा करनी ही होगी। होड़ यह लग गई कि किसका भगवान कितना श्रेष्ठ है और कौन-सा वर्ग कितनी घनिष्ठता से जुड़ा होने के नाते उसी श्रेष्ठता का अधिकारी है। चूँकि यह सारा खेल ब्राह्मण-वर्ग के बीच ही था, इसलिए वहाँ भी श्रेष्ठता की श्रेणियाँ बन गईं। धड़ाधड़ भगवत-महात्म्य के ग्रंथ आने लगे और उन्हें 'हजारों साल पहले विष्णु-ब्रह्मा या किसी ऋषि-महर्षि द्वारा रचित' बताकर अपौरुषेय सिद्ध किया जाने लगा। किंवदंतियाँ और लोककथाओं के अंबार लग गए। दुकानें सिर्फ अपने लिए ही नहीं चलानी थीं, उन्हें युग-युग के लिए स्थायित्व भी देना था। तीर्थों या टूरिस्ट-सेंटरों की मानसिकता ही चूँकि लूट की बन जाती है, इसलिए वे अपराधों के भी बड़े केंद्र बन जाते हैं। कहना चाहिए—यहाँ के वही उद्योग हैं, इसलिए किसी दूसरे उद्योग का सवाल ही नहीं है—छोटे-मोटे उद्यम अगर दिखाई भी देते हैं तो भी इस 'बड़े उद्योग' की एन्सिलरियों (सहायक इकाइयों) के रूप में ही काम करते हैं। परोपजीवी संस्कृति यहाँ अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में होती है।

अब जिस प्रदेश के पास काशी, वृंदावन, प्रयाग, अयोध्या, हरिद्वार, बद्री-केदारनाथ जैसे महान तीर्थ हों, वहाँ न किसी दूसरे उद्योग की जरूरत है, न संस्कृति और सभ्यता की। सारा देश हज़ारों सालों से अपने जीवन-भर की कमाई लाकर आपके चरणों में अर्पित कर ही रहा है—भौतिक सुख-सुविधाएँ कितनी निरर्थक और व्यर्थ हैं—तरह-तरह से यही समझाते रहिए और लड्डू-मलाई का तर माल उड़ाते रहिए। ऑब्रे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेनन इसे 'खाउओं और भकोसुओं' की संस्कृति यानी 'कल्चर ऑफ ग्लटन्स' कहता है। इसलिए हमने यहाँ विद्वानों के नाम पर या तो पुराने संस्कृत ग्रंथों को उगलने वाले रट्टू तोते तैयार किए, जो परम आत्मविश्वास और कर्मकांड के साथ हमें बताते हैं कि किस शास्त्र-पुराण में क्या लिखा है या फिर सौ-दो सौ लड्डू खा जाने वाले भोजन-भट्ट...आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हिंदी-प्रदेश ने आज तक न तो कोई बड़ा दार्शनिक पैदा किया, न मौलिक चिंतक। हाँ, टीकाकारों और भाष्यकारों की भरमार है अर्थात् वहाँ भी वे परोपजीवी ही हैं। जिन तीन-चार विद्वानों के नाम मैं याद कर पाता हूँ या जो अखिल भारतीय स्तर पर कहीं कुछ स्वीकृत हैं, वे हैं काशी प्रसाद जायसवाल, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य नरेंद्र देव, हजारी प्रसाद द्विवेदी, भगवतशरण उपाध्याय, रामविलास शर्मा और राममनोहर लोहिया। मगर ये सब उस हिंदू वैदिक परंपरा यानी ब्राह्मण-वर्चस्ववादी धारा के बाहर के लोग हैं। तथाकथित हिंदू-दर्शन को जिन्होंने कुछ नया दिया था, वे सारे आचार्य या तो सैकड़ों साल पहले दक्षिण से आए या फिर हज़ारों साल पहले ऋषि मुनियों के मिथ के रूप में रहे। हमने तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर के बाबा या 'भगवान' यानी गॉडमैन ही पैदा किए हैं—रजनीश, महेश योगी, धीरेन्द्र ब्रह्मचारी, चन्द्रास्वामी और देवरहा बाबा तक। ज़ाहिर है कि परोपजीवी या मुफ्तखोर लोगों की एकमात्र चिंता अपने-आप को श्रेष्ठ महान और साधारण लोगों की पहुँच (छूत) से बाहर बनाए रहकर अपने को सही सिद्ध (जस्टिफाई) करते रहने की होती है और एकमात्र डर और घृणा उत्पादन या श्रम को लेकर होता है। इसलिए धर्मग्रंथों में सिर्फ दान की भूरि-भूरि महिमा बखानी गई है, उत्पादन और श्रम कहीं है भी, तो आपद्धर्म या धर्मच्युति के रूप में। उत्पादन के प्रति इस घृणा का परिणाम, दलितों शूद्रों के प्रति ही अमानवीय व्यवहार नहीं, स्त्रियों के प्रति शत्रुता और हृदयहीनता भी है। बालिका-हत्या, सती और विधवा के लिए दी गई मर्यादाएँ इनका उदाहरण हैं। दुनिया की बर्बरतम जातियाँ भी अपनी स्त्रियों का वध इस तरह नहीं करती, जिस तरह शास्त्रों के समर्थन से हिंदू धर्म उन्हें मारता है। कल तक जो आपकी बहन, भाभी, चाची, माँ या मौसी थी, उसे किस नृशंसता से आप आग पर रखकर भून देते हैं। दहेज-दहन के बाद नई शादी के लिए परिवार का उत्साह देखकर कोई कह सकता है कि वहाँ कहीं कोई पाप या अपराध-बोध जैसा दंश है ? बेशर्मी और बेहयाई की हद यह है कि उसी स्त्री की प्रशस्ति में सप्तशतियों की संख्याएँ और ऊँचाइयाँ भी कम नहीं हैं। आज भी सती और बलात्कार की घटनाएँ प्रायः इसी प्रदेश में होती हैं।

प्रतिरोध या विद्रोह अगर कहीं दिखाई भी देते हैं तो वह या तो इसी श्रम और उत्पादन से जुड़े लोगों की ओर से हैं या सत्ता के छिन जाने और छीन लिये जाने पर हैं। वरना सवर्ण प्रभु वर्ग—यानी परोपजीवी वर्ग समझौते और सौदे ही करता रहा है, मुगलों के समय से लेकर आज तक, देश को लूटने-बेचने या कुचलने का काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी वर्ग की मिलीभगत से हुआ है। अपनी सुख-सुविधा या भौतिक संपत्तियों के लिए इस वर्ग ने या तो हमलावरों का साथ दिया है या व्यक्तिगत धरातल पर आध्यात्मिक गुफ़ाओं में मोक्ष तलाशी हैं। यह सब मैं नहीं कह रहा—नब्बे वर्ष पहले पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी अपने 'कछुआ धर्म' लेख में लिख गए हैं। सुना है कि फिराक ने भी कोई ऐसा ही लेख लिखा है। हिंदू प्रायः सामाजिक उत्तरदायित्व, जायज संघर्ष और प्रतिरोध से बचता है और इस शुतुरमुर्गी कायरता को 'शांतिप्रिय' होने के ढोंग का मुकुट पहना लेता है। जिस धर्म का छोटा-बड़ा हर देवता भेंट-पूजा के बिना कृपा-फल न देता हो, वहाँ सौदवाजी, घूस और उत्कोच ही जीवन-मूल्य बन बैठें, तो आश्चर्य क्या है ? वहाँ किसी नैतिक संकल्प या वैचारिक दृढ़ता की बात सोचना मूर्खता है। उसकी नैतिकता, साथी मनुष्य या समाज के प्रति व्यवहार से नहीं, लिंग-प्रयोग से निर्धारित होती है। चूँकि आज तक किसी सरकार ने जमीन और किसानों के संबंधों को आधारभूत ढंग से नहीं बदला है, इसलिए भू-स्वामी ही अपने ढंग से लोकतंत्र चला रहे हैं। गुंडों-लठैतों की फौज, जातिगत श्रेष्ठता और राजनैतिक संरक्षण ने उनके वर्चस्व को और व्यापक ही किया है। यही लोग 'भारतीयता' के नाम पर अगर सामंती मूल्यों की रक्षा नहीं करेंगे, तो इन्हें नीचे से उठते विद्रोह से बचाएगा कौन ?

किसी भी क्षेत्र की सांस्कृतिक अस्मिता वहाँ के बुद्धिजीवी और प्रबुद्ध वर्ग से बनती है। हिंदी-क्षेत्र ने स्वतंत्र रूप से सोच सकने वाले न बुद्धिजीवी पैदा किए, न वैसा प्रबुंद्ध वर्ग, जो अपनी अलग पहचान बनाता। जैसा कि मैंने कहा, यहाँ कम से कम हज़ार सालों तक या तो दार्शनिक स्तर पर दक्षिण के आचार्य छाए रहे या मुग़ल साम्राज्य से साँठ-गाँठ बनाए रखने वाले कुलीन घराने। इस्लाम के साथ पूजा करने और साथ खाने के लोकतांत्रिक आश्वासन ने हिंदू धर्म को और अधिक संकीर्णता और कूपमंडूकता ही दी है। मैं नहीं जानता कि रामायण, महाभारत की रचना कहाँ हुई—मगर यह जरूर जानता हूँ कि इनके पाठ पर सबसे अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से काम विंध्याचल के नीचे ही हुआ है। और तो और गीता के सर्वश्रेष्ठ भाष्य भी हिंदी-प्रदेश में नहीं किए गए। यहाँ या तो रटन्त विद्वता का साम्राज्य रहा है, या उन पाठों के ऊल-जलूल अर्थ निकालते रहने का उद्योग—किसी भी प्रतिरोधी स्वर को दबाने के लिए कीर्तन और भगवद् महिमा तो रामबाण हैं ही। तर्क न कर सको तो भगवान के नारे लगाओ। सिद्धों और संतों ने निश्चय ही यहाँ प्रतिरोध और विद्रोह की समानांतर संस्कृति का निर्माण किया, मगर वे इस वैदिक वर्चस्व से बाहर के लोग थे—उत्पादन और श्रम से जुड़े लोकजीवन के नायक...दूसरे शब्दों में, परोपजीवी अत्याचारों के विद्रोही परिणाम...जिन्हें कालांतर में हथिया लिया गया।

इधर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी पूर्वार्ध के हिंदी साहित्य को देखकर तो और भी आश्चर्य होता है। हममें से बहुत से लोग और विशेषकर डॉ. रामविलास शर्मा 1857 के सिपाही-विद्रोह को इधर का महत्त्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु मानते हैं। शायद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिवेशी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ वह सबसे बड़ा जन-विद्रोह है भी। उसमें परोपजीवी वर्चस्ववादियों ने नहीं; किसानों और साधारण जनता ने भाग लिया और परिणाम भुगते। वर्चस्ववादियों ने तो उनकी लाशों पर पाँव रखकर दरबारी तमग़े, लक़ब और जागीरदारियाँ हथियाईं, आक़ाओं की मदद से चुन-चुनकर बाग़ियों को सूलियाँ दिलवाईं। कहीं यही कारण तो नहीं है कि इतिहास के विद्यार्थी उस विद्रोह को चाहे जितना महत्त्वपूर्ण मानते रहें, समाजशास्त्रियों के लिए वह सबसे बड़ी चुनौती बना रहे, जनता लोक-गीतों में उसकी स्मृतियाँ जिलाए रखे—लेकिन हिंदी साहित्य के भद्र-इतिहास में उस पर एक पंक्ति देखने को नहीं मिलती। साठ-सत्तर साल बाद ले-देकर वही सुभद्रा कुमारी चौहान और वृंदावन लाल वर्मा...हो सकता है, डॉ. रामविलास शर्मा भारतेन्दु की स्वयं या आस-पास की दो-चार पंक्तियाँ इस विद्रोह की दबी प्रशंसा में निकाल दें—मगर हिंदी के मुख्य साहित्य में वह कहाँ है ? कम से कम उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में तो नहीं है। हाँ, बंगला में 'महाराजा नंदकुमार को फांसी' उपन्यास मुझे अभी भी याद है—वह भी अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय का प्रसंग है, इस विशिष्ट घटना पर नहीं। जैसे बाद में पं. सुंदरलाल का 'भारत में अंग्रेजी राज' या और भी बाद में दुर्गा प्रसाद खत्री का 'सफेद शैतान' और 'रक्त मंडल'। हाँ, मार्क्स के समकालीन लेबर नेता अर्नेस्ट जोन्स की 1857 पर एक लंबी कविता 'रिवोल्ट ऑफ हिंदोस्तान और राइज़िंग ऑफ ए न्यू वर्ल्ड' ज़रूर मेरे देखने में आई और मैंने उसका अनुवाद भी किया। विद्रोही विचारों के लिए जेल भुगतने के दौरान जोन्स ने यह कविता बाइबिल के पन्नों पर अपने रक्त से लिखी थी, क्योंकि लिखने-पढ़ने की कोई सामग्री उसे नहीं दी गई थी।

दरअसल, स्वतंत्रता के पहले का सारा हिंदी-साहित्य उभरते और बनते मध्य-वर्ग का साहित्य है। बदली हुई स्थितियों में अपनी समस्याएँ, तनाव, आकांक्षाएँ और असंतोष सभी कुछ वह कविता-कहानियों में बयान करता रहा है। वह दुविधा और 'डिबेट' का साहित्य भी है। वहाँ विद्रोह और विक्षोभ नहीं, नए शासकों के साथ तालमेल बैठाने की चिंता ज़्यादा है। अपनी प्राचीन महानता का आविष्कार भी वह मुख्य रूप से इसीलिए करता है कि नई व्यवस्था में सम्मानजनक स्थान पा सके। सवाल यहाँ यही है कि क्या वह हिंदी-क्षेत्र की अपनी निजी मनीषा का साहित्य भी है ? मेरे मन में इसे लेकर संदेह है, क्योंकि हिंदी क्षेत्र में अंग्रेजी राज की उस समय तीन स्पष्ट सतहें या लेयर्स हैं। ऊपर अंग्रेज, फिर नौकरशाही और समानांतर ज़मींदारी या सामंतशाही। तीनों के बीच घनघोर मिली-भगत है। साहित्य और संस्कृति मुख्य रूप से बना रही है यह नौकरशाही, इन्हीं मध्यवर्गीय परिवारों के लोग और व्यापारी वर्ग। अंग्रेज बहुत ऊपर है—उससे हमारा संबंध सिर्फ डर और खुशामद का है, हिंदू जमींदारों को अपने धर्म-कर्म साधु-संत, अंग्रेज अफ़सरों की ताबेदारी और सामंती शान-शौकत भरी ऐयाशियों से ही फुर्सत नहीं है—थोड़ी बहुत ब्रज भाषा की कविता, भजन-कीर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या मुजरे-संगीत। इन सबके साथ मुसलमान ज़मींदार ज्यादा पढ़े-लिखे और शेरो-शायरी के शौकीन हैं—रामपुर की विश्वविख्यात रज़ा और पटना की खुदाबख्श लाइब्रेरियाँ इनकी गवाह हैं। हिंदुओं में एकमात्र महाराज कुमार रघुवीर सिंह हैं। बंगाल तो ऐसे ज़मींदारों से भरा पड़ा है। हिंदी-क्षेत्रों की बनावट यह है कि यहाँ हर शहर में सबसे बड़ा डॉक्टर, सबसे बड़ा वकील और सबसे बड़ा प्रोफेसर बंगाली है; यानी यही बौद्धिक हलचलों का एकमात्र केंद्र है—न अंग्रेज, न हिंदुस्तानी। दूसरे शब्दों में सारा हिंदी-प्रदेश प्रशासनिक रूप से भले ही अंग्रेजों का उपनिवेश हो; बौद्धिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक रूप से बंगाली उपनिवेश के नीचे है। प्रोफेसर या एकाध अन्य अपवादों को छोड़कर हिंदी-क्षेत्र में रहने वाला यह बंगाली भद्रलोक यहाँ की भाषा, जन-जीवन या जन-असंतोषों से असंपृक्त है—अंग्रेजों के 'कैंटोनमेंटों' की तरह उसकी अलग दुनिया है। 'शेष प्रश्न' इसका अद्भुत उदाहरण है—कहानी का मुख्य भाग आगरा में है, मगर वहाँ ताजमहल और दो-चार बंगाली परिवारों को छोड़कर और कोई नहीं रहता। वहाँ इतनी भी स्थानीयता नहीं है, जितनी फौरेस्टर के 'पैसेज टू इंडिया' में है। बिना इस बौद्धिक बंगाली उपनिवेशवाद को समझे हिंदी-प्रदेश के न साहित्य को समझा जा सकता है, न संस्कृति और सोच को। मुझे तो लगता है कि स्वतंत्रता के पहले का सारा आधुनिक हिंदी साहित्य इसी बंगाली उपनिवेशवाद के ग्रहण और मुक्ति का साहित्य है। चूँकि बंगला पुनर्जागरण का केंद्र बंगाली मध्यवर्गीय भद्रलोक है जो मुख्य रूप से अंग्रेज़ी रोमांटिसिज़्म से प्रभावित है। इसलिए यहाँ भी उसकी अपील या संबोधन उसी वर्ग के प्रति है। वेशभूषा से सोच तक आज भी नरेश मेहता या जानकी वल्लभ शास्त्री इसके दयनीय उदाहरण हैं। अजीब लग सकता है, मगर स्वतंत्रता के बाद इस बंगाली वर्चस्व से मुक्ति या तो पश्चिम के संघर्षशील साहित्य के माध्यम से मिली ह, या स्थानीय जनान्दोलनों के साथ जुड़कर। शायद हिंदी के किसी विद्वान ने इस पर विचार नहीं किया कि अंग्रेजी उपनिवेशवाद से मुक्ति के साथ हम कहाँ-कहाँ सांस्कृतिक स्तर पर मुक्त या संयुक्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में, बंगाली प्रभाव से छूटकर ही हम दक्षिण, विशेष रूप से महाराष्ट्र के अधिक कद्दावर और आधारभूत पुनर्जागरण से जुड़ पाए हैं। हालाँकि रामविलास शर्मा शुरू से बौद्धिक स्तर पर सिद्ध करते आए हैं कि हिंदी-जाति का पुनर्जागरण, बंगाली मध्यवर्गीय पुनर्जागरण से गुणात्मक रूप से अलग और उससे अप्रभावित है। मगर वे जिन किसानों, खेतिहरों और सामान्य जनता के उभारों में इसे तलाश करते हैं, उनके लिखित प्रमाण हिंदी के शिष्ट साहित्य में कहाँ हैं ?

यहीं मुझे यह भी लगता है कि हमने बंगाली पुनर्जागरण के भी रचनात्मक और ऊर्जावान तत्त्वों को आपराधिक रूप से अनदेखा किया है। 'गोरा', 'शेष प्रश्न', 'पथ के दावेदार' या दूसरी ऐसी रचनाओं में धर्म, नैतिकता, परंपरा इत्यादि को जिस बेचैनी और छटपटाहट के साथ खंगाला गया है, हिंदी के छायावादी काल में न वह बेचैनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई देती है, न छटपटाहट। निराला, प्रेमचंद, रांगेय राघव, राहुल या बाद में यशपाल, अज्ञेय ही इसके अपवाद हैं। प्रसाद-जैनेंद्र ठंडे विचारक हैं। शताब्दी के पूर्वार्द्ध का साहित्य अपने मूल रूप में न 'रैडिकल' है, न 'रिवोल्यूशनरी'—वह सिर्फ सावधान 'प्रोटैस्ट' का रूमानी साहित्य हो सकता है। उसकी अंतःप्रकृति कंज़र्वेटिव और अतीत प्रेम है—यानी वही वर्चस्ववादी हिंदू मानसिकता से आक्रांत वरना क्या कारण है कि रसखान-रहीम के बाद सैकड़ों सालों तक (यानी शानी तक) न हिंदी में कोई मुसलमान है, न नामवर सिंह द्वारा प्रशंसित, न अधिगृहीत रैदास के बाद (ओमप्रकाश वाल्मीकि तक) कोई दलित। महादेवी को छोड़कर स्त्रियाँ भी प्रायः अनुपस्थित हैं। बंगला और उर्दू में उस समय जितनी लेखिकाएँ हैं, हिंदी में नहीं हैं। इस्मत जैसी तो है ही नहीं। शायद हम लोग यह प्रश्न भी नहीं करते कि समाज के ये महत्त्वपूर्ण वर्ग हमारी सोच से बाहर क्यों रहे हैं और क्यों हमने इन्हें अपनी मुख्य धारा में नहीं आने दिया ? उर्दू और बंगला इस मामले में ज़्यादा उदार हैं। वहाँ सरशार, चकबस्त, नसीम-फिराक हैं, तो रवींद्रनाथ को टक्कर देते काजी नज़रूलसलाम और बाद की शृंखला...क्रिश्चियन प्रतिनिधित्व तो आज तक हिंदी-क्षेत्र में है ही नहीं...

अपनी छद्म उदारता में हम उर्दू को हिंदी की छोटी बहन कहते रहे हैं, लेकिन सचाई यह है कि हिंदी साहित्य में राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रज, डिंगल-पिंगल सब हैं, सिर्फ छोटी बहन का प्रवेश वर्जित है। बरसों से भारत सरकार की तरह कमीशन बैठे हैं कि इसे क्यों या कितना प्रवेश देना है।

जिस महान हिंदी-प्रदेश के सांस्कृतिक परिदृश्य में न किसान-मजदूर हों, न मुसलमान और दलित हों, न स्त्रियाँ और आदिवासी हों, वह अगर परम रूढ़िवादी, पतनशील घुटन और अंधेरों से भरा बेजान है तो आचर्श्य की बात कहाँ है ? जो कभी इसका, तो कभी उसका सिर्फ उपनिवेश ही बना रहा हो, वह पश्चिम से मौलिकता उधार नहीं लेगा, तो कहाँ जाएगा ? उसे तो धुर अतीत और धुर पश्चिम का उपनिवेश होना ही है क्योंकि वहीं इन रिफ-रैफ या सिरदर्दी झंझटों से मुक्ति है। यहाँ, तो या नरेंद्र कोहली प्रकांड बुद्धिजीवी होंगे या अशोक वाजपेयी—हाँ, निर्मल वर्मा जैसे 'टू-इन-वन' भी इन्हीं में शामिल होंगे। क्या आपको नहीं लगता कि जिसे हम हिंदी-प्रदेश की संस्कृति कहते हैं, वह अंततः उसी परोपजीवी, ऊर्जाहीन, सवर्ण मानसिकता की जायज संतान है जो हजारों सालों से शुतरमुर्ग की तरह कछुआ-धर्म निभाती रही है ? या जिसने हिंदी-साहित्य की मुख्य धारा को सिर्फ संकीर्ण, सवर्ण, हिंदू-साहित्य बनाए रखा है ? अब दूसरी बात यह है कि अपने 'जस्टिफिकेशन' में आप कहें कि दुनिया में हर जगह संस्कृति और साहित्य मध्य वर्ग ही बनाता-निर्धारित करता रहा है और उसकी अपील इतनी ही सीमित रही है। मगर फिर इस बात का जवाब क्या है कि हमने दर्शन, साहित्य, विज्ञान, कला या किसी भी दूसरे क्षेत्र में प्रथम श्रेणी के मौलिक व्यक्तित्व क्यों नहीं पैदा किए ? हाँ, ढोंगी, तिकड़मी, अपराधी, रट्टू, खुशामदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नटवरलाल एक से एक हमारे पास हैं। विशेष रूप से विश्वविद्यालयों में...यथास्थिति संरक्षक और रूढ़िवादी।

मूलतः हमारे इस मध्य वर्ग को न किसी आदर्श की जरूरत है, न संस्कृति और साहित्य की। गांधीवाद को हमने गांधी जी के जमाने में ही अप्रासंगिक और फ़ालतू बना दिया था। इधर जैसे ही सुना कि मार्क्सवाद का अंत हो गया है, तो पलक झपकते ही इस अवांछित बोझ को भी उतार फेंका। कौन शोषितों, दलितों, गरीबों, बेकारों, समानता, समता, सामाजिक न्याय प्रतिबद्धता और लोक-कल्याण के पचड़ों में पड़े। सब फ़ालतू बकवास है। जे.एन.यू. जैसे फ़ैशनेबुल संस्थानों के दिमागी फ़ितूर हैं। लगता है, मानो अवसरवाद, सुविधापरस्ती और मूल्यहीन चूहा-दौड़ के लिए किसी तर्क और मौके की राह ही हम देख रहे थे। नेशनल और मल्टीनेशनल उपक्रमों ने लंगर खोल दिए हैं—आओ, और छको...जो बहुत नैतिकता, मूल्य, आदर्श की बात करे—उसे ठिकाने लगाओ। सारे टी.वी. सीरियल अपने दर्जनों चैनलों से चौबीस घंटे यही तो सांस्कृतिक उपदेश दे रहे हैं। पंचतारा हर्षद मेहता जैसे सटोरिए हमारे नायक हैं और सुष्मिता सेन नायिका। रही साहित्य और संस्कृति की भूख, तो सारे हिंदी लेखक वेद-पुराण, महाभारत, रामायण उलट ही रहे हैं। और कुछ नहीं तो वैष्णो देवी, भगवती जागरण, मुरारी बापू जैसे सांस्कृतिक केंद्र तो कहीं गए ही नहीं।

टनों और मनों के हिसाब से जितना घी, कपड़ा, लकड़ी, दूध यहाँ यज्ञों-हवनों या दूसरे धार्मिक अनुष्ठानों में फूँका और बहाया जाता है या गायों, कुत्तों, कौवों को खिलाया जाता है, वैसा दुनिया के किसी और धर्म में भी होता हो तो ज़रूर बताएँ। यह भी बताएँ कि शिक्षा, संस्कृति, कला-विहीन, राजनैतिक और धार्मिक नेतृत्व दसियों सालों से और किस दूसरे प्रदेश ने भुगता है ?

'हंस', अगस्त 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थगित यात्राएँ

आगरा को मैं याद नहीं करता, वह मेरे संस्कारों में बसा है। वहाँ की सड़कें, गलियाँ, चौराहे, आवाज़ें, आसमान, सुबह-शाम के मौसम, तरह-तरह की गंध, फेरीवालों के समय और बोलियाँ, बाज़ार, दुकानें—सब कुछ हर समय मेरे साथ होते हैं—ख़ास तौर से राजामंडी मुहल्ला। बहुत कुछ अब वहाँ नहीं है, मगर मेरे भीतर है। माँ की गंध की तरह। अंतरतम में कहीं यह भाव भी है कि एक दिन वहीं जाकर रहना है। शायद इसे ही मिट्टी की पुकार कहते हैं। लेकिन निश्चित रूप से मैं जानता ज़रूर हूँ कि अब वहाँ रहना होगा नहीं। वैसे भी, दो दिनों में बोर हो जाता हूँ। लेकिन बकौल ग़ालिब, 'गो मैं रहा रहीने सितम हाय रोज़गार, लेकिन तिरे ख़याल से ग़ाफ़िल नहीं रहा...' शायद इसी बात को अपने वृहत कहानी-संकलन 'पड़ाव 2' की भूमिका में 1989 में 'ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' में लिखा था...''हम सबका एक 'घर' होता है—बहुत प्यारा, संपूर्ण, सुरक्षित और स्वस्तिदायक...फिर हम 'बड़े' होते हैं और घर 'छोटा' होता जाता है, छूट जाता है। ज़िंदगी भर हम उसी की तलाश में भटकते रहते हैं—कभी सोच में, कभी सपनों में, कभी रचनाओं में, भौतिक उपलब्धियों में, प्रशस्तियों में, विद्रोह और समझौतों में, कभी निष्क्रियताओं में, तो कभी कर्म की दुनिया में ...मगर उम्र का, स्थान का, विश्वासों का, मूल्य और मान्यताओं का, भावनाओं और सुरक्षाओं का वह घर हमें कभी नहीं मिलता। लौटकर जाएँ तो भी पीछे छूटा हुआ न तो घर वही रह जाता है, न हम...जो कुछ मिलता है वह 'अपना घर' नहीं होता और हम सोचते हैं : कहीं कोई घर होता भी है ? इस सचाई का सामना करने से भी हम डरते हैं कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि सचमुच कोई घर हो ही नहीं और हम एक भ्रम को जीते रहे हों...क्या है यह 'घर' का भ्रम, जो हमेशा खींचता रहता है ? यह भी तो तय़ करना मुश्किल है कि घर की तलाश आगे की ओर है या पीछे की ओर ? यह स्मृति है या स्वप्न ? विज़न या नॉस्टेल्जिया ? या फैलकर बेहतर दुनिया के लिए आस्था ? कभी भी अधूरी छूट जाने के लिए अभिशप्त एक अंतहीन यात्रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही क्या हमारी नियति है ? उपलब्धियों के नाम पर कुछ पड़ाव, कुछ नख़लिस्तान ...चंद तस्वीरें बुतां...पात्रों के नाम से की जानेवाली कुछ आत्म-स्वीकृतियाँ... ।''

इसी घर का खिंचाव कभी आगे ले जाता है तो कभी पीछे—हम वहाँ निरंतर कुछ जोड़ते और घटाते रहते हैं। इसी जोड़-बाकी के ब्योरों का नाम है साहित्य... रचना। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि क्या दुनिया की सारी सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ उन्हीं लोगों ने तो नहीं रचीं जो विस्थापित थे और पीछे छूटे घर की याद में निरंतर वर्तमान और भविष्य की रचना करते रहे ? हमें ऐसे वर्तमान में फेंक दिया गया है जो लगातार हमें भविष्य में धकेल रहा है और हर 'है' को अनुक्षण अतीत बना रहा है। इस प्रक्रिया में हम अपने 'अब' को सिर्फ 'था' में बदलते जाने के निमित्तभर नहीं हैं ? जो 'था', वह कभी नहीं 'होगा', मगर हम उसे ही याद करेंगे, यानी उस स्मृति के किसी न किसी अंश को अपना सपना बनाते रहेंगे...वर्तमान और भविष्य चाहे जितने समृद्ध, संपन्न और महान बन जाएँ, मगर हमें हमेशा लगेगा कि जो बात पीछे थी, वह आज नहीं है। होगी भी नहीं। शव पर चढ़ें या सिंहासन पर, गले में हों या शीश पर, फूल तो हम पीछे छूटे किसी एक पेड़ के ही हैं। हम आज जहाँ हैं, वहाँ के हैं नहीं, 'बिलोंग' कहीं और करते हैं—कहाँ, यह भी हमें पता नहीं...एक भटका हुआ बच्चा जिसे अपने घर-बार, माँ-बाप, किसी का नाम—पता नहीं मालूम...मगर रोता उन्हीं के लिए है और हम समझाते हैं कि जहाँ हम उसे ले जा रहे हैं, वहीं उसके घर-बार, माँ-बाप सभी हैं। इस झूठ की रचना या पीछे छूटे हुए को वापस दे देने के आश्वासन का नाम ही सभ्यता-संस्कृति का विकास नहीं है... ? तब फिर हम क्या ऐसे शाश्वत शिशु ही हैं जो हर कहीं, हर किसी में अपना घर देखता है, बहुत कुछ बनाता और तोड़ता है और हर समय जानता रहता है कि यह उसका घर नहीं है...

इकबाल ने कहा था, ''बाग़े बहिश्त से मुझे हुक्मे सफ़र दिया था क्यूँ ? कारे जहाँ दराज़ है, अब मेरा इंतजार कर।'' क्यों निकाला था मुझे अदन के बाग़ से ? अब मैंने उसी अदन को अपने लिए बनाने में दुनिया का कारबार फैला लिया है, इसलिए मेरे लौटने का इंतजार तो तुझे ही करना पड़ेगा। मगर सचमुच कोई इंतजार कर भी रहा है कहीं ? कहीं कोई बचा है इंतजार करने के लिए ? क्या वह खुद अपने सफ़र में नहीं है ? ज़रूरी है कि अपने सफ़र में वह भी वही रह जाए, जो हमने छोड़ा था ? क्या वहाँ फिर वापस जाना मोहभंग और मौत नहीं है ? वापसी की आकांक्षा-जीवित रह सकती है, मगर स्वयं वापसी तो असंभव है, इसलिए मृत्यु है। बुद्ध ने कहा था, एक साँस, एक शब्द, एक वाक्य के बाद हम वह नहीं हो सकते जो उससे पहले थे—हर क्षण हम मरते और जीते हैं।

कहते हैं, आदमी हर क्षण अपने पीछे छूटे हुए किसी 'स्वर्ग' में लौटना चाहता है, जहाँ वह सुरक्षित और सुखी था। व्यक्तिगत स्तर पर माँ के गर्भ में लौटने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ललक है, छूटा हुआ असली 'घर' तो वही था। मगर वह यह भी जानता है कि वहाँ या किसी भी स्वर्ग में वह कभी नहीं लौटेगा। उसे अपना स्वर्ग खुद बनाना पड़ता है। इक़बाल की तरह या स्वर्ग से निष्कासित नहुष की तरह; किसी विश्वामित्र के मंत्रों पर सवार होकर...हमारी उस बेचैनी को समझकर न जाने कितने विश्वामित्रों ने हमें 'घर' या स्वर्ग देने के आश्वासन दिए हैं, सपने दिखाए हैं और वहाँ जाकर हमने पाया है कि न तो वह हमारा घर है, न वायदे का स्वर्ग...इस विश्वासघात से क्षुब्ध हम स्वयं उस घर और स्वर्ग को तोड़ते हैं–फिर से नए सपने के निर्माण के लिए...कितना थका देनेवाला, लेकिन कितना अनिवार्य है यह सिलसिला। हर बार किसी पैगम्बर, किसी गुरु या अवतार के दिए हुए सपनों का हिस्सा बनने की छलना, वहाँ पहुँचकर फिर एक नए नरक में पहुँचने का एहसास और फिर एक नए अवतार की प्रतीक्षा...फिर इस दुश्चक्र में धर्म, राजनीति या विज्ञान, तकनीक के नए-नए संप्रदायों को बनाते चले जाना, जो इसमें बाधक हैं, उन्हें हटाते या समाप्त करते चले जाना, ताकि अपने सपने को साकार किया जा सके। यानी सब मिलाकर हमेशा एक उम्मीद, संक्रमण और यात्रा में बने रहने की नियति...युग-युग धावित यात्री...किंतु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं...चरैवेति...चरैवेति...

क्यों हम मान लेते हैं कि हम जो अपना घर बनाएँ, वह सबसे ऊँचा, सबसे महान और सबसे स्थायी हो ? बिना दूसरे घरों को छोटा या ध्वस्त किए हम 'अपना घर' बना ही नहीं सकते ? यह ज़िद कहाँ से आती है कि बाक़ी सारे लोग या तो हमारे घर को ही अपना मानें या जहाँ मन हो, छोड़कर चले जाएँ। नहीं जाएँगे तो हम उन्हें भगा देंगे, मार डालेंगे या उन्हें गुलामों की स्थिति में पहुँचा देंगे । मज़ा यह है कि जिसे हम अपना घर कहते हैं, वह भी तो मेरा नहीं है। मैंने सिर्फ मान लिया है कि वह भी मेरा ही घर है। मैं स्वयं उसमें मेहमान या बाहरी आदमी हूँ और यहाँ मेरा दम घुटता है। पहला मौका आते ही मैं या तो उसे छोड़ देता हूँ या अपने को स्थगित किए गए अतिथि के रूप में मौक़े को तौलता हूँ। यह मेरी मंजिल नहीं, पड़ाव है। मैं नहीं छोड़ पाऊँगा तो मेरी तरह की दूसरी कोई बेचैन आत्मा इसे छोड़कर आगे बढ़ जाएगी। हो सकता है, मेरी थकान उससे अधिक हो या उसकी बेचैनी, घुटन और तलाश मुझसे ज़्यादा हो...हाँ, कभी-कभी मैं अपने-आप से ज़रूर पूछूँगा कि जहाँ पहुँचकर मैं रुक गया या जिसे मैंने 'घर' मान लिया, वह सचमुच मेरी मंजिल थी या थकान का वह बिंदु, जो हर यात्रा को अर्थहीन, एब्सर्ड या माया मानने का दूसरा नाम है। जहाँ पहुँचने पर दम टूटे, है वही काला काल..

अंतर्तम की कितनी गहराइयों को छूते हैं वे गीत, जिनमें बाबुल के घर जाने की कसक और कलक बोलती है ? वहाँ थे तो साजन के घर जाने की बेचैनी और अनिवार्यता थी और अब यहाँ हैं तो वह घर याद आ रहा है। एक बटोही दूसरे से पूछता है– वह घर पीछे था या आगे मिलेगा ? क्यों जा रहे हैं ये मानवीय काफिले,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर से उधर और उधर से इधर; कभी भूगोल में तो कभी इतिहास में—कभी नदियों, समुद्रों के पार तो कभी आसमानों से ऊपर...सभी को अपनी मंजिल, अपने शरण्य, और अपने घर ही तो खींच रहे हैं : अचल रे, अचल नहीं गिरि शैल, अचल है चलने का व्यापार...जब ज़ौक ने लिखा था, कौन जाए ज़ौक ये दिल्ली की गलियाँ छोड़कर ...तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उस समय मुग़ल साम्राज्य और संस्कृति की सारी यात्राएँ समाप्त हो चुकी थीं। यह शायर का मोह था जो सराय को मंजिल कहकर अपनी थकान को गरिमा दे रहा था।

जो विस्थापित हैं, भौगोलिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक यात्राओं में हैं, वे इतिहास, संस्कृति, विज्ञान रचते हैं। जो थक और ठहर गए हैं, वे स्मृतियाँ, नियम और कानून बनाते हैं, ताकि ठहरने को तर्क और स्थायित्व दे सकें। दूसरे जो अभी भी यात्रा में हैं, उन्हें वे अपनी शर्तों और सुविधाओं के अनुसार मेजबानी दे सकें और अगर वे स्थायित्व के लिए खतरा हैं तो उनसे निपट सकें। स्थायित्व का आग्रह ऐसा सोख्ता है जो हर परिवर्तन और यात्रा को सोख लेता है।

हम जो टिके और थके हुए लोग थे, आराम से बैठकर संस्कृति की जुगाली कर रहे थे, उन्हें झकझोरकर जगाया था विभाजन के बाद पंजाब से आए हुए शरणार्थियों ने। वे अपने को कहते थे पुरुषार्थी—और थे भी, क्योंकि अपने नए घरों की तलाश में वे हमारी यथास्थिति बदल रहे थे। चूँकि वे सचमुच यात्रा में थे, इसलिए अधिक डायनेमिक (गतिशील आक्रामक) थे। आज भी पाकिस्तान की सारी सामाजिक गतिशीलता का श्रेय उन्हें है, जो यहाँ से गए थे और मुहाजिर कहलाते हैं—वे अपने भौतिक घर छोड़कर धार्मिक घर की हिजरत पर थे। इन्हीं शरणार्थियों ने दोनों देशों की ज़िंदगी में नए क्षितिजों का अनुसंधान किया था, मकानों को घर मानकर बैठे हुओं ने नहीं। सचमुच संस्कृतियाँ और इतिहास बनाए हैं उन्होंने, जिन्होंने कैदखाने छोड़कर घरों के सपने देखे हैं और उनके लिए हिजरतें की हैं—धर्मों, मूल्यों, आस्थाओं की दीवारें फाँदी हैं। पिछला सब छोड़ और भूलकर...कभी आर्यों और हूणों की तरह तो कभी कोलम्बस और वास्कोडिगामा की तरह। अनजान देशों के लिए निकले अनाम यात्रियों ने ही हमें 'आज' तक पहुँचाया है।

'हंस' में जब हमने 'अभी दिल्ली दूर है' स्तंभ शुरू किया तो मन में कहीं ऐसी ही धुंधली तस्वीरें थीं। हम सब अपनी-अपनी दिल्ली पाने, न जाने कहाँ-कहाँ से आए थे—पुरुषार्थियों की तरह। कुछ बाहरी सरहदों और परकोटों तक ही रुक गए, तो कुछ भीतर गलियों-सड़कों तक आ पहुँचे। सोचा था सिंहासन लेकर रहेंगे—मगर पाया कि दरबार से बहुत दूर सड़कों पर छिड़काव करनेवाले भिश्तियों की लाइन में खड़े हैं। कोहिनूर तो क्या मिलता, सिर्फ एक छोटी-सी मश्क पाने के लिए एड़ियाँ रगड़ते रहे, जहाँ से आए थे वहाँ तो वह भी नहीं था। हो सकता है, कुछ के पास बहुत कुछ रहा हो, मगर अब वापस किस मुँह से जाते ? बहुत कुछ वाले जो पीछे छूट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए, वे भी तो रुंधे पानी की काहियों में पड़े सड़ ही तो रहे थे। मगर यहाँ ? घर की तलाश में हमने सिर्फ मकान बदले या बनाए...चूँकि दिल्ली पहाड़ियों पर बसी है, इसलिए दूर-दूर तक दिखाई देता है—पलामू, काला-हांडी से लेकर वाशिंगटन-कैलिफोर्निया तक। अस्थिरता और असुरक्षा के भय में आक्रांत एक ओर हम अपने मकानों को मजबूत कर रहे थे तो दूसरी ओर देश-विदेशों में सुरंगें लगा रहे थे, ताकि हमले के समय वहाँ से भाग सकें—न भी भागें तो दो-तीन ठिकाने बने रहना बुरा क्या है ? अपनी दिल्ली को वहाँ ले जाने और पेरिस-न्यूयार्क को यहाँ लाने की उठापटक कुछ होने का आत्मविश्वास तो दे ही देती है। कभी दिल्ली दरबारियों और सिपाहियों का शहर था। फिर धीरे-धीरे क्लर्कों और कांट्रैक्टरों का शहर बना। हमारे समय में यानी स्वतंत्रता के बाद कांटेक्टों (संपर्कों), काम्प्रोमाइजों (समझौतों) और कमीशन-ख़ोरों का केंद्र बनकर उभरा...इस बड़े स्टॉक-एक्सचेंज में हम भी अपने-अपने बस्ते (पोर्ट-फ़ोलियो) लिये आ बैठे और निगाहें गड़ाए रहे कि किसके शेयरों के भाव गिर या बढ़ रहे हैं। न सही खरीद-फरोख्त, तमाशबीनी ही सही...अब तो शायद खुद ही इस बात पर चकित होते हों कि किस तरह स्थितियों और चीज़ों को बदलने के विश्वास और आश्वासनों पर हम दिल्ली की ओर निकले थे, मगर फिर किस तरह धीरे-धीरे 'सब कुछ चलता है' या 'यह हो या वह, क्या फर्क पड़ता है'—के जादू में पड़कर सचमुच तमाशबीन ही होकर रह गए...। पहले बहुत दूर तक देखते थे और समझते थे कि हम भी वहाँ की यात्राएँ कर रहे हैं। आज दूरदर्शन उन सारी यात्राओं को हमारे मकानों के भीतर ले आया है। विदेशों से हवाओं पर आनेवाला यह आक्रांता हमें हमारे मकानों में ही कील रहा है।

मगर हमारे देखते-देखते अपनी-अपनी दिल्ली के लिए या जिसे हम अपनी दिल्ली समझे बैठे हैं, वहाँ से आगे वास्तविक दिल्ली के लिए यात्राएँ रुक गई हैं। अगर हवाई जहाज और रॉकेट अपनी-अपनी दिल्ली की खोज में दौड़ रहे हैं तो दूर-दूराज की निचली गहराइयों से उठकर आते हुए 'चलो दिल्ली' के नारे लगाते वे काफ़िले भी तो दिखाई दे रहे हैं, जो दिल्ली पर अपना दावा पेश करेंगे—या कर रहे हैं। हमारे पास दो ही तो विकल्प बचे हैं कि या तो उन्हें आने दें, बढ़ते प्रदूषण और घुटन में जितनी भी स्पेस बची रह जाए, उसी में साँस लेने का अभ्यास डालें, या फिर साम-दाम-दंड-भेद से उन्हें रोकें—अपने सारे बौद्धिक और भौतिक हथियारों से उन्हें ध्वस्त करें; चमत्कारों से उन्हें वापस करें और उनके ठस दिमागों में भरने की कोशिश करें कि उजड्डो, जाहिलो, गंवारो—दिल्ली तुम जैसों के लिए नहीं है। यहाँ होने के लिए हमारी तरह साधना करनी होती है, बड़ी जद्दोजेहद के बाद हमने ये सुविधाएँ और सिद्धियाँ पाई हैं। कम्बख्तो, क्यों उन्हें छीनकर या उसमें हिस्सा बाँट करने की धमकियाँ देकर हमें फिर से शरणार्थी बनाने पर तुले हो ? जहाँ हो, वहीं क्या बुरे हो ? समझते क्यों नहीं कि वही तुम्हारी असली जगह है। मगर नहीं, तुम्हें तो हमारी होड़ लगी है, मानो हम यहाँ बैठे सारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश की मलाई काट रहे हैं...कितना संघर्ष किया है यहाँ तक पहुँचने के लिए। दिल्ली के सपनों ने तुम्हें तो बे-घरबार किया ही है, अब क्या हमें भी ख़ानाबदोश बनाकर छोड़ोगे ? कुछ नहीं रखा इन मरीचिकाओं में। एक दिन हम भी तुम्हारी तरह यहाँ आए थे और यहाँ की सरायों में टिके थे और अब देखो, खुद सराय बनकर रह गए हैं। सत्ता, विचार, संस्कृतियां, प्रदूषण सब देश-विदेश से यहाँ आते हैं और हममें से गुज़रकर आगे चले जाते हैं—स्पेस में, टाइम में—या इन सबके पार...आज तो हमें यह भी नहीं पता कि हम सराय हैं या मुसाफिर...क्योंकि हममें से हरेक का एक पाँव बाहर है...जीना हराम ही कर दोगे तो उठकर वहाँ चले जाएँगे। हाँ, इतना याद रखो जब तक दम में दम है, न तुम्हें यहाँ तक आने देंगे, न अपना सब कुछ छोड़-छाड़कर तुममें से एक बनने की यातना बर्दाश्त करेंगे...।

क्या यह कराह महफ़िलों, मुजरों, महलों और दरबारों में ऐश करते मुगल साम्राज्य के आखिरी रईसों, अमीर-उमरा की याद नहीं दिलाती जब चारों तरफ से उजड्ड-गंवार यानी जाट, मराठे, रुहेले दिल्ली पर हमले कर रहे थे और सारी सभ्यता, संस्कृति और योग्यताओं को धूल में मिला रहे थे ? उन अभिजातों, कुलीनों या एलिटिस्टों के तर्क चाहे जितने भी सही लगते हों, इतिहास का तर्क उनके खिलाफ ही तो गया। क्या संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ तभी आता है, जब उसे पैदा करने वाली व्यवस्था मौत की साँसें गिन रही होती है—यानी अपनी जगह छोड़ने और अगली यात्रा करने से इनकार कर देती है। 'लुटेरों' से अपने-आप को बचाए रखने में व्यस्त दिल्ली ने भी कहाँ देखा था कि समुद्र-पार से बढ़ता हुआ उपनिवेशी हाथ उन्हें इतिहास के कूड़ेदान में फेंक रहा है।

जानी-अनजानी, छोटी-छोटी और दूर-दराज की ज़मीनों से आनेवाले इन लुटेरों से अपनी दिल्ली को बचाए रखने की लड़ाइयों में हम शायद उधर ध्यान नहीं दे पा रहे कि हमसे अलग और दूर कहीं कोई और भी हैं, जिन्होंने हमें हमारे घरों में बंद करके बाहर से ताले लगा दिए हैं और खुले-खजाने लूट रहे हैं। एक ही जगह बने रहने की हमारी कमज़ोरी भी वे जानते हैं और चाहते हैं कि हम जहाँ हैं, वहीं बने रहें या जो भविष्य वे हमारे लिए तय करें—हम उसे ही अंतिम मानकर इन विस्थापित निचलों से उन्हें बचाएँ। खुद अपनों से लड़ने या अपने ऊपर आश्रित और निर्भर बनाए रखने के लिए सभी कुछ तो वे हमें दे रहे हैं—सुख, सुविधा, संपन्नता, ऐश और अपनी तरह सभ्य बनाने की संस्कृति...इस बार वे प्लासी की लड़ाई नहीं लड़ेंगे, न दिल्ली और लखनऊ के मालिकों को कैद करके कहीं किसी मटिया-बुर्ज में ले जाएँगे। वे चीन की तरह दोनों हाथों अफ़ीम बाँटेंगे। जन-जन को उपभोक्ता बनाएँगे। आराम से बैठो और खाओ—वही सब खाओ-पहनो, जो हम पहनते-खाते हैं। बना-बनाया तैयार है, इसलिए बनाने की ज़हमत उठाने की भी ज़रूरत नहीं है। बदले में हम क्या ले रहे हैं, इसे भूल जाओ। सपने और भविष्य किसी को कहीं का नहीं छोड़ते—फिर तुम्हारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास तो इतना भव्य अतीत है, महान संस्कृति है, विश्व-विजयी अध्यात्म है—तुम कहाँ भौतिकता, समानता और शोषण-मुक्ति जैसे झूठों के चक्कर में पड़ते हो—वह कभी नहीं होता, हो नहीं सकता। मानव-प्रकृति में ही नहीं है। हमेशा अधिकांश को चूसकर गिने-चुने कुछ महान बनते हैं। और इस तरह भारी-भरकम अतीत की सांकलें डालकर उन्होंने हमारा भविष्य अपनी मुट्ठी में ले लिया है—हमारी दिल्ली तो उनके चंगुल में कैद है, हर यात्रा को वे पीछे मोड़ रहे हैं। कितनी अजीब विडंबना है कि 'अपनी दिल्ली' तक हम किसी को आने नहीं देंगे, मगर हमारी दिल्ली सात समुद्र पार क़ैद है...हमारे हाथों में पकड़ा दिए गए हैं धर्म, राष्ट्रीयता और संस्कृति के झुनझुने। कुतुवनुमा हमारे सारे उनके पास हैं, और यही पता नहीं कि हम अतीत की ओर जाते हुए शरणार्थी थे या भविष्य की ओर...

कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि क्या हर दिल्ली का इतिहास यही है कि जो यहाँ आकर जैसे-तैसे जम गया, वह हर आनेवाले को अयोग्य, अक्षम और घुसपैठिया कहता रहे ? हर सत्ता को स्थिरता चाहिए और उससे जुड़े हम उसे भंग नहीं होने देंगे। जब हम आए थे तो क्या सचमुच हमारे सामने अपने होने का यही सपना था जो आज हम हैं ? उस सपने को हमने तोड़ा-मरोड़ा और छोड़ा नहीं है ? उतनी ही अनिश्चिताओं में, अगर वे जो घाटियों या तलहटियों से आ रहे हैं, तो हमारी नींदें क्यों हराम हो रही हैं ? हमारा अधिकार इतना ही तो है कि हम ट्रेन के अनारक्षित डिब्बे में पहले से जमे बैठे हैं। इसलिए हर नए घुसनेवाले को बाहर धकेल रहे हैं। हम भी तो इसी तरह कहीं से बैठे ही थे और आगे उतर जाएँगे। सभी तो मूलतः यात्री हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि हमने अपनी यात्राएँ स्थगित कर दी हैं। इसलिए कुढ़ रहे हैं कि 'वे' अभी तक क्यों यात्रा में बने हैं और क्यों हमें ठोक-ठोककर बता रहे हैं कि हम यात्री हैं। कम मुसीबत तो नहीं है उनकी यात्राओं को रोके रखना और इसी बीच अपनी वैकल्पिक यात्राओं की व्यवस्था कर लेना। क्योंकि वापस लौटना संभव है। मैं निश्चित जानता हूँ कि मैं अब कभी वापस आगरा नहीं जाऊँगा। आडवानी चाहे जितनी राम रथों पर सवारी गाँठें, वे भी नहीं लौटेंगे—न भूगोल में, न इतिहास में।

पगड़ी अपनी संभालिएगा 'मीर'
और बस्ती नहीं, ये दिल्ली है

'हंस', जुलाई 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण'
बर्थेल्ट ब्रैस्ट

कुछ तस्वीरें दिमाग़ में इस तरह छा जाती हैं कि बार-बार लौटती हैं—लगभग आक्रांत करती हुई। पिछले दिनों अमरीका ने इराक को सबक सिखाने के लिए विराट ताम-झाम के साथ हमला किया। शेर और बकरी की लड़ाई थी। सोवियत संघ के विघटन के बाद चक्रवर्ती सम्राट को अपना विश्व-वर्चस्व घोषित करने के लिए एक नरमेध तो करना ही था। अखबारों, दूरदर्शनों और अन्य संचार-माध्यमों की मदद से ऐसा माहौल तैयार किया गया मानो एक महान दंगल होने जा रहा है और उसे सारी दुनिया अपने-अपने घरों में दूरदर्शनों पर देख सकेगी—रोचक, रोमांचक और लोमहर्षक पेशकश। अंत पहले से तय था। फिर भी हम सबने साँस रोककर देखा, छोटे पर्दे का सारा ज़ोर अंतरिक्ष-युद्ध पर था। दीवाली की आतिशबाज़ियों वाला दृश्य। पटाखे नहीं, सचमुच के बम, प्रक्षेपास्त्र, मिसाइलें—सारे आसमान को जगमगाते, एक दूसरे से टकराते, फूटते और विस्फोट करते हुए, पर्दे पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिजली की तरह कड़कते-कौंधते। हम सब चकित, चमत्कृत और स्तब्ध थे : विज्ञान और टेक्नॉलाजी ने कितनी ऊँचाइयाँ छू ली हैं—क्या 'प्रिसीज़न' है, क्या 'एंटीसिपेशन', क्या कौशल और क्या दक्षता। विज्ञान के क्षेत्र में मानव-मस्तिष्क की अभूतपूर्व उपलब्धि, मेधा का चरम उत्कर्ष...रामायण और महाभारत सीरियलों में जब बाण और आग्नेयास्त्र ऊपर ही ऊपर टकराते, विस्फोट करते और कड़कड़ाते थे तो मन में अविश्वास होता था। पीछे कैमरा चमत्कार होने की बात दिमाग में रहती थी। यह तो सब कुछ सामने और साक्षात् घटित हो रहा था—स्कडें और मिसाइलें भयानक धमाकों के साथ एक-दूसरे को भस्म कर रही थीं।

ख़ासियत यह थी कि यह सारा 'दर्शन' आसमानी ही अधिक था—कैमरे धरती पर कम ही आते थे। आते भी थे तो अधिकांश उन मोर्चों और ठिकानों पर टिकते थे जहाँ से यह सब संचालित-नियंत्रित हो रहा था—युद्ध-क्षेत्रों से लेकर मंत्रणा-कक्षों तक। जो चीज़ ये कैमरे नहीं दिखा रहे थे—वे थे इन सबके परिणाम; धरती पर होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले नाश और ध्वंस—मरते, चिथड़े-चिथड़े होते, चीखते-कराहते, भागते हुए लोग—खील-खील बिखरते घर और बस्तियाँ—लंका-दहन के दृश्य जो तुलसी ने कवितावली में विस्तार से दिए हैं—यानी आग और धुएँ का तांडव...चिरायंध, लाशें और मलबा ...गनीमत है कि यह युद्ध कुछ दिन ही चला और दुश्मन से पूरी तरह चीं बुलवाकर समाप्त हो गया—पीछे हृदय-विदारक और भयंकर तस्वीरों के ढेर छोड़कर...हाँ, मुख्य सूत्रधार और मंच संचालक पूरी तरह सुरक्षित रहे...तुष्टि और विजय से तृप्त...

मगर भारतीय समाज में यह युद्ध तीन हजार सालों से चल रहा है और आज भी रुकने के कोई आसार दिखाई नहीं देते। पता नहीं क्यों, जब भी कोई विद्वान, विचारक, संत और शास्त्री, श्लोक-दर-श्लोक उद्धृत करते हुए दहाड़ता है और भारतीय चिंतन, दर्शन, शास्त्रों और संहिताओं की महानता सिद्ध करते हुए पचासों बार दुहराता है कि 'जैसा कि हमारे यहाँ कहा गया है' या 'इस विषय में ऋषि का वचन है' तो मुझे दूरदर्शन पर दिखाए जाने वाले अमरीका-इराक के युद्ध-दृश्य याद आने लगते हैं। निश्चय ही ये श्लोक और उद्धरण भारतीय मनीषा और चिंतन का सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुत करते हैं और इनके द्वारा हम निर्विवाद रूप से सिद्ध कर सकते हैं कि हमारे पूर्वजों के मानवीय सरोकार कितने उदात्त, कितने विश्व-व्यापी थे, कि वे देश काल के पार कितनी दूर तक देख सकते थे, कि वे सच्चे अर्थों में क्रांतदर्शी थे...हाँ, जो हम नहीं देखना चाहते वे हैं इन आसमानी अचूक प्रक्षेपास्त्रों के ज़मीनी परिणाम...उन्हीं की दी हुई व्यवस्था है कि भारतीय संस्कृति आज तक बची हुई है—वह महान और अनश्वर है...'बाक़ी मगर है अब तक, नामोनिशां हमारा' की आत्मप्रशस्ति में क्या सचमुच हम यह सवाल पूछना ही नहीं चाहते कि यह व्यवस्था अमरीका के सुरक्षित और संरक्षित कक्षों में बैठे हुए क्लिटन-रीगन गिरोहों के लिए 'कल्याणकारी' है या इराक के बारूद और धुआँ गंधाते भू-खंडों के लिए ?

मानव-मात्र का शुभ और कल्याण सोचने-कहने की हवाई ऐयाशियों में जीने वालों ने क्या अपने आपसे यह सवाल भी पूछा है कि अपने ही समाज के बहुसंख्यकों को वे क्यों इस दायरे में नहीं मानते ? 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' की सर्वव्यापी और वैश्विक व्याख्याएँ क्यों वहाँ के सीमांतों तक नहीं पहुँच पातीं ? वहाँ क्यों उन्हें "पिछले जन्मों में जैसा करोगे। इस जन्म में वैसा भरोगे !" के कर्म और भाग्यवादी नृशंस आश्वासनों के झुनझुने पकड़ा दिए जाते हैं ? उन्हें 'मानव' मानने की रियायतें क्यों उन्हीं शर्तों पर हासिल हैं जो सिर्फ आपके वर्चस्व के अनुकूल है ? कह सकते हैं कि यह व्यवस्था है और व्यवस्था क्रूर ही होती है, वरना चल नहीं सकती। यानी भारतीय संस्कृति की महानता को बचाए रखने के लिए बहुलांश को वंचित, दलित, शोषित, अपढ़ और अस्पृश्य बने ही रहना होगा। आप लाख चीखते रहें, कोढ़, कर्स या लानत बताते रहें। मगर समाज और परिवार के स्वास्थ्य के लिए आखिर अन्य 'जन-सुविधाओं' की तरह वेश्याएँ भी तो ज़रूरी ही हैं। वेश्याओं को बनाए रखना सामाजिक व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ज़रूरत है, नारी की महिमा का गुणगान सांस्कृतिक औदात्य की। दोनों दो अलग ज़रूरतें हैं और एक-दूसरे की पूरक हैं। पता नहीं, यह गुणगान प्रायश्चित है या बेवकूफ़ बनाने की लफ्फ़ाजी...

इसी संवेदनहीनता, छद्म और आडंबर की शिकार रही है स्त्री। उसे वर्ग, वर्ण की सीमाओं के साथ-साथ सेक्स के धरातल पर 'मानव कल्याणी' शास्त्रों और मनोवृत्तियों को भी भुगतने वाली नियति स्वीकार की 'छूट' दी गइ है। वह पुरुष की मर्यादा है, यानी वर्चस्वी व्यवस्था की सारी मर्यादाओं का निर्वाह करने की ज़िम्मेदारी सिर्फ उसकी है। वर्ग और वर्ण कोई हो, सेक्स या शील की मर्यादाएँ तोड़ेगी तो उसे उसकी जगह दिखा दी जाएगी। अपने को दलितों में शामिल किए जाने के अपमान से तिलमिलाने वाली प्रबुद्ध और समृद्ध महिला भी शील और सेक्स की मर्यादाएँ तोड़कर अपनी हैसियत जाँच सकती है। उसे दिए जाने वाले सामाजिक, पारिवारिक सम्मान, प्रतिष्ठा और पद हमारे द्वारा निर्धारित आर्थिक और नैतिक (सेक्स ?) मर्यादाओं द्वारा तय होंगे। स्वयं उसने हजारों सालों में हमारी आकांक्षाओं और 'एटीच्यूड्स' को इतना अधिक आत्मसात कर लिया है कि अपनी सीमाएँ 'स्वयं' जानती है। वह यह भी अच्छी तरह जानती है कि इन मर्यादाओं को तोड़ने या कुछ 'ऊँच-नीच' करने पर हत्या, आत्महत्या, निष्कासन, बहिष्कार की सजाएँ उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं। मौका मिलते ही अमूर्त मर्यादाओं को पूर्व रूप देने के लिए जागरूक प्रहरी ही नहीं, सामाजिक परंपराएँ और शास्त्र—सभी तैनात हैं।

अमूर्तन, हमारी समझ को सीमाबद्ध रखने वाले 'ठोस' से हमें मुक्त करता है, हम व्यापक और वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में चीज़ों को देख पाते हैं, यह सामान्यीकरण न हो तो वैज्ञानिक और तार्किक नतीजे निकाले ही नहीं जा सकते। वह व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण है—यानी वस्तु को भाव और अनुभव को संवेदना में बदलने की प्रक्रिया है। तभी एक का सत्य, सभी का सत्य बनता है। इसके बिना हम देश और काल की सीमाएँ नहीं तोड़ पाते। दी हुई वास्तविकता के गुरुत्वाकर्पण से छूटा हुआ 'अमूर्तन' सार्वकालिक और सार्वभौमिक होने का गुण प्राप्त कर लेता है और शाश्वत सत्य का भ्रम देने लगता है। चूँकि अमूर्त हो चुके तथ्य की पतंग, अपनी डोर से टूटकर स्वतंत्र और 'स्वायत्त' हो जाती है, इसलिए अपने सत्यों का निर्माण स्वयं करने लगती है—यानी एक अमूर्तन से दूसरे या अगले अमूर्तन 'होते' चले जाते हैं। फिर यह पतंग कभी वापस नहीं आती, इसका आइडिया या स्मृति ही हमारी बौद्धिक संपदा होती है। अक्सर जब हम इस अमूर्तन को वापस इसकी 'जन्मभूमि' तक लाते हैं तो देखते हैं कि वास्तविकता वह नहीं है जो बौद्धिक द्रवीकरण की रसायन से गुजरा हुआ 'अमूर्त सत्य' हमें दिखा रहा है। अक्सर वह अपनी ही स्रोत-वस्तु के विरोध में खड़ा होता है और उसके ठोस होने को ही नकारता है। यहाँ सामान्यीकरण, विशिष्ट का अस्वीकार बनकर आता है। मूर्त की सहजवृत्ति भले ही अमूर्त होते जाने की हो, मगर अमूर्त, अनिवार्यतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूर्त का शत्रु होकर ही आता है। 'हमारे यहाँ' मानवमात्र के कल्याण का निरूपण करने वाले भव्य और गरिमामय वाक्य, निश्चय ही हमें आत्मगौरव के उदात्त संस्कारों से भर जाते हैं, मगर वे हैं मूलतः मानव-विरोधी, ठीक वैसे ही, जैसे स्त्री की महिमा गाने वाली सारी सूक्तियाँ, वास्तविक स्त्री की यातना की ओर से अंधी हैं। स्वर्गिक देवी गुणों और शक्तियों से मंडित होने की प्रशस्तियाँ किस स्त्री को महानता की मीनारों पर नहीं फेंक देंगी ? मगर वे सब इतने भारी भरकम तामझाम हैं जिनका बोझ उसे कुचलकर रख देता है। वह सत्यजित राय की फिल्म 'देवी' की तरह 'देवीत्व' की यंत्रणा में घुट-घुटकर मरती है। मानवी होने को अस्वीकार नहीं कर पाती और 'देवी' होने का बोझ झाड़ नहीं पाती, इसलिए हमेशा एक अपराध-बोध उसे भीतर से तोड़ता रहता है। महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियाँ' से लेकर सिमॉन द बोउवा तक ने 'सेकिंड सेक्स' में 'देवत्व' के इन तिलिस्मों को तोड़कर वास्तविक औरत की प्रतिमा को झाड़-खुरच कर साफ़ किया है...

'पूर्णाहुति' की लेखिका सरयू शर्मा से मैंने एक सवाल किया था कि कहानी के पति का सारा व्यवहार पति की व्यक्तिगत मानसिक विकृति है या सामान्य सामाजिक व्यवहार ? उसे यह संस्कार या अधिकार किसने दिया कि वह लगभग सामाजिक स्वीकृति के साथ पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार करे ? वह पति और स्वामी है, इसलिए पत्नी के हाथ-पैर तोड़ सकता है, भूखा मार सकता है या बाकायदा हत्या कर सकता है—यह उनका निजी पारिवारिक मामला है—इस सामाजिक स्वीकृति या परंपरा को मान्यता देने के पीछे की मानसिकता कहाँ से आती है ? स्त्री के संदर्भ में पुरुष अधिक बलिष्ठ, वरिष्ठ, शासक, स्वामी, विवेदी और नियंता है—यह 'वर्चस्व' भाव या लगभग शाश्वत सत्य अगर हज़ारों सालों से हमारे सारे धर्मशास्त्रों, नीतिग्रंथों, स्मृतियों, संहिताओं, साहित्य और लोककथाओं से छनता हुआ सामाजिक मान्यताओं के रूप में स्वीकृत न हो जाता तो कैसे पति की 'प्रकृति' बन सकता था ? और अगर आज हमें यह सारा पुरुष-वर्चस्व अप्राकृतिक, अमानवीय, लोकतंत्र विरोधी, गैर-आधुनिक, अवैधानिक और क्रूर लगता है, तो क्या इसके पीछे इस सारी सामंती संस्कृति के खिलाफ़ लोकतांत्रिक विश्वास नहीं है, जिसका एक नाम 'मानवतावाद' भी है ? मगर नहीं, हम सब इतनी दूर तक नहीं जाना चाहते, सरयू जैसे संस्कारी तो और भी नहीं। हमें सचमुच यह स्वीकारते मानसिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक कष्ट होता है कि पुरुष-वर्चस्व की धारणा ही नहीं, भारतीय संस्कृति का 'श्रेष्ठ' मूलतः सामंती विश्वासों की देन है। अगर वह श्रेष्ठ या निकृष्ट है तो अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ है; हम न चीन की दीवार को तोड़ेंगे, न अजंता-एलोरा या ताजमहल को। पुराने दर्शन, साहित्य, संगीत सभी कुछ हमारी धरोहर हैं, मगर यह दृष्टि तो साफ रखनी ही होगी कि वे ऐतिहासिक अनिवार्यताएँ थीं और आज स्वयं इतिहास ही हैं, हमारा वर्तमान नहीं। जिज्ञासा, गौरव और निरंतरता की खोज में हम वहाँ जाएँ, यह एक बात है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगर वे स्वयं आकर हमारी जिंदगी निर्धारित करते लगें तो 'पूर्णाहुति' ही लिखनी होगी। कहानी हो या जीवन—सामंती संस्कारों की पड़ताल हमें अनिवार्यतः सांस्कृतिक स्रोतों और कुछ 'पूज्य-ग्रंथों' के सामने ला खड़ा करती है। यहीं वह द्वंद्व या भय है जिससे हम मुठभेड़ नहीं करना चाहते। इन पूज्य ग्रंथों की प्राचीनता ने एक ऐसी तर्कातीत श्रेष्ठता, महानता, पवित्रता और दैवी महिमा प्राप्त कर ली है कि आज के वैज्ञानिक उपकरणों से उनकी जाँच करते हमारे हाथ-पांव काँपते हैं : कहीं हम सचमुच ही किसी बहुमूल्य को तो नष्ट नहीं कर रहे ? जब तक वे एक रहस्य-कवच में हैं, तभी तक सुरक्षित हैं, इस कुहासे को हटाते ही कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि इनकी महानता का सारा मिथ ही झटके से टूट जाए और हम स्वयं उस धक्के या 'विश्वासघात' को बर्दाश्त न कर पाएँ ? अजीब मनोवैज्ञानिक यंत्रणा है कि न हम उन पूज्य और पवित्र ग्रंथों के प्रति अविश्वासी या क्रिटिकल (तार्किक ?) होना चाहते हैं, न उन स्रोतों से हम तक छनकर आई या स्वयं उनके द्वारा समर्थिक अमानवीयता को स्वीकार ...इतना ही नहीं, यहाँ हम एक बौद्धिक चालाकी के भी शिकार हैं कि नृशंस समाज-व्यवहारों और उन 'मूल स्रोतों' के बीच किसी भी संबंध को ही अस्वीकार कर देते हैं। अग्नि-परीक्षा, उच्च शिक्षा-विरोध या वेदादि ग्रंथों के स्त्री-पाठ का निषेध, सती-प्रथा और 'डायन-हत्या' (विच हंटिंग) के समर्थन के लिए हमारे 'जगद्गुरु' जिस सांस्कृतिक दुस्साहस का प्रदर्शन करते हैं, यह हमें अमानवीय और मूर्खतापूर्ण ज़रूर लगता है, मगर वहाँ भी हम चतुराई से इन दुस्साहसी क्विकज़ोटों के पीछे खड़े 'पवित्र ग्रंथों' को यह कहकर बचा ले जाते हैं कि यह उनकी अपनी मिस-रीडिंग (विकृत पाठ) है, वहाँ ऐसा कुछ नहीं है।

केंद्रीयकरण, विखंडन को जन्म देता है। राष्ट्र, राज्य, धर्म, संस्कृति, नस्ल-केंद्रीकरण के ये आज़मूदा हथियार हैं। इन्हीं की अपील लेकर केंद्र अपनी सत्ता और वर्चस्व बनाए रखता है; अक्सर भय दिखाता है कि राष्ट्र की एकता और अखंडता ही नहीं रहेगी तो हम कहाँ रहेंगे। इस वर्चस्व का विरोध करने वाला हर तत्त्व बग़ावत माना जाता है। औरंगजेब की चक्रवर्ती केंद्रीयता ने ही बाग़ी मराठों, राजपूतों, रूहेलों और जाटों को परवान चढ़ाया और इंदिरा गांधी की इसी नीति ने तमिलनाडु से लेकर कश्मीर, उत्तराखंड, खालिस्तान, झारखंड या बोडोलैंड के हिंसक उभारों को जन्म दिया। राष्ट्र, धर्म, जाति, लिंग का केंद्र वर्चस्व जब टूटने लगता है तो हमलावर बाग़ियों के सामने आस्थाओं, मूल्यों, परंपराओं, श्रेष्ठता और सुरक्षा की पवित्र गायों की सेनाएँ खड़ी कर दी जाती हैं, मूल सवाल कुछ के अपने वर्चस्व, परिणामतः अस्तित्व का होता है, मगर उसे देश, राष्ट्र, संस्कृति, धर्म और इसके द्वारा प्रदत्त सुरक्षा, सुविधा और साधनों के एकाधिकार के नष्ट हो जाने के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। सत्ता में बैठा एक वर्ग जब तक आपस में मिल-बाँटकर माल-मलाई खाता रहे, तब तक तो सब कुछ ठीक और व्यवस्थित है, मगर जब इन्हीं आधारों पर संगठित, वंचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग, सत्ता में हिस्सेदारी माँगने लगे तो जातिवाद, धार्मिक असहिष्णुता, अयोग्यों का दुस्साहस, उजड्डों की धौंस, अधार्मिकों की नीचता के नारे उठने लगते हैं। बड़े-बड़े विकराल बुद्धिजीवी और पत्रकार अपने और अपने वर्ग के वहाँ होने को जायज़ ठहराने के लिए आँकड़ों, तर्कों और नज़ीरों के प्रक्षेपास्त्र लेकर मैदान संभाल लेते हैं। वर्चस्व के खिलाफ विद्रोह कमज़ोर हुआ तो दबा दिया जाता है या आपस में ही लड़ाकर उसे बिखरा दिया जाता है। समस्या तब भी न सुलझे तो रियायतों, छूटों और अधिकारों की सौदेबाजी होती है, 'तुम हो या हम, मनुष्य तो सभी बराबर हैं। शोषितों, दलितों, वंचितों की न कोई जाति होती है, न वर्ग—वे तो सब कहीं हैं, हम और तुम कहीं अलग या दुश्मन थोड़े ही हैं'—जैसे प्रेमालापों से वातावरण 'सद्भावनापूर्ण' बनाया जाता है। भारतीय राजनीति के पिछले दशकों में ये सारे दृश्य हमारी आँखों के आगे गुज़रे हैं। आपस के हर संबंध में जाति और धर्म जानकर ही आश्वस्त होने वाले अचानक जाति और धर्म का विरोध कर रहे हैं, उनसे ऊपर उठने के नारे लगा रहे हैं। वस्तुतः उन्होंने सारे समाज को रुडियार्ड किपिलिंग के 'हम' और 'वे' में बाँट दिया है, जिसकी प्रसिद्ध कविता बताती है कि जितने भी सभ्य, सुसंस्कृत, शिक्षित और कुलीन हैं, वे सब 'हम' हैं और जितने भी अशिक्षित, गंवार, नीच और उजड्ड हैं, वे सब 'वे' हैं।

मगर सचाई यह है कि यह सत्ता-केंद्रों के टूटने या वैकल्पिक केंद्रों के उभरने का युग है। सुरक्षित और संगठित धार्मिक-राजनैतिक केंद्रों द्वारा हाशियों पर धकेल दिए गए अल्पसंख्यक, दलित, पिछड़े और स्त्रियाँ अलग-अलग केंद्र बनकर इस तरह सामने आ रहे हैं कि अनदेखा करना अब संभव नहीं रह गया है। इनमें सबसे जटिल और संश्लिष्ट स्थिति स्त्री-उभार की है। बाकी सारे उभरते केंद्र लगभग 'हॉरिज़ेन्टल' या लंबाई और चौड़ाई के अनेक स्तरों पर फैले हैं, उन्हें काट या बचाकर भी अपने आपको सुरक्षित रखा जा सकता है (हालांकि यह द्वीपत्व भी असंभव है), मगर स्त्री तो ऊपर से नीचे तक सब कहीं गुंथी है, वर्टिकली भी है और हॉरिज़ेन्टली भी। वह तो भीतर से ही सारी वर्चस्व-व्यवस्था तोड़ देगी। शुभ यही है कि वह सबसे अधिक असंगठित है, आज तक तो वह अपनी स्थिति को ही नियति मानकर वहीं सुख-संतोष खोजती या 'बंधनों में बंध बनी में बंधनों की स्वामिनी-सी' बनकर ही शहीदी-गौरव निचोड़ती रही है : परम 'प्रबुद्ध भाव' से पुरुष-वर्चस्व को ही सिर झुकाकर स्वीकार करने वाली सुरभि पांडेय की 'अहल्या' हो या नासिरा शर्मा की 'शाल्मली', सांस्कृतिक तस्वीरी चौखटों में सजी-संवरी बैठी, अपनी श्रेष्ठता में दृप्त शिवानी की कुलीन सुंदरियाँ हों या दी हुई नैतिक सीमाओं से हर मुठभेड़ बचाती राजी सेठ की दार्शनिक बारीकियाँ जीती हुई चौकन्नी नायिकाएँ...

अपनी सीमाबद्धता की चेतना के बाद स्त्री-उभार का एकमात्र सरोकार रहा है, पुरुष वर्चस्व से मुक्ति की कामना। अक्सर इस कामना को उसने या तो धार्मिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहावरों में अभिव्यक्ति दी है या पुंश्चली और वेश्या बनकर—यानी दोनों ही स्थितियों में समाज-व्यवस्था से बाहर आकर। कौशल और चतुराई से, अक्सर जान का ख़तरा मोल लेकर उसने पुरुष-चौसर को उन्हीं की शर्तों और नियमों के अनुसार भी खेला है, जानलेवा बंधनों और मुक्ति-कामना के द्वंद्व ने उसके मनोविज्ञान को कहीं भी सहज नहीं रहने दिया है और चतुराई से स्थिति संभालना, खतरों को दूर से सूंघना, असुरक्षा के जोखिम को बचाना उसकी प्रकृति बना दी गई है जिसके चलते वे लोकोक्तियाँ जन्म लेती रही हैं, जहाँ वह चालाक, खतरनाक, अविश्वसनीय और कामांध सिद्ध की जाती है। कभी स्वेच्छा, मगर अक्सर जबर्दस्ती किए गए 'नैतिक' (सेक्स) अपराध की शिकार के रूप में औरत ने पलायन या आत्महत्या में ही अपनी मुक्ति प्राप्त की है। बाहरी सज़ाओं से बच निकली औरत ने अपने भीतर के आत्महंता धिक्कार से टूटकर पागलपन में भी शरण ली है। इन सारी स्थितियों पर हर भारतीय साहित्य में एक से एक जबर्दस्त रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्रायः ये सब पुरुषों या पुरुष मानसिकता से अनुकूलित या दी हुई सीमाओं को अतिक्रांत करती 'स्त्री के पत्र' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) हैं। इनकी करुणा, मानवीय सरोकार, परकाय-प्रवेश क्षमता और सहानुभूति ने स्त्री-चेतना के उभार में बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई हैं, मगर सिमॉन द बोउवा जैसी बुद्धिजीवी महिलाएँ इन्हें पुरुषों द्वारा प्रस्तुत 'स्त्री-मिथ' ही मानती हैं।

स्त्री की मुक्ति-कामना की अपनी दिशा में मुझे 1905 में छपी रूकैया सख़ावत हुसैन की 'सुलताना का सपना' सबसे अधिक आकर्षित करती है। केवल औरतों द्वारा संचालित नियंत्रित काल्पनिक दुनिया का चित्रण अनेक लेखकों ने किया है, मगर वह सिर्फ कुतूहल, मज़ाक या मज़े के लिए था। सुलताना अच्छे संपन्न घर की सुखी, कुलीन पत्नी है—नवाब की बेगम। वह अपनी घुटन और ऊब से भागकर सपने की ऐसी दुनिया में जा पहुँचती है, जहाँ स्त्री-राज्य है, पुरुष की स्थिति वही है जो वास्तविक समाज में स्त्री की। यह अंतर्मन में घुटती आकांक्षा है जो सपने का रूप लेती है—सिर्फ एक उड़ान। गुलामी की इसी घुटन से फ़रार होकर खिलंदड़ी सैर करती है, कुछ दिन पहले 'हंस' में ही प्रकाशित सिम्मी हर्षिता की 'बुजारन हवा' की नायिका, या इसी अंक में क्षमा शर्मा की 'लव स्टोरी 1994' और जया जादवानी की 'कयामत का दिन उर्फ कब्र से बाहर' की स्त्रियाँ। ये सब अपनी रोजमर्रा की घिसी-पिटी ज़िंदगी की यातना से छूट भागना चाहती हैं। उनकी ये उड़ानें राजनैतिक और सामाजिक आंदोलनों में भाग लेने निकली औरत की स्वतंत्रता से बुनियादी रूप से अलग हैं। वहाँ नाम भले ही 'कंधे से कंधा मिलाकर चलने' का रहा हो, मगर अदृश्य अंकुश पुरुष नैतिकता का ही बना रहा है। इस बाहरी 'आंदोलनबाज़ी' के बाद प्रायः औरत घर वापस आकर उसी घर-गृहस्थी में लग गई है या आदर्श नारी का रोल अदा करने लगी है। विधि-निषेधों से भागकर 'अपने होने' के क्षणों के साक्षात्कार की ये कहानियाँ हमें इस्मत चुगताई, कृष्णा सोबती, महाश्वेता देवी और कुर्रतुल एन हैदर की रचनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की औरत को समझने में मदद देती हैं।

यह सही है कि नारी मुक्ति के आंदोलन अनेक उलझनों और भटकनों के शिकार रहे हैं। सभी दलित आंदोलन हो जाते हैं। कहीं वे मालिक पुरुषों से होड़ लेकर उन्हीं की तरह 'हंटरवाली' (हेमंत) बन जाने के रूप में आए हैं तो कहीं पुरुष अस्तित्व को ही नकारकर स्वायत्त और स्व-संपूर्ण हो जाने में। इन दोनों स्थितियों से होता हुआ नारी-मुक्ति आंदोलन एक नई अवस्था में आ गया है, जहाँ स्त्री एक सह-नागरिक की तरह अपनी पहचान स्थापित करना चाहती है। इसके लिए उसका सारा प्रयास अब तक प्रयुक्त भाषा और मानसिकता के अस्वीकार और स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में स्वीकृति का है। यहाँ उसका संघर्ष दो धरातलों पर है; अपने व्यक्तित्व की स्थापना और उसके विरोध में कदम-कदम पर लगाए गए पुरुष-वैरियर (प्रतिरोधक)। ज़ाहिर है कि इस प्रक्रिया में परंपरा और संस्कारों द्वारा लादे गए अपने ही चेहरे (या सिर) को काटकर उसे 'छिन्नमस्ता' बनना पड़ता है, फीनिक्स की तरह अपनी ही काया में उठकर नया जन्म लेना पड़ता है। उभरती स्त्री-शक्ति के अनेक स्तरों में सामने दिखाई देने वाले कुछ आयामों में हैं, सेक्स, प्रजनन, आर्थिक निर्भरता और सत्ता में हिस्सेदारी। यहाँ हम इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकते कि बहुत दूर तक यहाँ भी मुद्दे लगभग वही हैं जो दलित-उभार के हैं। देह, जाति और रंग में जन्म लेने की सजा भुगतने की नियति दोनों को एक करती है। (अपने यहाँ भी सबसे गंदी गालियाँ 'चमार' और 'रंडी' के अर्थ देने वाली हैं) इसलिए यह मात्र संयोग नहीं है कि दलित और स्त्री-केंद्र साथ-साथ उभरे हैं। यह सही है कि सारी दुनिया में, विशेषकर दक्षिण एशिया में कुछ महिलाएँ सत्ता के खेल में शीर्ष तक पहुँची हैं ; गोल्डा मायर, मार्गरिट थैचर, इंदिरा गांधी—या आज बेनजीर भुट्टो, खालिदा ज़िया, चंद्रिका कुमारतुंगे, मगर वहाँ तक पहुँचने में उन्हें सबसे पहले अपना स्त्री न होना ही सिद्ध करना पड़ा है और शीर्षस्थ दलित नेता की तरह हमेशा चौकन्ना रहना पड़ा है कि वे कहीं अपने वर्ग के लिए विशेष पक्षपाती नजर न आएँ। कहना चाहिए कि उन्होंने स्त्री के लिए विशेष या तो कुछ किया ही नहीं है या बहुत डरते-डरते किया है। प्रायः स्त्री अत्याचारों के प्रति वे आँखें ही मूँदे रही हैं। उनके सत्ता-संतुलन का एक हिस्सा शीलवती और भद्र महिला होने का अभिनय भी है; प्रतिपक्ष की ओर से उन पर हमला करने के हथियार धर्म और शरीयत की तोपें हैं। यह ज़रूर है कि अपने वर्ग के लिए उन्होंने स्वयं भले ही कुछ न किया हो, मगर उनके शीर्ष पर होने ने स्त्री-उभार को बल बहुत दिया है। शायद उन्हीं की पृष्ठभूमि है कि आज चमत्कार की तरह अनेक क्षितिजों पर स्त्री अपनी शर्तों पर खड़ी दिखाई देती हैं—एक ओर सेवा और समर्पण में मदर टेरेसा हैं तो संघर्ष और जनांदोलन में मेधा पाटकर; सौंदर्य और सम्मोहन में सुष्मिता सेन है तो सेक्स और शरीर में पॉमेला बोर्डेस; व्यवस्था और प्रशासन में किरण वेदी है तो ठीक उसके विरोध में फूलन देवी। यहाँ मैं तस्लीमा नसरीन और फूलन देवी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को विशेष रूप से इसलिए रेखांकित करना चाहता हूं कि दोनों का क्षेत्र सबसे अधिक विस्फोटक है और दोनों पुरुष-वर्चस्व की सबसे खूँखार सत्ताओं के खिलाफ खड़ी हुई हैं—धर्म और जातिगत बलात्कारों के बीच अपने को साधे रखना शायद औरत के लिए सबसे बड़ी अग्नि-परीक्षा है। देह के बलात्कार द्वारा कुचले जाने या पूरी तरह ध्वस्त हो जाने से इन्कार करने वाली तो न जाने कितनी भंवरी बाइयाँ समाज और साहित्य में उठ खड़ी हुई हैं। यहाँ यह बता देना भी अप्रासंगिक नहीं है कि बलात्कार औरत के खिलाफ पुरुष का सबसे कारगर हथियार रहा है, चाहे वह रात के अंधेरे में इंद्र बनकर अहल्या पर किया गया हो या भरी कौरव-सभा में द्रौपदी को नंगा करके ...बलात्कार नया नहीं है, नया है बॉबिटिंग (लिंगोच्छेद)...का प्रतिशोध ..."अगर मुझे सिर्फ औरत होने की सज़ा दोगे तो सिर्फ़ मर्द तुम्हें भी नहीं रहने दूँगी..."

'हंस', नवंबर-दिसंबर, 1994

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुर्कों की वापसी

वर्चस्व का एक अर्थ सर्वसत्तावाद भी है। इसे अपने आपको बचाए और बनाए रखने के लिए पूरा एक तंत्र बनाना पड़ता है। तंत्र के पुर्ज़े आतंक, दंड और भय या लोभ के औज़ारों से सत्ता का उद्देश्य पूरा करते रहते हैं। अपनी सुरक्षा के लिए झक मारकर शेष को इस वर्चस्ववादी तंत्र से जुड़े रहना होता है, वे स्वयं सत्ता बन जाते हैं। लेकिन तंत्र के शीर्ष केंद्र पर बैठे हुओं को मालूम है कि वर्चस्व सिर्फ भय-आतंक या लोभ से स्थायी नहीं होता। उसके लिए बाकायदा एक 'दर्शन' गढ़ना भी जरूरी है : उसका मुख्य उद्देश्य जाहिलों, गंवारों, असभ्यों और अविकसितों को प्रकाश देकर 'मुख्य धारा' में यानी अपने हितों और दृष्टिकोणों में शामिल करना है। उनका यह 'दर्शन' लगभग स्वायत्त होकर औरों में ऐसी चेतना विकसित करता है कि शेष खुद-बखुद अपने को इस 'मुख्य धारा' में शामिल किए जाने के लिए जी-जान एक कर देते हैं : बिना इस दर्शन के और मानसिकता के 'हमारा' वर्चस्व स्थायी नहीं हो पाएगा। 'वे' अलग और असंतुष्ट रहेंगे तो हमें खा जाएँगे। स्थितियाँ और प्रलोभन ऐसे बना दिए जाने चाहिए कि वे स्वेच्छा से 'हम' में शामिल होने की दौड़ में बने रहें—पद, प्रतिष्ठा, पुरस्कार, पैसा, सुरक्षा या फिर उपेक्षा, अस्वीकृति, वंचित होने की स्थिति, एक ओर फेंक दिए जाने की शर्तें बिलकुल स्पष्ट रूप से परिभाषित होनी चाहिए। एक दौड़ ऊपर ले जाती है, दूसरी नीचे धकेलती है। 'उनमें' से हरेक में यह भावना और कामना दोनों होनी चाहिए कि 'हमारी' थाली में साथ बैठकर लड्डू खाने के लिए वे 'हमारी शर्तों' पर दौड़ में शामिल होने के लिए 'स्वतंत्र' हैं। मोटे रूप में यही 'मानसिक उपनिवेशवाद' है। 'वे' हम में शामिल होने का भ्रम पालेंगे, 'हम' हो जाने का अहं जिएँगे, अगर कभी उनसे ख़तरा लगा भी, तो इतनी समझ तो हममें भी है कि कैसे उनकी दौड़ की सारी दिशा ही बदल डालें। सात तिलस्मों में कैद हीरा ऐसे ही तो नहीं ले लेने दिया जाएगा। इस मानसिकता के बाद हमें अपने उपनिवेशों की सुरक्षा के लिए पुलिस और फौज़ें भेजने की कोई जरूरत नहीं है। 'वे' खुद ही हमारा काम करेंगे...ये उपनिवेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सात समुंदर पार भी हो सकते हैं और अपने भीतर भी। दलित और स्त्री हिंदू वर्चस्ववाद के सबसे पुराने और सफल उपनिवेश हैं। सामंतवाद में हरेक के अपने स्थान, सीमाएँ और कर्तव्य तय हैं, उन्हें बदलने की इजाज़त किसी को नहीं है; क्योंकि यह दैवी और शास्त्रीय विधान है। पूँजीवाद या औद्योगिक व्यवस्था में आप अपना स्थान या नियति बदलकर 'मुख्य धारा' में शामिल होने के लिए 'स्वतंत्र' हैं। एक गतिहीनता की यथास्थिति के मंत्र पर चलता है तो दूसरा गतिशीलता के प्रतिस्पर्धी तंत्र पर। 'हंस' के पिछले दो 'औरत : उत्तरकथा' अंकों में गतिहीनता की सड़ांध और गतिशीलता की दिशाओं को समझने की नितांत नाकाफ़ी कोशिश थी।

लेकिन यहाँ उससे जुड़ी सिर्फ एक ही बात को लें : दोनों अंकों में प्रकाशित प्रभु जोशी के रेखांकनों पर दर्जनों पत्र आए हैं ! शायद अब तक यह बात साफ हो चुकी है कि 'हंस' में प्रकाशित रेखाचित्र, कहानियों के चित्रांकन (इलस्ट्रेशन) नहीं होते, वे लघुकथाओं का ग़ज़लों-कविताओं की तरह स्वतंत्र कृतियाँ होती हैं—प्रायः स्थापित चित्रकारों की। प्रभु जोशी, रामकुमार की तरह प्रसिद्ध कथाकार और चित्रकार दोनों हैं और अपनी किसी भी रचना के प्रति ग़ैर-जिम्मेदार नहीं हैं। अपनी न्यूड-स्टडी के दौरान बनाए गए ये चित्र 'हंस' के लिए उन्होंने विशेष रूप से भेजे थे। कुछ पाठकों को वे गंदे और अश्लील लगे हैं। उनका कहना था कि वे 'हंस' जैसी साहित्यिक पत्रिका की गरिमा के अनुरूप नहीं हैं, उन्हें परिवार में रखने में असुविधा होती है। मैं यहाँ उनकी वकालत में एलोरा, खजुराहो और कोणार्क की दुहाई नहीं दूँगा, न ही दूरदर्शन के देशी-विदेशी चैनलों पर चौबीसों घंटे आने वाले 'मनोरंजन और जानकारी से भरपूर' कार्यक्रमों, चमकदार पत्रिकाओं के हर पन्ने से झाँकती सौंदर्य-सुंदरियों के अंग-प्रत्यंग की गवाही प्रस्तुत करूँगा। औरत के शरीर में ऐसा क्या बचा है जो साबुन-तेल, कपड़ों और पेय पदार्थों के साथ हमारे घरों के सारे बाहरी और अंतरंग में नहीं सजा दिया गया है ? परिवार के किस सदस्य को 'बचाना' चाहते हैं हमारे सुसंस्कृत पाठक ? हमारी लड़ाई ही औरत को सिर्फ देह या विक्रय-सामग्री बना दिए जाने के खिलाफ है। जाहिर है, यह लड़ाई आज औरत को वापस गिलाफ़ों, बुर्कों और पर्दों में वापस धकेल दिए जाने से नहीं लड़ी जा सकेगी। बिना देह को अस्वीकार किए औरत की आत्मा और देश के दूसरे संदर्भों से जोड़कर ही उसे लड़ा जा सकेगा। अगर 'हंस' में प्रकाशित रेखाचित्रों के माध्यम से स्त्री-देह की विभिन्न मुद्राएँ, कामुक पेचो-खम ही दिखाने होते तो उस सबके लिए प्रभु जोशी की ज़रूरत नहीं थी। बहुत आसानी से यह सब भी दिखाया जा सकता था। आज की मुक्तबाजारी व्यवस्था और सभी कुछ दिखाने की छूट के इस मौसम में भड़काऊ फोटो-शृंखला छाप डालना बहुत महँगा भी नहीं पड़ता। इस सबके लिए पूजा बेदी, पूजा भट्ट, ममता कुलकर्णी से लेकर अंजलि कपूर तक की 'स्वैच्छिक सेवाएँ' ले लेना भी मुश्किल नहीं होता। "हमारा शरीर है, हम जैसे चाहें, उसे दिखाएँ या ढकें—यह चुनाव और विवेक आप हम पर छोड़ दीजिए"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तर्क वहाँ आपके मुँह पर मार दिए जाएँगे। क्या पिछले अंक में प्रकाशित नवरंग जायसवाल की कहानी 'तुम अपना बयान जारी रखो' के बाद भी इस बारे में कुछ कहना शेष रह जाता है ?

सवाल यहाँ स्त्री-देह के प्रदर्शन और चटखारे का नहीं है। उत्तर-आधुनिक काल के इस विश्वग्रामी वातावरण में हम इसके इतने 'अभ्यस्त' तो हो ही चुके हैं कि यह सब बहुत चौंक या सनसनी पैदा नहीं करता। जहाँ करता है, वहाँ देखने से आगे जाकर जबर्दस्ती भोगने या बलात्कार की आकांक्षा है। वस्तुतः आज हम सीधे इस सवाल के सामने हैं कि क्या स्त्री-देह इतनी घृणित, अश्लील और आपत्तिजनक है कि अपनी संस्कृति और शील बचाए रखने के लिए उसका दबा-ढंका रहना ही ज़रूरी है ? सारे धार्मिक कठमुल्ले इस सवाल का यही तो जवाब दे रहे हैं और यही सवाल उठाया था दसियों साल पहले प्रचंड बौद्धिक मार्क्सवादी प्रतिष्ठित पत्रिका 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' ने, मुख पृष्ठ पर एक नारी न्यूड छापकर, क्योंकि लेनिन ने चाहे जो कुछ कहा हो मगर स्त्री-देह को लेकर वामपंथियों में भी लगभग आर्य-समाजी या विक्टोरियन दृष्टिकोण रहा है : यह भोग्या नहीं है, मगर उस पर खुली बात करना अनैतिक और अश्लील तो है ही ! दिखाना तो और भी ! मुझे नहीं मालूम, 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' ने क्या सवाल उठाए थे और बाद में क्या प्रतिक्रियाएँ आईं, मगर शायद पूछा यही गया था कि अगर स्त्री सौंदर्य और राग की प्रतीक भी है तो उसे देखना मात्र इतनी कुंठाएँ क्यों पैदा करता है ? जीवन अगर जीने और संरक्षण योग्य है तो इसीलिए न कि वहाँ सौंदर्य है, अनुराग है और भावनात्मक निर्भरता है। अगर उसे ही बचाए और बनाए रखना नहीं है तो सारे संघर्षों, लड़ाइयों और दुनियाभर के जद्दोजहद की ज़रूरत क्या है ? सारी क्रांतियाँ किस जीवन के लिए हैं ? मुक्ति क्या स्त्री को काटकर होगी ? या अधूरी स्त्री के साथ होगी ? फिर क्या कारण रहे हैं कि प्रेम, देह और भावना के क्षेत्र हमने 'प्रतिक्रियावादियों' के नाम लिख दिए हैं ? सचमुच हम अभी भी यही मानते हैं कि प्रेम और परिवार ऐसे मोहबंधन हैं जो महान उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधा हैं ? क्या यह हजारों सालों के हिंदू संस्कार नहीं हैं कि 'नारी की झांई पड़त, अंधौ होत भुजंग' या 'नारी तो हमहू करी, नारी महाविकार' या 'तिय छवि छायाग्राहनी, गहै बीच ही आय' ? 'नारी नरक का द्वार है' की ग्रंथि पालकर हम साथी-मनुष्य से घृणा करेंगे, उसे छूत की बीमारी घोषित करेंगे और फिर जीवन, सौंदर्य, उत्सव के गुणगान करेंगे—क्या इस खंडित मानसिकता के परीक्षण की बिलकुल जरूरत नहीं है ? हमने औरत को उन साँप-बिच्छुओं की तरह बना दिया है जो खुले रहेंगे तो काटेंगे और डसेंगे, इसलिए वे अपने बिलों और बांबियों में ही रहें। हाँ, जब हम 'बड़े युद्धों' से लौटकर आएँ तो हमारी थकान और घाव सहलाने के लिए एकांत मनोरजनों में प्रकट हों। जीवन-संगिनी की यह परिभापा हमें कब तक और जीनी है ? पुरुप-वर्चस्व के इस औपनिवेशिक अनुकूलन (कंडीशनिंग) की इससे बड़ी सफलता और क्या होगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि स्त्री स्वयं अपने आपको घृणित, अश्लील और जुगुप्स मानने के संस्कारों में साँस लेती है। यहाँ मुझे चेखव की 'ब्लैक-मौंक' कहानी अनायास ही याद आ रही है। जहाँ एक माँ अपने मरते हुए बेटे को सिर्फ इस भय से नहीं छूती कि बेटा महान संत, ब्रह्मचारी और शुद्धात्मा है और औरत होने के कारण ही (माँ होने के बावजूद) वह स्वयं पापिष्ठा, नारकीय और घृणित है—अगर वह उसे छुएगी तो उसे भ्रष्ट कर देगी ! औरत (माँ) की इस यातना और साधना-शिखर पर पहुँचे हुए असहाय संत की नितांत अकेली मृत्यु को चेखव ने अजीब करुणा से लिखा है ! (प्रेमचंद की 'सद्गति' का दुखी चमार भी तो शूद्र होने के अपराध-बोध में मरता है।) इसी द्वंद्व की दूसरी स्मरणीय कहानी है तोल्सतोय की 'फादर सर्गीयस'।

मान लीजिए, प्रभु जोशी ने स्त्री की जगह पुरुष देह के ऐसे ही रेखाचित्र दिए होते तो भी क्या पाठकों की प्रतिक्रियाएँ यही होतीं ? मेरा विश्वास है, नहीं। तब शायद हम सब उन रेखाओं की कला और लयात्मकता (रिद्म) को अधिक मुक्त होकर सराह सकते थे—उनमें चित्रित आकांक्षाओं, स्वप्नों और भयों को अधिक तटस्थ होकर 'एप्रिशियेट' कर पाते। निश्चय ही तब शरीर के उभारों या दबावों में ही उलझकर नहीं रह जाते...तब शायद हम यह भी कहते कि कला इसी तरह हमारा उदात्तीकरण करती है। क्या यह सवाल आपके मन में नहीं उठता कि जो स्त्री-देह हर कला की केंद्रीय धुरी हो, वही अपने आप में इतनी बीभत्स, घृणित, अश्लील और अनैतिक कैसे सिद्ध कर दी जाती है ? नैतिकता की इस वर्चस्ववादी कुंठा के खिलाफ अंजलि कपूर का शरीर-विद्रोह क्या बहुत अस्वाभाविक लगता है ? एक अमेरिकन ने भारतीय संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार की थी—'दे शिट इन पब्लिक, दे पिस इन पब्लिक, बट दे नेवर किस इन पब्लिक'। क्या हिंदी में इसका अनुवाद इस तरह नहीं होगा— 'खुले में हगते हैं, खुले में मूतते हैं ज्ञानी; लेकिन खुले में चूमते मरती है नानी।'

आपत्ति इस बात को लेकर होनी चाहिए कि औरत, स्कूटर, टायर या पंखे बेचने की पैकिंग नहीं है। न खुद अपने को परोसकर भुक्खड़ों को ललचाने का मसाला है, विश्व और ब्रह्मांड सुंदरियों के रूप में छाँटे जाने के बाद साबुन, तेल, शैम्पू, ब्रा बेचने वाली बना दिए जाने ने औरत को भी बाजारू माल के रूम में बदल दिया है। अर्थात् मीडियाई धूम-धाम के साथ विश्व और ब्रह्मांड सुंदरियों का चुनाव साबुन-शैम्पू कंपनियों का ही एक हथकंडा नहीं तो और क्या है ? जिन प्रसाधनों को वे बेचेंगी, (चाहे जितने महँगे क्यों न हों) पेट काट कर उन्हीं के इस्तेमाल से तो गाँव से लेकर शहर तक की करोड़ों लड़कियाँ गोरी, तन्वंगी, मोहक विश्व सुंदरी होने का सपना जिएँगी—अहा, गोरी दुनिया में कितना पैसा, प्रतिष्ठा और सम्मान है।

'हंस' में सबसे अधिक संख्या में मिलने वाली रचनाएँ हैं ग़ज़लें और लघुकथाएँ ...जिन्हें न भाषा की समझ है, न मुहावरे का ज्ञान—वे उर्दू के भयानक शब्दों को लेकर ग़ज़लें झाड़े चले जाते हैं। पढ़कर कोफ्त होती है, सिर धुनने को मन करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है : हाय, ग़ज़ल तेरी यह दुर्दशा ! गुलाम अली से लेकर पंकज उधास तक लोकप्रिय गायकों ने ग़ज़लों का ही सहारा लिया है। मलिका पुखराज और बेग़म अख़्तर को कौन भूल सकता है ? ग़ज़ल की इस झनझना देने वाली लोकप्रियता ने हर श्रोता को ग़ज़लकार बना दिया है।

इधर लघुकथाओं की बाढ़ आई है राजनैतिक विडंबनाओं से, हर मंचीय कवि इनका इस्तेमाल करता है। शायद यह कहना सही होगा कि लघुकथाओं के नाम पर भेजे गए 99 प्रतिशत चुटकुले ही होते हैं। नेताओं के भ्रष्टाचार, आडंबर, ढोंग, हृदयहीनता ही अनिवार्यतः इन चुटकुलों के कथ्य हैं। इससे लेखकों के सामाजिक सरोकार तो पता लगते हैं, मगर प्रायः दो विरोधी स्थितियों को रखकर ही यहाँ चमत्कार पैदा कर दिया जाता है; धार्मिक अनुष्ठानी नेता चकलाघर चलाते हैं और त्याग और अपरिग्रह की बात करने वाले स्मगलिंग करते हैं। कभी-कभी तो फूहड़पने की यह स्थिति है कि नामों को लेकर 'लघुकथा' गढ़ दी जाती है। जैसे दयाराम नाम के साहब मूलतः कितने क्रूर हैं। अक्सर हृदयहीनता भी इनके विषय होते हैं; भूखे मरते आदमी के लिए खाना नहीं है, कुत्तों और गायों को भोज कराया जाता है। मैं नहीं कहता कि हमारा समाज इन भयावह स्थितियों से नहीं गुजर रहा, मगर अखबार की कतरनें लघुकथाएँ नहीं होतीं। इन लघुकथाओं का दूसरा प्रिय विषय है पशु-पक्षियों के माध्यम से राजनैतिक टिप्पणी। हालत यह है कि लघुकथाओं की दुनिया राजनैतिक भेड़ियों, सियारों, शेर-भालुओं और बंदरों और कुत्तों से भरी पड़ी है। लगता है, सारी लघुकथा मदारियों, सरकस मालिकों या जू-व्यवस्थापकों के हाथों चली गयी है। वस्तुतः 'लघुकथा' आज गिने-चुने फ़ार्मूलों का विस्तार होकर रह गई है।

मुझे लगता है, जैसे गीत किसी लंबी कविता या खंडकाव्य का अर्क नहीं है, वैसे ही लघुकथा न बड़ी कहानी का सार-संक्षेप है, न उसकी रूपरेखा। एक छोटा चित्र अगर बड़ा कर दिया जाए तो भी रहेगा वह वही चित्र। लघुकथा ग़ज़ल या दोहे की तरह एक स्वतंत्र विधा है। यह दूसरी बात है कि बहुत-सी लंबी कहानियों को खूबसूरत लघुकथा बनाया जा सकता है और बहुत-सी लघुकथाएँ संभावनाओं के अनुसंधान में बाकायदा कहानी का रूप ले सकती हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश और जातक कथाओं, थेरी गाथाओं, अनंत लोककथाओं से लेकर ईसप, खलील जिब्रान, ख़्वाजा नसीरुद्दीन, कन्फ्यूशियस और अब आचार्य रजनीश तक लघुकथाओं की दुनिया का विस्तार रहा है, आदि स्रोत तो पुराण, हदीस और बाइबिल हैं ही। थीम उन सबकी मूलतः दो-तीन ही हैं : व्यावहारिक समझदारी, सामाजिक विवेक और धार्मिक उपदेश कथाएँ। वे प्रायः अपने सिद्धांतों और विश्वासों के प्रतिपादन या खुलासे के लिए दृष्टांत कथाओं के रूप में कही जाती हैं। कहीं-कहीं अपने धर्म-गुरुओं के गुणगान या उनकी सिद्धियों के चमत्कार दिखाने वाली कथाएँ भी हैं। आज भी वे अपनी संक्षिप्त और प्रतिपादित 'सत्य' के कारण तत्काल प्रभाव डालती हैं। सोचने-विचारने के चमत्कारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र भी हमें वहाँ मिलते हैं, मगर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे पढ़ने के लिए नहीं, सुनाए जाने के लिए कही जाती थीं, इसलिए मोटे-मोटे सामान्यीकरणों या काले-सफेद में बँटी थी। द्वंद्व दुष्ट और भले के बीच ही होता था। शायद इसी कारण वे 'लोक' में सबसे अधिक स्वीकृत हुई या 'स्वीकृति' के दौरान लोक ने उन्हें अनुकूल ढाल लिया।

मुद्रण-सुविधाओं और पढ़ने की परंपरा ने साहित्य की अन्य विधाओं की तरह लघुकथाओं में भी गुणात्मक परिवर्तन किए। कहानियाँ ज्यादा बारीक़ और अर्थगर्भी हुईं। मुझे ऐसा भी लगता है कि लघुकथाओं के इस रूप का प्रारंभ मुख्यतः गद्यगीतकारों के हाथों हुआ है और छायावादी युग में कवियों ने अपनी रहस्यानुभूतियों की 'कौंध' (फ्लेश) को ही शब्दबद्ध करने की कोशिशें की हैं। शायद यह भी है कि लघुकथाओं में आज जो विषय की जटिलता और गहराई या रूप का गठन और विधा की स्वायत्तता आई है, उसका श्रेय कथाकारों से अधिक कवियों, संतों और गद्यगीतकारों को जाता है। मुझे शक यह भी होता है कि क्या गद्यगीत ही लघुकथाओं की मूल भाव-स्थितियाँ नहीं थीं ? डेढ़ सौ साल पहले लिखी तुर्गनेव की 'पोइम्स इन प्रोज़' के रूप में लिखी लघुकथाओं से ही ऐसी धारणा को बल मिला। अपने यहाँ भी इस दिशा में अनायास ही जो नाम उभरकर आते हैं उनमें रवींद्रनाथ ठाकुर तो हैं ही, हिंदी में महादेवी वर्मा, दिनेशनंदिनी, चौरड़िया, जैनेन्द्र कुमार, भंवरमल सिंधी, ब्रजलाल बयाणी की रचनाएँ लघुकथाओं और गद्यगीतों की सरहदों में दुतरफा संक्रमण करती हैं। वैसे, मैं आज भी तोल्सतोय की कुछ लघुकथाएँ भूल नहीं पाता।

बहरहाल, इस क्षेत्र में बंगला के वनफूल और हिंदी के रावी का योगदान अनदेखा नहीं किया जा सकता। दोनों ने ही इसका गंभीर रचना के रूप में प्रयोग किया, मगर लगता आज भी नहीं है कि लघुकथा एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित हो पाई है—हालांकि इधर बलराम द्वारा पाँच बड़ी जिल्दों में कोश बनाने की दुस्साहसी योजना मेरे सामने है और छोटी पत्रिकाओं के लघुकथा अंक भी दो-चार देखे हैं। सम्मेलनों और गोष्ठियों की रिपोर्ट भी गाहे-बगाहे आ जाती हैं। शायद इसके दो कारण हैं : एक तो अभी तक इस क्षेत्र में इधर कोई ऐसी प्रथम श्रेणी की प्रतिभा नहीं आई है जिसने गहरी अंतर्दृष्टि दिखाई हो या विधा में प्रयोग किए हों, यानी जो अपनी आग से सबका ध्यान आकर्षित कर ले; दूसरे इसके सिद्धांत-पक्ष पर गंभीरता से कोई काम नहीं हुआ। अधिकतर कथाकारों ने पंद्रह-बीस लघुकथाएँ जरूर लिखी हैं और निश्चय ही बहुत अच्छी हैं, मगर वह उनका मुख्य लेखन नहीं है। आज मुझे प्रथम श्रेणी का कोई लेखक, लघुकथाकार के रूप में याद नहीं आ रहा है वे सब 'बाई द वे' या 'पार्ट-टाइम' प्रयासों की तरह हैं। किसी भी साहित्य में जब तक एक विधा के पाँच-सात पूर्णकालिक लेखक न हों, तब तक वह स्वतंत्र रूप में कैसे स्थापित हो सकती है ? संस्कृत-पालि की बात छोड़ दें तो मुझे हिंदी में एक भी ऐसा कथाकार याद नहीं आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा जो खलील जिब्रान की तरह अपने-आप में लघुकथा-लेखक के रूप में ही जाना जाता हो—यों रवींद्र वर्मा, उदय प्रकाश, रघुनंदन त्रिवेदी, प्रेमकुमार मणि, युगल, अवधेश कुमार, सुकेश साहनी या उर्दू में इंतज़ार हुसैन, जोगिंदर पॉल ने अद्‌भुत लघुकथाएँ लिखी हैं। इससे ज्यादा दयनीय स्थिति क्या होगी कि साहित्य की हर विधा को उपकृत करने वाले 'आचार्य' गिरिराज किशोर तक से यह विधा अभी तक अबलात्कृत रही है।

हिंदी में आज की लघुकथाओं में सामाजिक-राजनैतिक सरोकार और बेचैनी तो बहुत है, मगर प्रायः समकालीन जीवन-स्थितियों के अनुभूति-स्पंदित क्षणों से बचने की प्रवृत्ति है। हममें से अधिकतर रूपक, प्रतीक, दृष्टांत जैसी 'तरकीबों' का सहारा लेना ज़्यादा पसंद करते हैं। कभी-कभी तो एक सूक्ति या वाक्य ही आधार बन जाता है। चूँकि यहाँ बहुत संक्षेप में बात का निचोड़ देना पड़ता है, इसलिए बड़ी कहानियों का सार-संक्षेप देने या शाश्वत सत्य उद्‌घाटित करने की मानसिकता आज की लघु-कथाओं की प्रेरणा लगती है। बड़े चित्र को छोटा कर देना ही मिनियेचर-पेंटिंग नहीं होती—दोनों के लिए दो अलग एप्रोच की जरूरत होती है। उस अलग एप्रोच की अभी तक अलग से पड़ताल मेरे देखने में नहीं आई है। ग़ज़ल या दोहे की तरह जब तक इस विधा में बारीक-ख्याली और 'देखन में छोटे लगें' वाली भाषा पर गंभीरता से काम नहीं होता, तब तक यह हाशियों पर बना दिए गए फूल-पत्तों की हैसियत से ऊपर नहीं उठ पाएगी।

वस्तुतः फोटोग्राफी की भाषा में लघुकथा एक ऐसा 'स्नैप शॉट' है, जिसे समय के प्रवाह में स्थिर कर दिया गया है। वह समग्र का हिस्सा भी है और स्वतंत्र भी। 'कहानी' उसके संदर्भों के साथ ही अर्थ संकेतित करती है।

'हंस', फरवरी 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकल्पों से कौन डरता है...

नया वर्ष पुराने के मूल्यांकन और नए संकल्पों का प्रारंभ है। विकल्पों की संभावनाओं का वर्ष भी इसे कह सकते हैं। इस अवसर पर एक छोटी-सी आत्मस्वीकृति करना चाहता हूँ। मैं मनोविज्ञान का विद्यार्थी नहीं रहा, फिर भी इतना जानता हूँ कि इस शास्त्र का विकास मुख्यतः पश्चिम में ही हुआ है। इसलिए निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि वहाँ इडिपस-कम्प्लेक्स के साथ 'ययाति-कम्प्लेक्स' जैसी कोई अवधारणा है या नहीं। अगर भारतीय मनोवैज्ञानिक इस पर काम करें तो 'हंस' भी एक 'केस' हो सकता है। हाँ, पहले से यह अवधारणा रही हो, तो उसका तकनीकी नाम नहीं मालूम। वृद्ध ययाति ने अपने बेटे से यौवन माँगा था और खुद युवा हो गया था। राजाओं की हर सनक के लिए सांस्कृतिक रास्ते और तरकीबें निकालने वाले ऋषियों ने ही मदद की थी। आज भी पुरोहित और ज्योतिषी सारे अमंगल ग्रहों की काट निकालकर जजमान को संतुष्ट कर देते हैं। 'हंस' ने यौवन और ऊर्जा के लिए युवा और संभावनाओं वाली अनजान प्रतिभाओं को अपना केंद्र बनाया है। सही है कि वहाँ सिद्ध रचनाकारों जैसी तराश, कलात्मक सिद्धि, अनुभव का आत्म-विश्वास, अभिव्यक्ति की बारीकियाँ, दूर तक मार करने वाली सांकेतिकता और भाषा की नवोन्मेषी भंगिमाएँ इत्यादि नहीं हैं। मगर जो चीज वहाँ सबसे ऊपर रही है, वह है ऊर्जा और आग—कलात्मक ठंडापन नहीं, धधकता दबाव, स्वयं अपनी अभिव्यक्ति तलाश करने की बेचैनी। रघुवीर सहाय ने कहा था, "जहाँ बहुत कला होगी, (वहाँ) परिवर्तन नहीं होगा," मैं कहना चाहता हूँ, "जहाँ बहुत कला होगी, वहाँ आग नहीं होगी।" यह बिलकुल अलग बात है कि आग स्थायी नहीं होती। रोशनी देकर बुझ जाती है, मगर इस रोशनी की भी तो एक परंपरा बनती ही है।

कला, अनुभव को स्मृति और स्मृति को संवेदना में बदलने के बाद ही संभव है, यानी जीवन को 'मार' कर कला का जन्म होता है। जीवन, कला का रॉ-मैटीरियल (आधार-सामग्री) है जिसे सौंदर्यशास्त्रीय प्रयोगशालाओं में लाकर परीक्षण किए जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, न जाने कितने दूसरे रसायन मिलाकर 'फिनिश्ड-प्रोडक्ट' तैयार होता है। इस प्रक्रिया में कला, जीवन से जितनी ही ऊपर और दूर होती जाएगी, उसी अनुपात में 'उत्कृष्ट' होगी। जीवन के धूल और धुआँ उसे प्रदूषित करते हैं। इसलिए उसे विश्वविद्यालयों या कुलीन घरानों में ही सुरक्षा मिलती है। यह अकारण नहीं है कि रचनाकारों के जीवित न रहने पर ही उनकी 'कला' का सही और वास्तविक मूल्यांकन होता है। विश्वविद्यालय इन 'ममियों' को जीवित रखने के सबसे सही पिरामिड हैं। कलावादी दुनिया में अपने को 'पुनर्नवा' बनाए रखने की क्षमता यानी स्रोत से संजीवनी खींचने की प्रक्रिया चूँकि समाप्त हो चुकी है, इसलिए जीवन से नई सामग्री लाकर 'प्रयोग' नहीं किए जा सकते। पिछले प्रयोगों के आधार पर ही नया या अगला प्रयोग होता है। वह कला की 'स्वायत्त' दुनिया है—स्वयं अपने आपसे ही प्रेरणा पाती हुई। स्वाभाविक है कि वहाँ प्रयोग के नाम पर 'रीतियाँ' उभर आती हैं और रीतिकाल की तरह फूल, पत्तियों, गदा और मुग्दर के आकार की कविताएँ बनाई जाने लगती हैं। क्लासिकल ग़ज़लों की तरह विषय तो तय है ही, चमत्कार शब्दों, अर्थों और अंदाज़े बयां में ही करने हैं। उलटा-सीधा, आड़ा-टेढ़ा चाहे जिस तरह पढ़ो—राम और कृष्ण की कथाएँ या स्तुतियाँ ही वहाँ विषय की उपलब्धियाँ हैं। फ्रांस के चरम आधुनिक प्रयोगवादी उपन्यासकार रॉबग्रिये ने भी एक ऐसा उपन्यास लिखा था जिसे ताश के पत्तों की तरह फेंटकर कहीं से भी पढ़ना शुरू कर सकते हैं। फर्क यही है कि यह पश्चिमी 'रीतिवाद' है और हस्बमामूल हम चमत्कृत हैं। यह कलावादी दुनिया की सबसे दयनीय स्थिति है कि प्रयोग कथ्य में नहीं, रूप में ही किए जाते रहे। यानी रूप ही कथ्य बन जाए। मगर जीवन क्या करे ? कला बनने के लिए अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा ? नहीं, जीवन की आग और सपनों की बेचैनी या तो इन पिरामिडों को ही अस्वीकार कर देती है या इन्हें एक किनारे डालकर आगे बह जाती है। कलाहीन और उत्कृष्ट न होने के आरोपों के बावजूद रचनाएँ होती रहती हैं और पुरानी कसौटियों को अप्रासंगिक बनाती जाती हैं। क्योंकि उनमें उठाए गए सवालों ने जिस तरह बरसों से दुनिया को उथल-पुथल दिया है, क्या उसे अनदेखा कर सकना संभव है ? हो सकता है, अगली शताब्दी में कोई उन्हें याद भी न करे। मगर बरसों धुंधुआ कर आग की निरंतरता की क्या यह सार्थक परिणति नहीं है कि कभी कोई झाड़ी भभककर धूमकेतु की तरह सारे शून्य को उद्भास से भर दे ?

उधर कलावाद का वर्चस्व-दुर्ग अपने अंतर्विरोधों और अवरोधों में दरकता रहता है या नए-नए दर्शन लाकर श्रेष्ठता, उत्कृष्टता की यथास्थितियों की वकालत करता है। अपनी (या उधार की ?) कसौटियों को ही शाश्वत या अपरिवर्तनीय मानना उसकी मजबूरी है। यह सवाल वहाँ शायद ही कभी पूछा जाता हो कि ये कसौटियाँ शाश्वत या हमारे लिए प्रासंगिक ही क्यों हैं ? क्यों हम उन अवधारणाओं और प्रत्ययों पर सिर फोड़ें जिन्हें पश्चिमी ऊबे हुए सुखी-समृद्ध लोगों ने पहले ही काफी धुन रखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। क्या सचमुच हम वहाँ कुछ नया या अनकहा 'कांट्रीब्यूट' (जोड़) कर पाएँगे ? हम या तो सिर्फ अपनी आधी-अधूरी जानकारियों के आधार पर उनका खुलासा करेंगे, अपने 'अनपढ़' बंधुओं को समझाएँगे कि फूको, दरीदा या लात्योर ने क्या कहा है, या फिर बिना स्रोत बताए किसी विद्वान की सारी मौलिकता हड़पकर 'अपनी बात' के अंदाज में अपनों को डराएँगे। जब तक हम उनके दिए दर्शन को थोड़ा-बहुत समझें–समझें कि वहाँ कोई नया धूमकेतु उग आएगा और हम उधर दौड़ लेंगे। तीस-पैंतीस साल पहले जब निर्मल वर्मा ने 'कहानी का अंत हो गया है' की घोषणा की थी तो एक बड़ा कन्फ़ैशन किया था कि जिस कहानी से वे जुड़े हैं, उसकी सारी संभावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं, वरना जिस साहित्य में कहानी विकसित भी नहीं हुई–वहाँ अंत घोषित कर देना अतिरिक्त बौद्धिकता है। इतिहास, विचार साहित्य, सोच के उनके द्वारा घोषित अंत, हमारे अंत होंगे और उनके प्रारंभ हमारे प्रारंभ, पिछले डेढ़ सौ सालों से यही हो रहा है। वही तय कर रहे हैं हमारे लिए इतिहास और स्वप्न-अतीत और भविष्य। अपने अधिक प्रबुद्ध, उन्नत और आर्थिक/बौद्धिक रूप से संपन्न बंधुओं से कि नी न किसी रूप में यह सुनते रहना अब हमारी नियति हो गई है, "यू ब्लडी ब्लैक इंडियन, दुनिया कहाँ से कहाँ चली गई है और तुम अपनी विपन्नता, गरीबी, असमानता, शोषण, धर्मांधता का ही रोना रो रहे हो। कुछ उच्चतर मूल्यों की बात सोचो, कलात्मक जीवन जीना सीखो...पिछड़ जाओगे, कम्बख़्तो..."

यही सवाल उठते रहे हैं मेरे मन में साहित्यिक वर्चस्ववाद की कुलीन कसौटियों को लेकर। चूँकि तीन हज़ार सालों से हो रहा है, इसलिए आज भी सारे साहित्य का मूल्यांकन और कला-संवेदना का निर्धारण सिर्फ कविता से हो और वह भी एक विशेष तरह की (चाहें तो उसे भारत-भवन घराने की कह लें) कविता से हो, यह बात शुरू से मेरे गले नहीं उतरती–उस समय तो और भी, जब वह प्राचीन और नवीनता के रहस्यवाद (ऑब्सक्योरिंटिज्म) की गिरफ्त में फंस चुकी है और क्रमशः इतनी अप्रासंगिक हो गई है कि सिर्फ राज्य-संरक्षण या आपसी बंदरबाँट पुरस्कारों के ऑक्सीजन पर ही साँस ले पा रही है। ऐसे में साहित्य मुझे इन इन्टन्सिव-केयर-कक्षों से बाहर और वह भी कथा-साहित्य में नजर आता हो तो इसे आप मेरा मायोपिया (दृष्टिहीनता ?) मानने को स्वतंत्र हैं। उधर बाकी समाज की तरह कथा-साहित्य की दुनिया भी ऊँच-नीच के वर्गों में बँटी है, हालाँकि वह एक ज्यादा उदार लोकतंत्र की दुनिया है। स्वयं उपन्यास का जन्म व्यक्ति की स्वतंत्रता, बराबरी और समानता की उपज है। मगर जैसा कि लोकतंत्र का नियम है, यहाँ कुछ ज्यादा बराबर हैं, कुछ कम। पिछले कुछ बरसों में ही देखें तो एक तरफ 'मुझे चाँद चाहिए' (सुरेंद्र वर्मा), 'अ अस्तुका' (ज्योत्सना मिलन), हरिया हरकुलिस की हैरानी (मनोहर श्याम जोशी), 'उस चिड़िया का नाम' (पंकज बिष्ट) जैसे उपन्यास हैं तो दूसरी तरफ 'धार' (संजीव), 'पाही घर' (कमलाकांत त्रिपाठी), 'गगनघटा गहरानी' (मनमोहन पाठक), 'मैक्लुस्कीगंज' (विकास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार झा), 'डूब' (वीरेंद्र जैन), 'इदन्नमम' (मैत्रेयी पुष्पा), 'उकाव' (क्षितिज शर्मा) जैसे उपन्यास। ये दो अलग वर्गों की रचनाएँ हैं। इन्हें राजकिशोर पश्चिमोन्मुखी और भारतीय उपन्यास कहते हैं। पश्चिमोन्मुखी उन्हें चाहे न भी कहें, तो भी एक दूसरे से दूर पड़े दो अलग वर्ग तो हैं ही, जिन्हें मैंने अक्सर व्यक्तित्व से जूझते प्रबुद्ध मध्यवर्गीय लोगों और अस्तित्व के लिए लड़ते खेत-खलिहानों में जीने-मरने वालों की दुनिया कहा है। जाहिर है, एक में हमें वह कलात्मक संतोष और औपन्यासिक सौंदर्यशास्त्री सुख (एस्थेटिक प्लेज़र) की अपेक्षा और किसी हद तक प्राप्ति है, जो हमें बौद्धिक चुनौतियाँ और आत्मिक उत्तेजनाओं से संपन्न रख सके। इसी के हम अभ्यस्त हैं। विश्व-साहित्य के साहचर्य से हमने जो कला-दृष्टि पाई है—वही यहाँ हमारे मूल्यांकन का निर्धारण करती है। दूसरी तरह की रचनाओं को शायद हम उपन्यास कहने में भी संकोच करें। एक को अस्वीकार करके ही हम दूसरे को स्वीकार कर पाते हैं, क्योंकि हम मानते हैं कि हमारे निकष प्रश्नातीत हैं, उन्हें विश्व की प्रचंड मेधाओं ने तैयार किया है। शायद हम इतनी भी छूट नहीं देना चाहते कि दोनों के लिए दो अलग कसौटियों की जरूरत है ?

यही बात मैंने एक गोष्ठी में तस्लीमा नसरीन के 'लज्जा' और विनोद कुमार शुक्ल के 'नौकर की कमीज' की तुलना करते हुए कही थी। उपन्यास की दृष्टि से निश्चय ही 'लज्जा' बहुत खराब, पत्रकारिता के विवरणों और आँकड़ों से भरी रचना है। सलमान रुश्दी की 'शैतानी आयतें' भी उबाऊ और बोर है (पूरा नहीं पढ़ पाया)। दूसरी तरफ अगर अनेक देशी-विदेशी भाषाओं के विद्वान लोठार लुत्से का वाक्य उद्धृत करूँ तो "जिस भाषा में 'नौकर की कमीज' जैसा उपन्यास लिखा जा सकता है, वह निश्चय ही बहुत समर्थ भाषा है" मगर सचाई यह भी है कि 'लज्जा' आग का ऐसा गोला है जिसके तहलके से आधी दुनिया झनझना उठी है। दूसरी तरफ 'नौकर की कमीज' या उससे भी पहले श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'मकान' जैसी रचनाएँ ठंडे एकांत में लगभग काव्याध्यात्मिक सुख देने वाला शास्त्रीय संगीत है। बिलकुल भी जुर्रत और जरूरत नहीं है कि मैं शास्त्रीय संगीत को लेकर कुछ कहूँ। वह न हो तो हमारे पास संगीत नाम की कोई चीज़ ही नहीं रहेगी। मगर यह क्यों अनिवार्य है कि पंडित जसराज और भीमसेन जोशी की तारीफ करते हुए किशोरी अमोनकर या यहाँ तक कि लता मंगेशकर को संगीत की दुनिया से ही देश-निकाला दे दिया जाए ? बिना रियायती अदा अपनाए क्या एक साथ हम दो अलग कसौटियों को स्वीकार नहीं कर सकते ?

नहीं, हमारे अब तक के साहित्यिक संस्कारों के अनुसार 'कलात्मक' अपेक्षाएँ पूरी न कर सकने वाले उपन्यासों-कहानियों के मूल्यांकन के लिए हमें अलग सौंदर्यशास्त्रीय कसौटियाँ विकसित करनी होंगी। सिर्फ एक ही प्रकार की कसौटी को सर्वश्रेष्ठ या अंतिम मानेंगे तो लामुहाला दूसरी को रिजेक्ट (तिरस्कृत) करना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब इस कला-वर्चस्ववाद के खिलाफ उसी तरह प्रतिरोध होंगे, जैसे अभिजात सांस्कृतिक और बौद्धिक वर्चस्ववाद के खिलाफ हर जगह हो रहे हैं, कि यह कला एक विशेष परोपजीवी वर्ग की, अपने को जायज़ ठहराने और बचाए रखने की सिर्फ़ एक रणनीति है। तब दलित-चेतना की भाषा में यही कहना होगा कि अपनी ठंडी, फुर्सती और हृदयहीन कला आपको ही मुबारक हो, उन्हें आप अपने मखमली वस्तों में बाँधकर भविष्य या पश्चिम के नाम डिस्पैच करते रहें, हमारी कला तो जिंदगी की लड़ाइयों का दस्तावेज होकर ही सार्थकता खोजेगी। फूहड़, कलाहीन, अखबारी—या जो भी विशेषण आप देना चाहें—वह वैसी ही है और हमारी यातनाओं, संघर्षों और स्वप्नों की अभिव्यक्ति है। अगर तथाकथित उच्चतर कला-मूल्यों की कसौटियाँ ही अंतिम रहेंगी तो हमें सारे दलित, ब्लैक और लातीनी साहित्य को एक सिरे से अस्वीकार कर देना होगा। इतना ही नहीं, तब हमें सारे दरबारी-साहित्य को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के नए सांस्कृतिक तर्क गढ़ाने होंगे, जैसा कि मध्यकाल में हुआ और रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रचंड आलोचक मन से कभी संत साहित्य को स्वीकार नहीं कर पाए या बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक काव्य-रसिक देव-बिहारी विवाद को ही साहित्य-विमर्श मानते रहे। अपनी इस काव्य-स्वायत्तता को बनाए रखने के लिए दुर्भाग्य से तर्क भी हमें वहीं से सप्लाई किए जाएँगे, जहाँ से हमने अपने कला-बोध लिये हैं। तब इस सवाल से मुठभेड़ बचाना भी चरम भोलापन होगा कि सांस्कृतिक, कलात्मक और बौद्धिक विश्वग्राम के कुलीन-नागरिकों के उपजीव्य बनकर हम कैसे और कब तक अपनी स्वतंत्रता या स्वायत्तता बचाए रख सकेंगे ? इस सवाल से हम आज कतरा चाहे जितना लें, मगर एक दिन तो इसका सामना करना ही होगा कि वे हमें एक विशेष जीवन ही नहीं, जीवन-मूल्य भी दें और फिर उसे बनाए रखने या बचाए रखने की तकनीक भी मुहैया कराएँ—मुक्त बाजार की इस औपनिवेशिक मानसिकता या उपग्रही जीविका पर हम कितने दिन पनपेंगे ? कविता की स्वायत्तता की वकालत करनेवाले यह भूल जाते हैं कि जिन दिग्गज चिंतकों की बारीकियों से वे अपने तर्क गढ़ रहे हैं, वे मुख्यतः समाजशास्त्री हैं और साहित्य को उन्होंने अपने अनिवार्य सामाजिक संदर्भों में ही देखा है।

बहरहाल, उनकी वे जानें, हमें अपने अलग सौंदर्यशास्त्र पर विचार करना ही होगा और जाहिर है, उसके आधार-स्रोत होंगे यातना, संघर्ष और स्वप्न...

बात मैंने शुरू की थी 'ययाति-कम्प्लेक्स' से। निश्चय ही 'हंस' ने अपनी ऊर्जा, परिचित और नितांत अपरिचित युवा कथाकारों से ली है। भाषा और कथ्य की सारी विविधताओं के बावजूद जो चीज इन सबमें समान है, वह है आग और अपने परिवेश से गहरा लगाव। जाहिर है, यहाँ मुखर मौन प्रतिरोध दो दिशाओं से ही मिला है, एक का आरोप है कि 'हंस' ने कलाहीन, फूहड़ और कच्ची रचनाएँ दी हैं, दूसरा वर्ग कहता है कि नयों को इतना उछाला गया है कि वे बौरा गए हैं। आश्चर्य है कि नई पीढ़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को सामने लाने का दिन-रात दावा या कीर्तन करने वाले नयों को देखकर इस तरह बौखला उठे हैं। मैं सचमुच आज तक समझ नहीं पाया कि विचार और रचना की दुनिया में जूनियरता और सीनियरता जैसे श्रेणीबद्धता (हायरार्की) क्या होती है और उनके बीच क्या और क्यों दूरी रखनी चाहिए ? "हमने क्या धूप में बाल सफेद किए हैं, कम से कम उम्र और सीनियरता का लिहाज़ तो होना ही चाहिए। नयों को महत्व देकर बड़ों का अपमान करने का आपको क्या हक है ?" जैसे नपुंसक तर्क ही क्या कला की दुनिया के भी शिष्टाचार हैं ? एक बिलकुल नई प्रतिभा अचानक ही ऐसा कमाल कर जाती है कि बड़े-बड़े मसनदधारी दंग रह जाते हैं। शायरी और संगीत में ऐसे पचासों उदाहरण हैं। यह बड़ों का अपमान नहीं, उनकी ही दी हुई परंपरा का अभिनंदन है। मगर नहीं, उनकी आसंदियाँ हिल जाती हैं और जो आग रचना में गायब है, वह उनके कलेजों में दहकने लगती है।

सृंजय, प्रेमकुमार मणि, हेमंत, अवधेश प्रीत, शिवमूर्ति, उदय प्रकाश, अरुण प्रकाश, महेश कटारे, ललित कार्तिकेय, महेश दर्पण, वीरेंद्र जैन, संजय खाती, संजय सहाय, सही राम, राजेन्द्र उपाध्याय, प्रेम कुमार, सुबोध झा, धनेशदत्त पांडेय, अखिलेश, शैलेश पंडित, जयनंदन, मालचंद्र तिवारी, अरविंद जैन, शिव कुमार शिव, रामलखन यादव, कात्यायनी, सुरभि पांडेय, गीतांजलिश्री, सरयू शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, जया जादवानी, अनामिका शिव, कल्पना सिंह, प्रभा खेतान, सारा राय, शरद सिंह—जैसे न जाने कितने जाने-अनजाने नाम रहे हैं जिनसे 'हंस' नाम के ययाति ने ऊर्जा और यौवन लेकर अपने को जीवंत बनाया है—हो सकता है, इनमें कई अब तक खुद 'बूढ़े' या सीनियर कलासिद्ध बन गए हों...

पता नहीं, ययाति ने इस 'त्याग' के लिए बेटे को धन्यवाद दिया था या नहीं, मगर कृतज्ञ शुभकामनाएँ जरूर दी होंगी।

'हंस', जनवरी, 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूर्तियाँ बेचने की कला

बुद्धिजीवियों या आज सोचने-समझने वालों के सामने सबसे बड़ी उलझन यह है कि जिन प्रतीकों या साक्ष्यों से हमारी संस्कृति और इतिहास बने हैं, उनके प्रति सलूक क्या हो ? देश और काल के बीच 'एक समय का सत्य' मानकर हम उन्हें ज्यों का त्यों सुरक्षित-संरक्षित रखें या आज के आर्थिक, व्यावसायिक और राजनैतिक (बौद्धिक/शोधपरक नहीं) दबावों या रणनीतियों के तहत उन्हें निरंतर संशोधित, परिवर्द्धित, निर्मित या नष्ट करते रहें ? जाहिर है कि सदियों की लंबी यात्राओं के दौरान सत्ताएँ, इतिहास और संस्कृतियाँ बदली हैं और बहुत कुछ ऐसा छोड़ गई हैं जिन्हें आज गले उतार पाना मुश्किल है। क्या हम हर बीते हुए को इतना तथ्य-निरपेक्ष (मिथक) बनाते रहें कि रोज़ बदलते हुए 'आज' में बैठकर गर्व, संतोष और शेखी से कहते रह सकें कि हम हमेशा महान थे, इसलिए आज भी महान हैं ? महान होने की यह कुंठा हर उस प्रमाण को बदलने या नष्ट करने की प्रक्रिया को जन्म देगी जो शर्मनाक या अस्वीकार्य होता चला जाएगा। यानी अगर मैं आज पाँच-सितारा होटल-शृंखला का मालिक हूँ तो यह कभी स्वीकार नहीं करना चाहूँगा कि मेरे बाप-दादा सड़क के किनारे पेड़ के नीचे बैठकर चाय-रोटी बनाते थे और हर ग्राहक के बर्तन खुद धोते थे। किसी अकेले-अंधेरे कमरे में, पिचके-टूटे, जंग खाए टीन के संदूकचे में रखे फटे-गले कुर्ते को देखकर मैं रो तो सकता हूँ: यह मेरे बाप-दादा की निशानी है, मगर सबके सामने तो मैं यही कहूँगा कि नौ[illegible], अपनी हवेली में वे हमेशा कीनख्वाब ही पहनते थे। हो सकता है, एक दिन मैं उन प्रमाणों को ही नष्ट कर दूँ जो आज मुझे 'छोटा' बनाते हैं। आज क़ौन-सा राजा-महाराजा यह स्वीकार करना चाहेगा कि उसके पुरखों ने ये जागीरें-जायदादें या रियासतें लुटेरों और डकैतों के रूप में हासिल की हैं या अपने ही भाइयों के खिलाफ विश्वासघात और गद्दारी के एवज में इनाम की तरह पाई है ? फिल्मों में या एक-दो पीढ़ी तक जिंदगी में, वीडियो-जगत् के खरबपति गुलशन कुमार यह कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी जिंदगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शुरुआत साइकिल पर बिजली का सामान यहाँ से वहाँ पहुँचाने वाले के रूप में की थी, हो सकता है वे उस साइकिल को संभाले हुए भी हों—मगर चार पीढ़ी बाद ? उनके पोते उस साइकिल को देखना भी नहीं चाहेंगे या उसके होने से ही इन्कार कर देंगे। अपनी व्यक्तिगत उपलब्धि को परिश्रम या योग्यता के बल पर सामने लाना, लोकतंत्र और औद्योगिक युग की अपनी विशेषता है। सामंती कुलीन इस नव-धनाढ्य को बेहद घृणा और हिकारत से देखता है। सामंतवाद सिर्फ अपने अधिकार, जन्मगत श्रेष्ठता और पारिवारिक महानता की 'मिथ' में जीने का अभ्यस्त है और वह हर उस निशानी को मिटा देना चाहता है जो उसके 'आज के सम्मान' के लिए घातक है। एक अपना इतिहास खुद बनाता है, दूसरा दिए हुए इतिहास को गढ़ता, संशोधित करता और नष्ट करता है। एक का इतिहास स्वयं के अध्यवसाय से शुरू होता है तो दूसरा देवताओं, अवतारों, ऋषियों से जोड़कर अपने अतीत को ढोता है। हवाई महानताओं के गपोड़े छौंककर वह उसे सिर्फ नष्ट कर सकता है। अपनी वर्तमान दयनीयता से बचने का उसके पास एक ही रास्ता है और वह है— उसका 'निष्कलंक महान' अतीत।

आज हम भले ही बौने, क्षुद्र और तुच्छ रह गए हों, लेकिन हैं तो हम देवताओं, ऋषियों और महानायकों के ही वंशधन—यानी हमारा वर्तमान और भविष्य कैसा भी हो, अतीत निश्चय ही महान, अद्वितीय और विश्व-वंद्य रहा है। इस दृष्टि की विरोधी स्थिति यह है कि हमारे बाप-दादे कुछ नहीं थे, आज जो औद्योगिक और व्यावसायिक 'साम्राज्य' आपको दिखाई दे रहा है, वह मैंने खुद या मेरे बाप ने पसीना बहाकर तैयार किया है। एक पक्ष अपने अतीत को सुधारने, संशोधित करने और महान बनाने में लगा है, तो दूसरा एक-दो पीढ़ी से पीछे जाना ही नहीं चाहता—उसके कर्मक्षेत्र वर्तमान और भविष्य हैं। वह उतना ही 'अतीत' बचाए रखना चाहता है, जितना उसके विकास में बाधक न हो या जिसे वह अपने आज के लिए इस्तेमाल कर सके। सामंती अतीत के लिए उसके मन में उदासीन उदारता या निरपेक्ष सरपरस्ती का भाव है। हाँ, वह उस अतीत को खरीदकर आपको इतनी छूट तो दे सकता है कि आप आराम से बैठकर उसे तोड़ें-मरोड़ें, बदलें या महानता की खराद पर रोज़ उसे छीलते-छाँटते रहें। वह आपके बड़बोले भोंदूपन के प्रति इतना आश्वस्त है कि आपकी 'महानता' में भी व्यावसायिक संभावनाएँ देख लेता है। शर्त यह भी है कि यह उसके वर्तमान और भविष्य को दांव पर न लगा दें। आपके 'बनाए' अतीत को वह निश्चय ही दीवारों और दरवाजों पर सजा कर या देश-विदेश में बेच कर अपने साम्राज्य को और समृद्ध-संपन्न करेगा। इस व्यवसायी के लिए पच्चीस और कारखानों की तरह अतीत भी ऐसा ही उद्योग है, जहाँ संस्कृति के मज़दूर सुविधा के हैं। इस अतीत को आप जितना ही महान, भव्य और दिव्य बनाएँगे, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजार में उसकी उतनी ही ऊँची कीमत मिलेगी। पता नहीं, हममें से कितने धर्माचार्य, पुरातत्ववेत्ता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहासकार और शास्त्रज्ञ इस तथ्य को जानते हैं कि अतीत-निर्माण एक ऐसा उद्योग भी है जहाँ और उद्योगों की तरह शुद्धता, श्रेष्ठता और खरेपन (जेनुइन, ओरिजनल) की माँग बाजार की पहली शर्त है। अतीत की श्रेष्ठता के लिए हम जिस इतिहास को संशोधित-परिवर्तित कर रहे हैं, वह हमें अपनी निजी, राष्ट्रीय या सांस्कृतिक जरूरत लग सकती है, मगर अपने 'मूल' में वह उनके लिए माल तैयार करने की एक अचूक प्रक्रिया या पैकिंग है। यह सिर्फ संयोग नहीं है कि आज बी.जे.पी. या हिंदुत्व परिवार के एकमात्र फाइनैन्सर व्यवसायी और उद्योगपति हैं—अधिकतर तस्कर, ग़ैरकानूनी या राष्ट्र-विरोधी कार्यों में लिप्त उद्यमी। अगर आप यह समझते हैं कि वे राष्ट्र, धर्म या संस्कृति-प्रेम के कारण वहाँ हैं तो निश्चय ही बहुत भोले और भोंदू हैं। जी नहीं, वे शुद्ध व्यवसायी हैं और उस तरफ मुड़कर नहीं देखते, जिधर 'दो पैसे' की कमाई न हो। बंदूकों की फैक्टरी चलाने या अद्नान खाशोगी और एलिजाबेथ टेलर, पामेला बोर्डिस को योग सिखाने वाले आतंकवाद के संचालक धीरेंद्र ब्रह्मचारी या चंद्रास्वामी इस व्यावसायिक खेल के फूहड़ उदाहरण हो सकते हैं, मगर अरबों रुपयों की अंतर्राष्ट्रीय हेरा-फेरी के सूत्रधार हमारे नेता या उद्योगपति कितने धार्मिक, सांस्कृतिक या राष्ट्रीय हैं, क्या यह अब भी हमें दिखाई नहीं देता ?...अगर हम दूरदर्शन को आज का मौसम-सूचक यंत्र मानें तो मुझे यह बिलकुल स्वाभाविक लगता है कि वहाँ या तो धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक भव्य महानताओं के सीरियल छाए हैं या नए-नए उद्योगपतियों और व्यवसायियों के महत्त्वाकांक्षी सनसनीखेज़ मेलोड्रामा ...अपराध और राजनीति का नयनाभिराम संगम। अतीत और वर्तमान यहाँ एक-दूसरे के पूरक हैं। जो कुछ वे चौबीस घंटे दिखा रहे हैं, न तो वह पूरे देश का वास्तविक वर्तमान है, न वास्तविक अतीत—दोनों ही प्रायोजित व्यवसाय हैं। यानी वही इतिहास और वही वर्तमान है, जो वे 'बेचना' चाहते हैं।

मगर जैसा कि मैंने शुरू में कहा, क्या सचमुच हमारे पास इतिहास की कोई तटस्थ वैज्ञानिक और तथ्यपरक दृष्टि नहीं हो सकती ? मैं मानता हूँ कि वस्तुतः इतिहास एक ऐसा मिथ है जिसे धर्म, राजनीति और व्यवसाय की सत्ता अपने-अपने ढंग से परिभाषित (इंटरप्रेट) करती है, करती रहेगी। जो असुविधाजनक है, उसे या तो छोड़ देगी या नष्ट कर देगी। सैकड़ों इतिहासवेत्ता सौ सालों से यही सिद्ध करने में लगे हैं कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आए, यहीं के मूल निवासी हैं, यही नहीं, दो-चार शब्दों, समाज-व्यवहार की समानताओं के आधार पर वे यह भी आग्रह कर रहे हैं कि हमारी आर्य संस्कृति सुदूर चीन, जापान से लेकर मैक्सिको या लैटिन अमरीका तक फैली है। उन्हीं समानताओं के आधार पर यह क्यों नहीं माना जा सकता कि आर्य मध्य एशिया से यहाँ आए हों और वहाँ जो कुछ बचा है, उन्हीं का छोड़ा हुआ हो। बौद्ध धर्म का जन्म भी तो यहीं हुआ, मगर वह फैला-पनपा जावा-सुमात्रा-चीन-जापान में। हमें यह भी बताया जा रहा है कि दस्यु, असुर या दास मूलतः प्राकृतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्तियों के प्रतीक हैं—जैसे इंद्र, कुबेर आदि। मगर फिर यह भी सवाल है कि पुराणों या रामायण, महाभारत के असुर, अनार्य, दस्यु या दास कौन हैं ? 'गोपी' का अर्थ अगर इंद्रियाँ हैं तो उनके सास-ससुर, परिवार किसके प्रतीक हैं ? कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति या शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' जैसे ग्रंथों के दास-दासियों का क्या अर्थ है ? बार-बार सवाल यही उठता है कि अतीत जैसा है, उसे हम वैसा ही स्वीकार क्यों नहीं कर सकते ? अगर उस समय की व्यवस्था में पत्नियों और दासियों से भरे हरम हैं तो रहें, अगर सिंहासन के लिए भाई-भाई, बाप-बेटे या दूसरे दावेदार लड़ते हैं, षड्यंत्र और जालसाजियाँ करते हैं तो करें, वह उस समय की सामाजिक वास्तविकताएँ हैं। हर युग ने अपने अतीत में ऐसी चीज़ें पाई हैं जो असुविधाजनक, अशोभन और आपत्तिजनक रही हैं। अगर मेरे पुरखे डाकू, चोर, भिखारी या राजा थे तो यह बात मेरे गले क्यों नहीं उतरती ? महत्त्वपूर्ण यह क्यों नहीं है कि मैं खुद आज क्या हूँ ? अगर मेरे पास बाप-दादाओं का वास्तविक इतिहास है या उनके छोड़े हुए प्रमाणों से मैं उनकी सच्ची स्थितियों की कड़ियाँ जोड़ सकता हूँ तो मुझे आज अपने होने पर गर्व होगा—उन भूतपूर्वों पर गर्व करने के लिए खून-पसीना एक करने के मुकाबले, खुद अपने को कर्म द्वारा गर्व करने लायक बनाना क्या मेरे आत्मसम्मान के लिए ज्यादा बड़ा टॉनिक नहीं है ? उधार की संपन्नता में क्या सचमुच भीतर यह कचोट और अपराध-बोध नहीं बने रहते कि वस्तुतः यह सब मेरा अपना नहीं, दूसरों से हथियाया हुआ है ? मेरी अस्मिता क्यों विद्रोह नहीं करती कि मैं अतीत के रिमोट कंट्रोल से परिचालित-संचालित रोबोट नहीं हूँ।

शायद यही विद्रोह है कि इतिहास के छोड़े गए प्रमाणों और साक्ष्यों के लिए हमारे मन में एक सम्मान अभी भी बचा हुआ है—पसंद, नापसंद से ऊपर। उन्हें ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने की भावना ने उन्हें लगभग पवित्र मूर्तियों का दर्जा दे दिया है। मानना होगा कि यूरोपियन लोग इस मामले में हमसे ज्यादा तटस्थ और वैज्ञानिक रहे हैं। उन्होंने अगर गिरजों, चर्चों, कैथेड्रलों, महलों, हवेलियों, किलों, मूर्तियों या भित्ति-चित्रों को सुरक्षित रखा है तो यातना देने के साधनों, उपकरणों, विश्वासघात के क्षेत्रों, पराजयों के स्मारकों को भी नष्ट नहीं होने दिया है। वहाँ अतीत के उजले और काले-सारे पक्ष समान सावधानी और सरोकार, के साथ बचाकर रखे गए हैं। इसलिए वह नीचताओं, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, महत्त्वाकांक्षों, उदारता और उदात्तताओं के मानवीय संघर्ष का जीवंत इतिहास लगता है—सिर्फ देवताओं का कटा-छँटा धुला-पुँछा पुराण नहीं, जिसे आप रोज-रोज राजनैतिक रणनीतियों के तहत बदलते रहें या उनके तरह-तरह के मनमाने अर्थ निकालते रहें। पुराण को इतिहास और इतिहास को पुराण बनाने की कलाकारी तो शुद्ध भारतीय मेधा का कमाल है। शिव ने पार्वती से कहा या काग भुशुंडि जी ने गरुड़ जी से कहा कि टीप लगाइए और लिख मारिए कि "कलिकाल में बाबर नामक यवन राक्षस आएगा और आर्यों के यज्ञों का ध्वंस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेगा...गौ-ब्राह्मणों का वध करेगा...'' हमारे पुरखे हजारों साल पहले लिख गए थे।

इतिहास के दिग्गज बजरंगियों ने अयोध्या में विधर्मियों की दो मस्जिदें एक साथ तोड़ीं–एक बाबर की बनाई जो रामजन्म भूमि का 'अपमान' थी, दूसरी बौद्धों की बनाई जातक कथा नाम की मस्जिद जो इस अर्थ में राम का अपमान थी कि सीता को राम की बहन बताती थी। ''महान हिंदू धर्म सारे विरुद्धों को आत्मसात कर लेता है'' की दंभोक्ति में यह नहीं बताया जाता कि दूसरों की स्वतंत्र सत्ता सवर्ण हिंदू धर्म हरगिज स्वीकार नहीं करता। इस्लाम तो माना कि इस देश की उपज नहीं है, बौद्ध, जैन या दूसरी धार्मिक-सांस्कृतिक प्रतीकों का हमने क्या किया ?

मेरे सामने सवाल है कि हमारी 'सर्वधर्म समभाव' वाली हिंदू सरकार ऐतिहासिक या धार्मिक इमारतों की रक्षा जिस चिंता के साथ करती है, क्या यह उसका धर्म नहीं है कि उसी चिंता के साथ शेष बौद्धिक संपदा का संरक्षण भी करे। अगर पुरातात्विक खंडहरों और ऐतिहासिक इमारतों को आधुनिकतम तकनीक द्वारा ज्यों का त्यों बचाए रखना सांस्कृतिक विरासत के लिए ज़रूरी है तो पुरानी बौद्धिक उपलब्धियों और सृजनात्मक साहित्य को अपने शुद्धतम, प्रामाणिक रूप में बनाए रखना जरूरी क्यों नहीं है ? उन्हें हमने क्यों पोंगापंथी, ढोंगी, मूर्ख, ढकोसलेबाज सांप्रदायिकों के हाथ छोड़ दिया है कि वे जिसे मौलिक या प्रामाणिक कहें, हमें उसे ही अंतिम मान लेना चाहिए ? अगर मनुष्य की रची कोई भी किताब बौद्धिक-विमर्श से ऊपर है तो ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के सारे दिग्गजों को डूब मरना चाहिए–चाहे वह वेद और कुरान हो या पुराण और इंजील...जब वे ही अंतिम हैं और धर्माचार्य ही उनके संरक्षक, कस्टोडियन या भाष्यकार हैं तो वे क्यों लाखों ग्रंथ लिख-लिखकर अपनी ऐसी-तैसी करा रहे हैं ? सब कुछ तो वहाँ है ही।

दरअसल ये सारी बातें मुझे परेशान कर रही हैं आजकल दूरदर्शन पर हर रविवार को आने वाले देवकीनंदन खत्री के सीरियल 'चंद्रकांता' और हिंदी-समाज की प्रचंड उदासीनता देखकर। जो कुछ 'चंद्रकांता' उपन्यास में है ही नहीं, वह सब मनगढ़ंत इस सीरियल में पचासों हफ्तों से दिखाया जा रहा है। न वहाँ के चरित्र हैं, न घटनाएँ, न स्थितियाँ और न लोकेल। मजा यह है कि इस सारे चमत्कार के आदि स्रोत हैं, भारत में हर विधा का सूत्रपात करने का श्रेय खुद लेने वाले आदि शंकराचार्य कमलेश्वर (जिनका नाम संवाद-लेखक के रूप में जाता है)। वे ही देवकीनंदन खत्री को लतिया कर अपनी 'चंद्रकांता' खुद लिख रहे हैं। पता नहीं, किस उदारता या कृपावश वे खत्री और चंद्रकांता के नाम ओढ़े हुए हैं, वरना उनकी प्रतिभा के सामने क्या खत्री और क्या उनका उपन्यास। साल-भर में चूँकि सीरियल टॉप पर है, इसलिए विज्ञापनों की बाढ़ का क्या कहना...सुना है, बीस या पच्चीस लाख प्रति सप्ताह का वह दूरदर्शन का सबसे महँगा सीरियल है। इस भयानक व्यावसायिक लाभ के धक्के के आगे निर्माता-निर्देशक नीरजा गुलेरी (हाँ, उन्हीं गुलेरी जी की प्रपौत्र-वधू) और कमलेश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किस खेत की मूली हैं—उन्हें झख मारकर वही करना पड़ेगा जो विज्ञापनदाता चाहेंगे। सवाल यही है कि दुनिया के किसी भी क्लासिक की क्या कोई 'सैंक्टिटी' (शुचिता ?) है ? व्यवसाय या किसी भी नाम पर कोई समाज या सरकार किसी को इतनी छूट दे सकते हैं कि किसी भी राष्ट्रीय स्मारक या क्लासिक के कॉपीराइट-फ्री होते ही आप उसे सुलभ शौचालय बना दें ? कल अगर 'जुनून' नाम के सीरियल का नाम मैं प्रेमचंद की कृति 'रंगभूमि' रख दूँ और अंधे अपराधी सौदागर सिंह को सूरदास नाम दे दूँ तो क्या इसी तर्क से बहुत गलत होगा ? कल 'गोदान' के होरी को किसी पंच-सितारा होटल में डिस्को करता हुआ दिखा दिया जाए तो न तो अशिक्षित हिंदी-समाज कुछ बोलेगा, न भाड़े के लेखकों को ऐसा कुछ लिखने में आपत्ति होगी। बनाएँ रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाम से 'गोरा' सीरियल और दिखाएँ गोरा को माइकल जैक्सन या सूचरिता को सुष्मिता सेन की भूमिका में—दूरदर्शन केंद्रों में आग लगा दी जाएगी और लेखक महोदय भीगी बिल्ली बने किसी परनाले में घुसे होंगे...खुशवंत सिंह ने एक टिप्पणी कर दी थी तो हंगामा मच गया था। जिस देवकीनंदन खत्री ने अपनी रचनाओं के अनुवाद सिर्फ इसलिए नहीं होने दिए कि उनकी मौलिकता समाप्त हो जाएगी, उनकी लाश इस तरह सरे बाजार बेची जाएगी, इसका तो शायद उन्हें खुद गुमान भी नहीं होगा। वह भी किसी टकियल कलमघसीट के नहीं, हिंदी के परम प्रतिष्ठित सिद्ध कथाकार के हाथों...

जब भी हम किसी क्लासिक ग्रंथ की तरफ मुखातिब होते हैं तो वहाँ रचना को मूल रूप में देखना-पढ़ना चाहते हैं। नाटक, फिल्म या किसी भी विधा में जब भी मैं शेक्सपियर के 'हैमलेट' को या कालिदास की 'शाकुंतलम' को देखूँगा तो वही देखना चाहूँगा जो मूल-ग्रंथ में है, 'हैमलेट' के नाम पर 'गॉड-फादर' नहीं। चरित्रों और स्थितियों की व्याख्याएँ अलग हो सकती हैं, मगर न वहाँ नए पात्र होंगे, न नई स्थितियाँ—डायलॉग तो बिलकुल नहीं बदले जाएँगे। पाँच-छह पीढ़ियों से करोड़ों लोग जिस 'चंद्रकांता' को पढ़ते रहे हैं, वे इसमें क्या हासिल करेंगे ? रामायण की जिल्द में कामसूत्र ? यहाँ तो मैं हाथ जोड़ कर सिर्फ यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि नहीं कमलेश्वर जी, कलम के वास्ते शुद्ध घी के नाम पर हमें मोबिल आयल मत बेचिए ...पेंसिलीन की शीशी में पानी का इंजेक्शन देना तो मिलावट भी नहीं, शुद्ध चार सौ-बीसी है। 'जीवन-रक्षक' (लाइफ सेविंग) सिर्फ दवाएँ या खाद्य पदार्थ ही नहीं, संस्कृति के प्रतीक, स्मारक और क्लासिक्स भी होते हैं।

मैं यह जानता हूँ कि रामायण की तरह 'चंद्रकांता' की भी 'स्वर्णकांता', 'स्वप्नकांता' या 'कुंवरकांता' नाम से बीसियों नकलें हुई हैं या देवकीनंदन खत्री के अधूरे छोड़े उपन्यास 'भूतनाथ' को उनके बेटे दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूरा किया है—मगर किसी ने भी मौलिक पाठ के साथ बलात्कार नहीं किया। 'सीक्वैल' या पुरानी कथनी को आगे बढ़ाने की परंपरा विदेशी साहित्य में पुरानी है, 'न्यू ब्रेव वर्ल्ड रि-विजिटेड',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या 'रिटर्न टु पाइटन प्लेस' जैसी न जाने कितनी रचनाएँ हैं जिन्हें मूल पुस्तकों की लोकप्रियता भुनाने के लिए या मूल कथा के क्रमागत के रूप में स्वयं उन्हीं लेखकों ने या दूसरों ने लिखा है, मगर वहाँ साफ है कि ये वही रचनाएँ नहीं हैं। लेखकीय ईमानदारी का तकाज़ा है कि मैं 'चित्रलेखा' की सैंक्टिटी बना और बचाकर रखूँ...क्यों लड़े थे खुद कमलेश्वर। जब शिवेन्द्र सिन्हा ने उनकी कहानी को फिल्म में तोड़-मरोड़ दिया था ? फर्क सिर्फ यही तो है कि अपनी रक्षा करने के लिए क्लासिकों के लेखक जीवित नहीं हैं।

कमलेश्वर हों या लालकृष्ण आडवानी, वे अपने प्राचीन स्मारकों को तोड़-फोड़कर इतिहास की 'गलतियों' को सुधार सकते हैं, वे व्यवसायी और राजनेता हैं, मगर साधारण आदमी क्या करे जो अजंता, एलोरा, कोणार्क, खजुराहो, ताजमहल, कुतुबमीनार, लाल किले के साथ-साथ रामायण, महाभारत, शिल्पदिगारम्, गीता या गोदान, कामायनी को भी वैसा ही राष्ट्रीय स्मारक मानता है और उन्हें मौलिक रूप में सुरक्षित, संरक्षित रखना चाहता है। अगर ठोस स्मारकों को कैब्रे, कसीनो या पाँच सितारा होटलों में बदला जाना राष्ट्रीय अपराध है तो 'चंद्रकांता' को इस रूप में व्यवसायियों के हाथों बेचना अपराध क्यों नहीं है ? क्या कोई ऐसा कानून या कचहरी है कि अलिफ लैला, गीत गोविंद, विक्रमोर्वशीयम् के शीर्षकों में मैं इन क्लासिकों को 'मूल रूप' में देख सकूँ ? इस सारी धाँधली का कारण यह भी है कि सरकार की कोई सुस्पष्ट, समग्र संस्कृति-नीति नहीं है। जिस तरह पुरानी इमारतों, हवेलियों, किलों या समाधियों और मकबरों को सुरक्षित रखने, उनके रख-रखाव या उन्हें नुकसान पहुँचाने के बारे में विधान हैं, उन्हें अधिक से अधिक 'मूल रूप' में बनाए रखने के लिए पुरातात्विक विभाग की जिम्मेदारियाँ हैं, कानून हैं, क्या उसी तरह सांस्कृतिक बौद्धिक संपदा के लिए धर्म-निरपेक्ष विशेषज्ञों, भाषा-विज्ञानियों, इतिहासवेत्ताओं और समाजशास्त्रियों के सहयोग से अपने क्लासिकों के संरक्षण का कोई विभाग नहीं बनाया जा सकता ? शायद नेहरू म्यूज़ियम लाइब्रेरी जैसी संस्थाएँ सिर्फ उनका संग्रह करती हैं। उनकी 'प्रामाणिकता' या प्रासंगिकता तय करने का काम स्वतंत्र शोधकर्ताओं का है। इस दिशा में आज तो ज्ञान-विज्ञान इतना विकसित हो चुका है कि रचना के मूल और प्रक्षिप्त को अनेक स्रोतों और साक्ष्यों के आधार पर छाँटा जा सके। इसी विज्ञान के आधार पर तो विदेशों में पुरानी पेंटिंगों की हू-ब-हू नकलों की या अपने यहाँ दस-पाँच साल पुरानी मूर्तियों को 'प्रगटा' कर हज़ार-पाँच सौ साल पहले की घोषित करने, उनकी मनमानी कीमतें या श्रद्धा वसूलने वालों की वास्तविकता उजागर होती है।

यही नहीं, महत्त्वपूर्ण स्मारकों के लिए सरकार ने बाकायदा टिकट लगाए हैं, अलग से फंड निर्धारित किए हैं। ताकि उनके रख-रखाव का खर्च निकाला जा सके या अन्य खोजों और खुदाइयों के लिए सुविधाएँ दी जा सकें। हमारा सुझाव है कि सांस्कृतिक-बौद्धिक संपदा के संरक्षण और उनके मूल प्रामाणिक रूप स्वयं सुलभ कराने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या कॉपीराइट-फ्री होने की स्थिति में उन्हें विकृति से बचाने के लिए भी स्वायत्त विभाग होना चाहिए, जिसके पास ऐसे कानूनी प्रावधान भी हों कि विकृति और मिलावट को रोका जा सके, ताकि न्यस्त-स्वार्थी या अलग 'विश्वासों' वाले कारीगर असुविधाजनक हिस्सों को घटा-बढ़ाकर अपने कमाल न दिखा सकें। इस विभाग के पास यह अधिकार भी होने चाहिए कि सारे महत्त्वपूर्ण क्लासिकों या कॉपीराइट-फ्री रचनाओं को पंजीकृत करे और उन पर दो से लेकर पाँच प्रतिशत तक रॉयल्टी वसूली जाए, ठीक उसी तरह, जिस तरह आय कर या संपत्ति कर लगते हैं। रॉयल्टी की यह राशि, लेखक-गृह, पुस्तकालय और अन्य शोध-कार्यों के लिए इस्तेमाल की जा सकती है, पुस्तकों के सस्ते संस्करणों फेलोशिप या जरूरतमंद लेखकों की मदद के प्रावधान के रूप में रखी जा सकती है। हाँ, बदलती राजनीति या अन्य दबावों में ग़लत इस्तेमाल को बचाने के लिए इस राशि की जिम्मेदारी निष्पक्ष विद्वानों की ही हो—यह सावधानी भी ज़रूरी है। मुझे विश्वास है कि यह राशि जरूर इतनी बड़ी होगी कि साहित्य के क्षेत्र में अनेक गैर-व्यावसायिक काम हो सकें। तरीका कोई भी हो, कॉपीराइट-फ्री या 'लावारिस' क्लासिकों के हाथ-पाँव तोड़कर भीख मँगवाने, तस्करी कराने, कोठे पर बैठाने या उनके गुर्दे-फेफड़े बेचने वाले धंधेबाजों की व्यावसायिक मनमानियों को रोकना ज़रूरी है।

यह स्मारकों के ध्वंस का युग है। इसके 'नायक' जानते हैं कि जिन देशों को नष्ट होना होता है या जिनका कोई भविष्य नहीं होता, वे सबसे पहले 'एमनैसिया' यानी स्मृतिनाश के शिकार होते हैं। इसी चतुर्दिक स्मृतिनाश का महान आदर्श पूरा कर रहे हैं हमारे महानायक ! भूगोल, इतिहास, संस्कृति, साहित्य—सभी तो उनके लक्ष्य हैं...वे बुलडोजर के रूप में सभी कुछ ध्वस्त करेंगे। फिर अपने स्मारक खुद बनाएँगे। शायद हलाकू और चंगेज खां की तरह खोपड़ियों के टीले।

'हंस', अक्तूबर 1994

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्निपरीक्षाएं

पिछले डेढ़ महीने से भारतीय राजनीति पर नयना साहनी या तंदूर कांड छाया हुआ है। सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी का सक्रिय सदस्य और युवा कांग्रेस का अध्यक्ष सुशील शर्मा मुख्य अभियुक्त है। उसने गोल मार्केट फ्लैट में अपनी 'पत्नी' नैना साहनी की हत्या की और लाश के टुकड़े करके अपने मित्र के 'बगिया' रेस्त्रां में उन टुकड़ों को मक्खन लपेट-लपेटकर तंदूर में जलाने की कोशिश की। सब्जी बेचनेवाली एक महिला ने इस कांड की सूचना पुलिस को दी और 'अशोक यात्री निवास' के अधिकारियों की धर-पकड़ शुरू हुई, लाश को पुलिस ने कब्जे में ले लिया। पिछले दिनों, महीने भर बाद उसका दाह-संस्कार कर दिया गया। उधर सुशील शर्मा फ़रार होकर मद्रास में प्रकट हुआ, वहाँ उसने कोर्ट से ज़मानत ले ली। बाद में उसे गिरफ्तार करके दिल्ली लाया गया। अब उस पर हत्या का मुकदमा चल रहा है। यह सब मैं इसलिए लिख रहा हूं कि एक से एक भयानक घटनाओं के सिलसिले के बीच अगले किसी कांड के आते ही हम यह सब भूल जाएँगे और साल-छह महीने बाद याद करना भी मुश्किल होगा कि नैना साहनी कौन थी। पटना के बॉबी या भागलपुर के पापिया बोस हत्याकांड या लातूर के सेक्स-स्कैंडल को आज हम कहां याद रख पाते हैं ? फिर हम आर्थिक, राजनैतिक और सत्ता की जिन आपराधिक और रोमांचक प्रचंडताओं में जी रहे हैं, वहाँ अभी और भी बड़े-बड़े कांड देखने हैं। जहां पैंसठ करोड़ का बोफोर्स घपला देश की सत्ता बदल सकता था, वहाँ आज बीस-बीस हजार करोड़ खाकर नेता डकार नहीं ले रहे। हजार-पांच सौ करोड़ चबा जाना तो आज न कोई मायने रखता है, न अपराध माना जाता है। भ्रष्टाचार की अभूतपूर्व सामाजिक स्वीकृति सचमुच हमें स्वर्ण युग में ले आयी है। आर्थिक उदारीकरण के तहत सुविधाओं और सपनों के 'फ्लडगेट' (परनाल) खोले जाएँगे तो भ्रष्टाचारों और अपराधों की बाढ़ तो आएगी ही। ग्लोबल फ़िनोमिना है।

लेकिन इससे जुड़े हैं फर्श से लेकर अर्श तक पहुँचनेवाले मध्यवर्गीय बिचौलिए, महत्त्वाकांक्षाओं और अपराधों के धमाकेदार सूत्रधार जिन्हें जेलों और फाँसी के तख्तों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर होना चाहिए वे हमारे राजनैतिक, वैधानिक आक़ा हैं। समाज से लेकर मीडिया तक हम भ्रष्टचारों का नाश्ता करते हैं, लाशों के लंच लेते हैं और फिर न्यायपालिका द्वारा मुख्य नायकों के बरी होने के फ़ैसलों का डिनर लेकर स्वप्नहीन नींद सो जाते हैं—अगली सुबह फिर एक सनसनी की प्रतीक्षा के साथ। सुशील शर्मा ऊँची नेताई पहुँच और लंबे संपर्कोंवाला राजनैतिक आदमी है, इसलिए आप निश्चिंत रहें, उसका कुछ नहीं होगा। बड़े-बड़े नेताओं, मंत्रियों के नाम उगलने की धमकियों ने सबको चुप कर दिया है, क्योंकि यहाँ सभी एक से एक पीर बैठे हैं। उधर सेशन्स कोर्ट से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक कानून के गलियारे इतने पेचीदा और घुमावदार हैं कि एक दिन सुशील शर्मा फिर किसी राजनैतिक-सामाजिक मंच पर गले में मालाएँ डाले, मुस्कराते हुए नैतिकता, अनुशासन और त्याग के उपदेश देते अवतरित होंगे। एक बेदाग सम्मानित नागरिक। यही सत्य की विजय है। हजारों सिखों को अपनी आँखों के सामने जलानेवाले, सूरत में अल्पसंख्यक औरतों के बलात्कारों की 'जीवित' वीडियो-रिकॉर्डिंग करनेवाले या धर्मांध भक्तों की भीड़ द्वारा इतिहास की गलतियों का बदला लेनेवाले जन-नेताओं के अभिनंदनों को देखकर कोई मूर्ख ही शंका करेगा कि सतयुग की बात कपोल-कल्पना है।

मगर सतयुग हो या त्रेता, जलना तो नैना साहनी को है ही। यहाँ वह सामाजिक गतिविधियों में भाग लेती थी, महत्त्वाकांक्षी थी, अनेक लोगों से संपर्क थे, कुछ शायद 'घनिष्ठ' भी थे और सार्वजनिक पहचान ने उसे दुस्साहसी बना दिया था। उसकी हत्या तो होनी ही थी। कुछ व्यक्तियों की हत्या का रोज़नामचा उनके अंत से पहले ही लिख दिया जाता है—सिर्फ एक-एक अध्याय पूर्वलिखित प्रारब्ध की तरह घटित होता रहता है। हां, इस हत्या के जघन्य और नृशंस विवरणों ने आज मीडिया को बुरी तरह झकझोर दिया है। तंदूर में नैना साहनी के शरीर के टुकड़े किस तरह जले, पूरा नाटक क्या था—इस पर हज़ारों टन अखबारी कागज फूंका गया है। चूंकि सुशील शर्मा सत्ता कांग्रेस से जुड़ा है, इसलिए लगता है, राजनीति और अपराध का यह तंदूर राव सरकार को भी भस्म कर देगा। इस कांड पर 'जनसत्ता' के प्रभाष जोशी ने जिस संवेदनात्मक आक्रोश से अपने 'कागद कारे' (9 जुलाई 95) में लिखा है, वह सचमुच हिला देता है। समय-समय पर वे जिस आंतरिक लगाव (इन्वाल्वमेंट) के साथ क्रिकेट पर लिखते हैं, वही आंतरिक उद्वेलन आप इसे पढ़कर अपने भीतर महसूस करते हैं। इसे पढ़कर भावनात्मक आंदोलन की इसी मानसिकता में मैंने अगले ही दिन छोटे से पत्र में (10.7.95) उनसे एक सवाल पूछा था, "प्रिय प्रभाष जी, 9.7.95 के जनसत्ता के 'कागद कारे' में नैना साहनी के लिए आपका उद्वेलित करनेवाला वक्तव्य पढ़ा। यहाँ मैं सिर्फ यह पूछना चाहता हूं कि क्या यही मानवीय संवेदना, सात्विक क्रोध और उदात्त करुणा आप रूपकंवर के लिए भी अपने भीतर पाते हैं ? नैना साहनी को मारकर उसके टुकड़ों पर मक्खन लपेटकर 'बगिया' के तंदूर में जला दिया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और रूपकंवर को घी-समिधा इत्यादि डालकर चिता पर बैठा दिया गया। यह कृत्य क्या सिर्फ इसलिए आपके एहसास को नहीं छुएगा कि संस्कृत के श्लोकों और धार्मिक अनुष्ठान के रूप में संपन्न हुआ ? फर्क सिर्फ इतना ही तो है कि तंदूर में कोयले रहे होंगे और चिता में मंत्रपूत लकड़ी या चंदन के चैले। 'राजनीति' तो दोनों के पीछे थी। अगर रूपकंवर की हत्या अमानवीय नहीं थी तो नैना साहनी की हत्या क्यों अमानवीय है ? सिर्फ इसलिए कि वहाँ 'सती' शब्द जुड़ा है और उसे विश्व के महानतम धर्म का समर्थन प्राप्त है ? आप इस विषय पर प्रकाश डाल सकें तो मुझे 'नैना साहनी कांड' को समझने में सचमुच मदद मिलेगी।''

जाहिर है, इस पर किसी तरह की कोई प्रतिक्रिया नहीं मिली। मैं उम्मीद कर रहा था, मेरा पत्र प्रभाष जोशी जैसे संवेदनशील व्यक्ति के किसी तार को छुएगा और वे अपने भीतर झाँकने की जरूरत महसूस करेंगे। मेधावी व्यक्ति हैं, हो सकता है कि वे एक क्षण के लिए यह भी सोचें कि नैना साहनी ने जो बहुत कुछ जिया था, उसकी हत्या में प्रतिशोध था, रूपकंवर तो अभी जीवन की दहलीज पर ही कदम रख रही थी। शायद जोशी जी धार्मिक शास्त्रीय आधारों पर सती और नरबलि के समर्थन वाले अपने पुराने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार की बात भी सोचें। मगर नहीं, यह पुनर्विचार न उन्होंने तब किया था, न अब किया। वैसे भी धार्मिक संस्कारों वाले लोग किसी भी दूषण-प्रदूषण से ऊपर होते हैं, क्योंकि ईश्वरीय शास्त्र उनके साथ हैं—अंग्रेज़ी में जिसे कहते हैं 'इनफ़ालोबिल'। 'जनसत्ता' में किसी दूसरे विचार की गुंजाइश नहीं है कम से कम मेरा तीन-चार बार का अनुभव यही है, 'हंस' के खुले पाठकीय मंच की दुनिया में रहने के कारण मुझे यह भ्रम हो गया था कि शायद हिंदी-पत्रकारिता राजेन्द्र अवस्थी, धर्मवीर भारती की अपनी स्तुति-प्रशस्तियों से आगे आ गई है। मगर नहीं, यहाँ भी 'अपुन' का परिवार, अपुन की शारीरिक-मानसिक अवस्थाएँ, अपुन के न रहे मित्र और अपुन के शास्त्र या क्रिकेट ही अंतिम सत्य हैं—शंकाओं और प्रश्नों से ऊपर...देवत्व को प्राप्त प्रभाष जोशी या विद्यानिवास मिश्र 'आकाशवाणी' ही करने के अभ्यस्त हैं। जिसे आप सुन सकते हैं, मगर बोल कुछ नहीं सकते—अपने से अलग तो बिलकुल नहीं। इसे कहते हैं पाठकों से संवाद...

इसी महीने ऐसी ही एक समाजनेत्री महिला, सुषमा सिंह को मारकर लाश के टुकड़ों को मगरमच्छों को खिलाने का पुण्य कृत्य किया है मध्य प्रदेश के महेंद्र सिंह ने। (सुना है, माफ़िया शिरोमणि इलाहाबाद के बुक्कल महाराज के पिताश्री का अपना एक तालाब था और उसमें पले मगरमच्छों का भोजन था दुश्मनों के शरीर के टुकड़े) विधायिका सुषमा के पति हैं महेंद्र। नैना और सुषमा दोनों ही राजनीति में सक्रिय हैसियतों वाली व्यक्तित्ववान महिलाएँ थीं—हो सकता है, और ऊंचे या आगे जाना चाहती रही हों—जो पतियों को रास नहीं आ रहा था। हो सकता है, सार्वजनिक छवि वाले इन पतियों के कुछ ऐसे रहस्यों की गवाह या हिस्सेदार भी रही हों, जिन्हें खोल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने की धमकियां भी इन्होंने दे डालीं हों। शुद्ध ब्लैक-मेलिंग। सामाजिक जीवन में कुछ लोगों से अंतरंग मेलजोल भी, हो सकता है पतियों को अचानक आपत्तिजनक लगने लगा हो। बहरहाल, कुछ तो ऐसा खतरनाक रहा ही होगा कि इनकी जबान हमेशा के लिए बंद करना जरूरी हो गया...तर्क यह भी कहता है कि जो कुछ भी रहा होगा, उसमें इन महिलाओं के 'चरित्र' या 'नैतिकता' के आरोप सबसे ऊपर रहे होंगे—या उन्हें ही अचानक सबसे प्रमुख मानकर हत्या के ये फ़ैसले लिये गए होंगे ...चरित्र नैतिकता हमारे यहाँ वैसे भी, दुनिया के किसी गैर-कानूनी, अमानवीय, निकृष्ट और जघन्य कार्य से नहीं, लिंग-प्रयोग से तय होते हैं। स्त्री व्यक्तित्व के तो बड़े से बड़े गुब्बारे को 'नैतिक स्खलन' की छोटी-सी सुई से फोड़कर ध्वस्त किया जा सकता है। बड़ी से बड़ी सती-साध्वी को आप चरित्रहीन कहिए और गोली मार दीजिए—समाज आपकी मर्दानगी के साथ होगा। ('ऐसी छिनाल की क्या पूजा करेंगे ?')

शायद यह हमारे समाज का सबसे भयानक अंतर्विरोध है। स्त्री स्वतंत्र होकर सामाजिक, राजनैतिक या अन्य क्षेत्रों में अपने-आप को स्थापित भी करे, लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में हज़ारों साल पहले के महलों और पर्दों में कैद रहने वाले सामंती चरित्र और शील की मूर्ति भी बनी रहे। वह स्वयं या दूसरा कोई उसकी 'इज़्ज़त' से खिलवाड़ न करे। इसे दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि औरत से जितनी ही यह उम्मीद की जाती है कि वह अपनी देह के अलावा भी अपनी प्रतिभा-क्षमता-योग्यता को प्रमाणित करे, उतनी ही यह आर्य-समाजी ज़िद भी है कि वह सिर्फ देह ही बनी रहे। यानी अपनी देह को उन्हीं अर्थों में सुरक्षित, अदृश्य और पवित्र रखे जो हम मानते रहे हैं। जब तक पुरुष स्वयं उसे सिर्फ देह मानकर शोषण, उपभोग, उपयोग करता रहे, तब तक तो सब कुछ सहज-स्वाभाविक है, मगर जिस क्षण वह तय करती है कि अपनी देह का उपयोग स्वयं कैसे करे, उसी दिन आसमान टूट पड़ता है। भारतीय समाज में वह उसी दिन अपना मृत्युलेख लिखना शुरू कर देती है। यहाँ एक अजीब द्वंद्वात्मक रिश्ता स्त्री-पुरुष के बीच शुरू हो जाता है। जितना ही पुरुष यह आग्रह करता है कि नारी का मतलब है नारी-देह, उसका सौंदर्य, उसका शील, उसका चरित्र यानी देह की मिल्कियत, उतना ही नारी अपनी देह को अपनी आकांक्षाओं का माध्यम और हथियार बनाने का निर्णय लेती जाती है। सौदे के लिए उसके पास सिर्फ देह है, उसे वह पति नाम के प्राणी को संपूर्णता में बेचे या तोड़-तोड़कर दस पुरुषों को बाँटे। निचले तबकों में उसका शोषण दुहरा है। वहाँ श्रम और सेक्स दोनों धरातलों पर उसका इस्तेमाल होता है। शहरी मध्य वर्ग में यह सारा खेल और उसकी जटिलताएँ देह-केंद्रित हैं। खेल का अंत पहले से ही तय रहता है : हत्या या आत्महत्या। बीच की अवधि में वह जितना भी कमाल दिखा ले, यह उसका कौशल है।

'देशकाल सोसाइटी' की तरफ से पिछले महीने नेहरू म्यूजियम लाइब्रेरी में कथा-लेखिका डॉ. प्रभा खेतान की, 'स्त्री शक्ति' पर एक वार्ता थी। उसमें मैंने एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवाल उठाया था कि स्त्री-व्यक्तित्व को जिस एकमात्र जगह पर सबसे अधिक कुचला, तोड़ा और समाप्त किया गया है, वह है सेक्स। स्त्री को मर्यादा या नियंत्रण में रखने की जितनी भी तरकीबें और तरतीबें हैं, वे सब सेक्स को लेकर ही हैं। बचपन से ही उसकी इस प्रवृत्ति को समाप्त करने के तरीके ईजाद किए जाते रहे हैं—मुस्लिम समाजों में तो ख़तने जैसे विधान भी हैं। उधर पुरुष सेक्स को बढ़ाने के नुस्खे हर दीवार और अख़बार पर छाये हैं। उनका भी ज़ोर होता है कि औरत को कैसे काबू में रखा जाए...यानी तरीका कोई भी हो, स्त्री-सेक्स वह विस्फोटक तत्त्व है जिसे शास्त्र और शस्त्र—सभी से नियंत्रित रखना है। फिर क्यों स्त्री-मुक्ति की मुहिम मुख्य रूप से इसी नैतिकता के विरोध से नहीं शुरू होनी चाहिए ? सही है कि 'स्त्री-मुक्ति का अर्थ सेक्स की स्वतंत्रता नहीं है' का नारा भी सबसे अधिक शीलवती सम्मानित महिलाएँ ही लगाएँगी। मगर फिर उसकी मुक्ति के मुद्दे क्या-क्या होंगे ? आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियाँ भी सेक्स को लेकर ही सबसे ज्यादा चौकस और प्रताड़ित हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता उन्हें आत्मविश्वास और परिणामतः अपनी प्रतिभा और क्षमता के विकास के आधार ज़रूर देती है, मगर सामाजिक सम्मान तो सेक्स नैतिकता से ही तय होता है। अगर पति है तो उससे उन्हें पिटना या प्रताड़ित भी होना पड़ता है—अपने यारों के साथ मस्ती करने के लांछन भी सहने पड़ते हैं। मैं एक ऐसी महिला कलक्टर को जानता हूँ जो बाहर वालों से आँखे लड़ाने, घर-बच्चे न देखने, परिवार वालों या मित्रों को फूहड़ समझने के अपराध में जूनियर इंजीनियर पति से पिटती और अपमानित होती रहती है। इसी सिलसिले में कभी-कभी वह भी होता है जो नयना साहनी या सुषमा सिंह के साथ हुआ...तब यह क्यों न माना जाए कि स्त्री-मुक्ति का असली मुद्दा सेक्स-मुक्ति है...राजनीति में स्त्री का होना जिन जटिलताओं को जन्म दे रहा है, उनमें सेक्स सबसे प्रमुख है।

मेरे इस प्रश्न पर बात वहाँ तो नहीं हो पाई, लेकिन जवाब दिया विदेश में अर्से से जा-बसे एक दोस्त ने। यहाँ उन्हें एक दबंग, प्रभावशाली नेता के साथ कूपे में सफ़र करने का मौका मिला। संयोग या दुर्भाग्य से वे अभी तक विदेश नहीं जा पाए थे। इसलिए परिचय के बाद विदेशों के रहन-सहन, जीवन-स्तर इत्यादि पर बातें होने लगीं। वहाँ परिवार उस अर्थ में है ही नहीं, जिस अर्थ में यहाँ है, जानकर उन्हें बेहद सुकून मिल रहा था। मित्र को बेचैनी हो रही थी कि कमबख़्त असली बात पर क्यों नहीं आ रहा है और वह आया भी, दो-तीन पैग के बाद ही। ''क्यों जी, वहाँ सेक्स तो बहुत फ्री है, उसके बारे में बताइए।'' ''फ्री-सेक्स से आपका मतलब क्या है ?'' पूछा मित्र ने। चेहरे पर एक लुभावनी पिघली चमक के साथ बताया, ''फ्री सेक्स...माने जिसके साथ मन हो...वहाँ तो एक से एक माल बिखरा है।'' सुनकर मित्र ने संतोष की साँस ली। ''देखिए, जहाँ तक पुरुषों के लिए फ्री-सेक्स की बात है तो वह हिंदुस्तान से ज़्यादा कहीं नहीं है। जिसका जहाँ काम होता है, प्रमोशन,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौकरी या दूसरी कोई भी सुविधा देने की पहली शर्त ही औरत से सेक्स की माँग होती है। और न हो, तो बाकायदा खरीदा जा सकता है। वह तो कहीं भी हो सकता है। यह सब भी न हो तो बलात्कार तो है ही, गाँव-कस्बे में अगर आप असरदार हैं तो जिसे चाहें दबोच लें या उठवा लें। इसलिए पुरुष तो हमेशा ही फ्री सेक्स भोगता रहा है। अपराधियों के सत्ता और राजनीति में आने के बाद तो यह और भी खुला खेल हो गया है। हाँ, आपका मतलब वहाँ स्त्रियों के फ्री-सेक्स से है तो खुलापन वह नहीं है जो आप समझ रहे हैं। अपनी देह के साथ संबंध को स्त्री वहाँ खुद चुनती है। वह खुद यह फैसला ले सकती है कि किसके साथ कितनी घनिष्ठता रखनी है। यही स्वतंत्रता यहाँ नहीं है। क्या आप चाहेंगे कि आपकी पत्नी, बेटी या बहन, किसी को भी अपनी तरह सिर्फ सेक्स के लिए चुने ?" सुनकर नेताजी को बौखलाना ही था, "अजी, यह कैसे हो जाएगा... ?" मित्र मुस्करा पड़ा..."हो सकता है, नयना साहनी और सुषमा सिंह ने चुनाव की ऐसी ही कोई स्वतंत्रता ले डाली हो और उसे बर्दाश्त न किया गया हो..." 'जिमि स्वतंत्र होई बिगरहि नारी' कहते समय तुलसीदास इसी 'चुनाव' करने को ही तो बिगड़ना कह रहे थे। क्योंकि स्त्री में विवेक तो होता नहीं है। वैसे भी, संस्कार पुराने हैं : जिस सीता के लिए आप युद्ध लड़ें, सबसे पहले उसे ही आग के दरिया में झोंक...

ज़ाहिर है, इस समाज में अपनी देह के इस्तेमाल की स्वतंत्रता का चुनाव स्त्री को नहीं दिया जाएगा। उसे कहाँ कितनी छूट देनी है, यह चुनाव भी पुरुष ही करेगा। स्त्री भी इसे जानती है कि पुरुष वर्चस्व वाले समाज में सम्मान और सुरक्षा पानी है तो इस चुनाव की बात नहीं करनी है। इसलिए बड़ी से बड़ी प्रबुद्ध महिला को यही कहना पड़ता है, "स्त्री-मुक्ति का अर्थ सेक्स की स्वच्छंदता नहीं है"...आखिर यह विशेषाधिकार तो पुरुष ने अपने पास ही रखा है कि जिसके यहाँ चोरी करे, उसे ही छत पर खड़े होकर चोर भी कहे..."साली, खिड़की-दरवाज़े इतने कमज़ोर रखोगी तो हम चुराएँगे नहीं ?"

कभी-कभी मुझे बड़ा मनोरंजक लगता है कि अपने यहाँ पुरुष के भयानक दुर्गुणों या दुर्व्यसनों में शराब, अफीम, जुए के साथ औरतबाज़ी भी 'गुनाहे कबीरा' है—यानी वह जीवित प्राणी नहीं, बोतल, डिबिया या पुड़िया में रखी एक ऐसी नशीली चीज़ है जिसका आप चोरी-छिपे 'सेवन' करते हैं—या बड़े और महान कार्यों में व्यस्त पुरुष को वह 'रिलीफ' देने की टैबलेट है...कैसा चुस्त वाक्य है—वाइन ऐंड वुमेन ... सुरा-सुंदरी...अब यह अपने-अपने स्तर, पहुँच और पकड़ पर है कि आपका नशा, ठर्रा है या रॉयल सैल्यूट...जहाँ-जहाँ औरत को बार-बार वस्तु बनाया गया है, मुक्ति के सबसे पहले प्रयास भी तो वहीं से होंगे...उसके बिना सहयात्री और सहभागी शब्दों का क्या अर्थ है ?

'हंस', सितंबर 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर ही सत्य है

भारत सरकार का आदर्श-वाक्य (मोटो) है 'सत्यमेव जयते'। इधर दिल्ली की भाजपाई सरकार ने शहर के हर बिजली के खंभे पर वाक्य लटकवा दिए हैं 'ईश्वर ही सत्य है'। (इससे पहले यह शाश्वत वाक्य श्मशानों में मैंने ज़रूर पढ़ा था) दोनों में ही 'सत्य' शब्द कॉमन है। इसलिए दोनों में एक अंतर्सूत्रता है : जो 'सत्य' जीतता है वही ईश्वर है। यहाँ 'सत्य' निरपेक्ष है। इसे कौरव और पांडव दोनों अपने-अपने पक्ष में हथिया सकते हैं। अंत में वह उसका होता है जो विजयी है। यानी 'सत्य' सिर्फ उनका होता है, जो जीतते हैं या सत्ता में होते हैं। महत्त्वपूर्ण यहाँ यह नहीं है कि यह विजय उन्होंने किन झूठ-सच या दंद-फंदों से हासिल की। महत्त्वपूर्ण है, सत्ता का सत्य। और उसका ईश्वर होना। रावण या कौरव विजयी होते तो सत्य निश्चय ही उनके साथ होता। यहाँ यह सवाल कोई नहीं पूछता कि तुर्क, मुगल या अंग्रेज अगर हमारे ऊपर आक्रमणों में विजयी हुए तो क्या 'सत्य' उनके साथ था ? ज़रूर रहा होगा, वरना वे विजयी ही कैसे होते ? हज़ार साल राज्य कैसे करते ? मगर नहीं, वहाँ हम पलटा-दांव मारते हैं और दूसरी तरह देखते हैं : हालाँकि हम पराजित हुए या जय उनकी हुई, मगर 'सत्य' हमारे ही साथ था। यानी सत्य को जय-पराजय से कोई लेना-देना नहीं, वह सुविधानुसार साथ होता है। अंग्रेजों के समय सत्य गांधी जी के पास चला गया और वे मज़े में सत्य के साथ प्रयोग करने लगे। उधर हिंदुत्ववादी चिंतक, सत्य को अंग्रेजों के साथ ही मानते थे। इसलिए उनकी जय-जयकार करते थे। दोनों के दो सत्य थे। अंत में हिंदू-सत्य ने गांधी के सत्य को गोलियों से भून डाला और सत्य को अपने साथ कर लिया। जो अंग्रेज नहीं कर पाए, वह इन्होंने कर दिखाया। इस प्रकार गांधी का सत्य भाजपा का सेवक हो गया। मस्जिद बनवाते समय यही सत्य कभी बाबर के साथ रहा होगा, मस्जिद तोड़ते समय बजरंगियों को मिल गया। इस भूल-भुलैया से गुजरने के बाद आखिर हम किस नतीजे पर पहुँचे ? यही कि आज सत्य चूँकि भाजपा के साथ है, इसलिए वे ही 'ईश्वर' हैं और उनके खिलाफ़ कुछ भी बोलना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर के खिलाफ बोलना है। आज की भाजपाई राजनीति के संदर्भ में कायदे से यह संदेश 'ईश्वर ही सत्य है' न होकर 'राम नाम सत्य है' होना चाहिए, क्योंकि उन्हें यहाँ तक लाए तो राम ही हैं। मगर लगता है कि या तो राम की प्रोन्नति कर दी गई है या फिर उस जड़ को ही पकड़ा गया है जिसके राम सिर्फ अवतार हैं।

ईश्वर सत्य तो है, मगर निर्गुण और निराकार है। उसे अपने 'होने' का प्रमाण देना होता है। अवतारों या द्रष्टाओं के माध्यम से। अवतार स्वयं ईश्वर के अंश होते हैं और अपने ईश्वरीय प्रतिशत या कलाओं के हिसाब से शरीर धारण करके बार-बार सत्य की स्थापना करते हैं। 'द्रष्टा' स्वयं अवतार नहीं हैं, मगर प्रतिनिधि या नुमाइंदे ज़रूर हैं—वह हमें ईश्वर के बारे में बताते हैं, उसके स्वरूप की व्याख्या करते हैं। दूसरे शब्दों में वे ईश्वर नाम के निराकार सत्य को 'पकड़' कर हम तक पहुँचाने वाले एंटिना हैं। इसीलिए वे ऋषि या पैगम्बर कहलाते हैं। इन्हीं के कथनों, उवाचों या 'दर्शन' (विज़न) के माध्यम से ईश्वरीय सत्य हम तक आते हैं। अवतार हमारी संस्कृति हैं और स्वयं द्रष्टा या उनके द्वार देखे गए 'दर्शन' हमारे वर्तमान को निर्धारित-प्रभावित करते हैं। यानी धर्म-संदेश देते हैं। इन अवतारों या ऋषियों के खिलाफ कुछ भी बोलना नास्तिकता, धर्मद्रोह या कुफ्र है। हिंदू धर्म में तो अवतार और ऋषि इतने अधिक हैं कि बड़े घर के अनेक मालिकों के बीच काम करने वाले नौकर की तरह आप एक का सहारा लेकर दूसरे को ठेंगा दिखाते रह सकते हैं, लेकिन इस्लाम में पैगम्बर एक ही हैं और उनकी हैसियत इतनी निर्विवाद ऊँची है कि आप ईश्वर के खिलाफ कुछ भी बोलते रहें पैगम्बर के विरुद्ध कुछ भी बोलेंगे तो खून-ख़राबा हो जाएगा। बहरहाल, वहाँ खुदा ने चूँकि सारे के सारे अधिकार एक ही पैगम्बर को सौंपे हुए हैं, इसलिए भ्रम की गुंजाइश कम है। जो भी कुछ है वह पैग़म्बर और उनके द्वारा 'साक्षात्कृत' कुरान है। जो 'कन्फ्यूज़न' या झगड़े हैं, वे सब इन दोनों की व्याख्याओं को लेकर ही हैं। जिसकी व्याख्या में दम है या जो दूसरे से ज्यादा दमदार है उसी की व्याख्या चलती है, यानी सत्य उसी के साथ होता है, बाकी सब काफ़िर होते हैं। पता नहीं कौन, कहाँ कितना दमदार हो जाए। इसलिए इस्लाम हमेशा ख़तरे में बना रहता है। अभी पिछले दिनों इराक और ईरान दोनों के साथ ही खुदा या सत्य था। इसलिए दोनों के यहाँ इस्लाम खतरे में था। चूँकि असली धर्म दोनों के साथ था इसलिए दोनों एक-दूसरे के लिए काफ़िर थे। इस्लाम को अपने बचाव के लिए हमेशा काफ़िरों की जरूरत पड़ती है—जब बाहर नहीं होते तो अपने भीतर ही खोज लिये जाते हैं। अक्सर जो खतरे में होता है, वही खूँखार भी होता है। हिंदुओं में देवी-देवताओं, अवतारों और ऋषियों-आचार्यों की भरमार है और सभी सृष्टि के आदिस्रोत हैं। इसलिए आप एक-दूसरे की आड़ लेकर मस्ती करते रह सकते हैं। सब समझे रहते हैं कि अगर यह हमारा नहीं तो दूसरे का आदमी होगा। इसलिए कोई किसी को नहीं छेड़ता। इसे हम लोग कहते हैं सह-अस्तित्व। कभी-कभी तो यह भी देखा गया है कि सारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवानों के दरबार में समान-निष्ठा से हाथ जोड़ने वाला कालांतर में खुद भगवान बन बैठा है। मगर मूल समस्या वही है कि जब ईश्वर ही सत्य है और सत्य को ही विजयी होना है तो इस कार्य को संपन्न करने की ज़िम्मेदारी किसकी है ? जाहिर है, अवतारों या ईश्वरीय प्रतिनिधियों की। बीच-बीच में चमत्कार दिखाकर ईश्वर अपने सत्य होने के प्रमाण निरंतर देता रहता है, मगर इससे तो सिर्फ वातावरण बनता है—स्वयं सत्य की स्थापना नहीं होती। वह तो तभी होगी, जब सत्य के पास शक्ति और सत्ता हो। ईश्वरीय आदेशों के अनुसार धर्मराज्य स्थापित हुए बिना सत्य की रक्षा असंभव है। सारी लड़ाई सत्य की रक्षा के लिए इसी धर्मराज्य की स्थापना को लेकर है, जिसका पहला उद्घोष है, 'ईश्वर ही सत्य है।'

रामराज्य या निज़ामे-मुस्तफ़ा तभी संभव है, जब धर्म के पास सत्ता हो या सत्ता धर्मानुसार चले, यानी धर्म और सत्ता का सामंजस्य (गठबंधन) ही सत्य की रक्षा कर सकता है। आदर्श तो यह है कि कोई अवतार, अवतारी पुरुष या सत्य-द्रष्टा ही सत्ता का नियंत्रण करे और संसार में धर्म की स्थापना हो। अगर यह संभव नहीं है तो सत्ताधीश, धार्मिक सत्य-द्रष्टाओं, उलेमाओं के परामर्शों या आदेशों के अनुसार सत्ता का संचालन करे। वे ही हर समय, समस्यानुसार उन्हें व्यवस्था या फ़तवे देकर मार्गदर्शन देंगे। वे ही बताएँगे कि क्या गलत है, क्या सही है, क्या धार्मिक है क्या अधार्मिक ? किसे धर्म-विरोधी कहकर सूली पर चढ़ाना है, किसे पुरस्कृत करना है ? सत्य की रक्षा के लिए इनके निर्देशों को मानना अनिवार्य है। चूँकि राम ने वही किया जो वशिष्ठ ने कहा, इसलिए वह 'रामराज्य' कहलाया। 'योग-वशिष्ठ' कहकर वशिष्ठ ने धर्म-सत्य, ब्रह्म-माया, मन इत्यादि को लेकर राम के भीतर उठने वाले सारे प्रश्नों का सविस्तार समाधान कर दिया। इसलिए वह हिंदू-धर्म का निचोड़ ग्रंथ है। उधर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य जैसे ऋषि की सलाहें नहीं मानीं, इसलिए नाश को प्राप्त हुआ—यानी सत्य पांडवों की तरफ चला गया। स्वयं गीता बोलकर कृष्ण ने और भी धुंध फैला दी। उसने ऋषियों, देवताओं और मंत्र-द्रष्टाओं के हाथों से छीनकर सत्य को एक ही परम-ब्रह्म के रूप में स्थापित कर दिया। इतना ही नहीं, उसने यहाँ तक घोषित कर दिया कि वह परम-सत्य कोई और नहीं, स्वयं मैं हूँ—इसलिए सारे भगवानों, देवताओं को छोड़कर हे अर्जुन, तू मेरी ही शरण में आ। महाभारत बाक़ी सारे भगवानों, देवी-देवताओं, ऋषियों, राजपुरोहितों के खिलाफ विद्रोह है। वह स्वयं उन्हें अनुशासित करता है। वहाँ 'महाराज' जो चाहते हैं, वही जायज़ है। वे राजाओं की इच्छाओं और हितों को देखकर धर्म-व्यवस्था देते हैं। गीता उनकी सारी धर्म-व्यवस्था को उलटकर उन्हें अपदस्थ कर देती है और कृष्ण को स्वयं धर्म या सत्य के रूप में स्थापित करती है। समाजशास्त्री इसे क्षत्रिय-ब्राह्मणों के सत्ता-संघर्ष में क्षत्रियों की विजय के रूप में देखते हैं। शायद इसीलिए गीता में सबसे ज़्यादा 'एब्स्ट्रैक्शन' (अमूर्तन) है और उसे उसके मूल-मंतव्य से हटाकर भटकाने का कार्य भी (गीता के साथ ही) सबसे अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है। दूसरे शब्दों में इसके मूल-आशय को लेकर इतनी व्याख्याएँ की गई हैं कि गीता का वास्तविक प्रयोजन कोई एक नहीं रह जाता। यह फिर से ब्राह्मणों की बौद्धिक विजय है जहाँ महाभारत, उसके पात्र, संदेश, गीता इत्यादि सभी अमूर्त होकर रूपक बना दिए जाते हैं और वे व्यक्ति न रहकर प्रवृत्तियों और अवधारणाओं के प्रतीक बन जाते हैं। इस अंतर्विरोध की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया कि रामायण के मुवाकले महाभारत ज्यादा मांसल, मानवीय और लगभग इतिहास को छूती हुई रचना है। फिर भी रामायण को थोड़े फेर-बदल के साथ ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया जाता है। उधर महाभारत को अधिक से अधिक रूपक, प्रतीक बनाने का प्रयास है। कुछ अस्वीकार्य ही रहा होगा कि उसकी वास्तविकता को निरंतर तोड़ने की जरूरत पड़ी। मूर्त का मानसिक या भौतिक नाश किए बिना आप अमूर्त नहीं बना सकते। महाभारत की सारी असुविधाजनकताओं का इसीलिए सबसे अधिक अमूर्तन किया गया कि वास्तविक को नष्ट किया जा सके। प्रसिद्ध चिंतक सूज़न सैंटोग के अनुसार भी 'इंटरप्रिटेशन इज़ रिजेशन ऑफ टेक्स्ट' (व्याख्या, मूल पाठ का तिरस्कार है)। गीता की सारी व्याख्याएँ ब्राह्मण-वर्चस्व की पुर्नर्स्थापनाएँ हैं। स्वयं गीता का पाठ उसका विरोध करता है।

फिर वहीं से शुरू करें। 'ईश्वर ही सत्य है' और चूँकि ईश्वर बहुत देर और दूर तक निर्गुण-निराकार या अमूर्त नहीं रह सकता, इसलिए धर्म या धार्मिक प्रतीकों प्रतिनिधियों और चमत्कारों द्वारा अपने को प्रमाणित करता है। परिणामतः धर्म ही ईश्वर है। यानी धर्म ही सत्य है और सत्य की रक्षा रामराज्य में ही संभव है। यह धर्मात्माओं और धार्मिक प्रतिनिधियों का राज्य है। चूँकि धर्म की व्याख्या, स्वरूप और सीमा-विस्तार ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें समझने, संचालित और नियंत्रित करने के सारे अधिकार ईश्वर की ओर से धर्माचार्यों (ब्राह्मण वर्ग) को प्राप्त हैं, इसलिए रामराज्य में राजा कोई भी हो, वर्चस्व धर्माचार्यों का ही होगा। कह सकते हैं कि प्रधानमंत्री भले ही आडवानी या अटल बिहारी बनें, संचालन और दिशा-निर्देशन शंकराचार्य ही करेंगे। राम तो रामराज्य में सिर्फ प्रतिनिधि थे, असली सत्ता वशिष्ठ के पास ही थी। यह वशिष्ठ द्वारा राम को कठपुतली बनाना ही नहीं, अतीत की वर्तमान पर विजय है। धर्मराज्य अतीत और वर्तमान दोनों युगों के नायकों का सिर्फ इस्तेमाल करता है, धर्माचार्यों द्वारा दी गई व्यवस्था से अलग शासक के स्वतंत्र निर्णय को अस्वीकार करता है यानी उनकी हत्या करता है।

अपने-आप को बनाए रखने या अपनी श्रेष्ठता स्थापित किए रखने के लिए धर्मराज्य, शेष सारी जनता को टुकड़ों में बाँटता है। धर्मराज्य की स्थापना या उसे 'कॉज़' बनाकर की जाने वाली राजनीति का दूसरा नाम है—सांप्रदायिकता। धर्मराज्य/रामराज्य का सारा ढाँचा सामंती या 'मॉनोलिथिक' (एकस्तरीय खंड) है, इसलिए जो उसके समर्थक या अनुयायी नहीं हैं, वे निश्चय ही शत्रु हैं। ये शत्रु ही विधर्मी, असुर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राक्षस या म्लेच्छ हैं। यहाँ सारी जनता सिर्फ मोटे रूप में दो खानों में बँटी है—धर्मी और विधर्मी। जो विधर्पी है, उनका नाश करना, हर धर्मी का कर्त्तव्य है। धर्मी इस्लाम की तरह आक्रामक हों या हिंदुओं की तरह आत्मरक्षात्मक, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता—उन्हें हमेशा विधर्मियों की ओर से खतरे या भय में बने रहना है। इस खतरे और भय को मिटाने के लिए ज़रूरी है कि अपने भीतर एकता और अखंडता हो। इस एकता और अखंडता को तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक अपने भीतर के 'विद्रोही' तत्त्वों का सफ़ाया न किया जाए। ये 'विद्रोही' वे शंकालु 'अधर्मी' हैं जो धर्मराज्य के शास्ताओं या धर्माचार्यों की महान श्रेष्ठताओं में विश्वास नहीं करते। धर्मसत्ता का अस्वीकार सिर्फ धर्म का ही नहीं, उस पूरे वर्ग और वर्ण के वर्चस्व का अस्वीकार है जिसे ईश्वर ने धर्म-दर्शन का एकाधिकार दिया है। वे ईश्वर-विरोधी हैं। इसलिए ब्राह्मण-विरोधी भी हैं। विधर्मियों के साथ-साथ इन अधर्मियों का नाश भी धार्मिक कर्त्तव्य है।

धर्म की श्रेष्ठता हो या नस्ल की—दोनों के हाथों में जब भी सत्ता आएगी, वही फ़ासीवाद या निरंकुश राज्य होगा। सांप्रदायिक सत्ता सिर्फ खुमैनी या हिटलर ही पैदा कर सकती है। दोनों को ही बाहरी शत्रुओं के साथ-साथ भीतरी शत्रुओं को भी ठिकाने लगाना पड़ता है। भीतरी शत्रु ज्यादा खतरनाक हैं—वह अपनी ही एक जाति, वर्ग या वर्ण की श्रेष्ठता को अस्वीकार करते हैं, उनकी वर्चस्वता को चुनौती देते हैं—दूसरे शब्दों में, एक जाति के जन्मजात अधिकारों और हैसियतों के खिलाफ दूसरी जातियों के अधिकारों का समर्थन करते हैं। हज़ारों सालों से चली आती व्यवस्था में सब लोग सुखी थे, संतुष्ट और आश्वस्त थे। इस यथास्थिति को ये अधर्मी या जाति का झंडा लेकर राजनीति करने वाले तोड़ डालना और तहस-नहस कर डालना चाहते हैं। ये इसीलिए अधर्मी हैं कि 'जातिवादी' हैं। कुछ जातियों के वर्चस्व के खिलाफ हैं। चूँकि धर्मराज्य या सांप्रदायिक शासन में एक वर्ग या कुछ वर्ग हमेशा अधिक शुद्ध और अधिक धार्मिक होंगे। इसलिए शेष वर्गों (या वर्णों) का असंतोष 'जातिवाद' कहलाएगा। हिंदू सांप्रदायिकता तत्वतः, धर्मतः और व्यवहारतः गैर-बराबरी में विश्वास करती है, इसलिए जातिवादी होने के लिए अभिशप्त है। एक जाति या वर्ण हमेशा दूसरे के खिलाफ़ विद्रोह करेगा। परशुराम क्षत्रियों का संहार करेंगे या क्षत्रिय रावण जैसे ब्राह्मणों का वध करेंगे।

यह हो ही नहीं सकता कि आप धर्मग्रंथों, शास्त्रों, स्मृतियों और हिंदू मान्यताओं में विश्वास करें—यानी सांप्रदायिक हों और जातिवादी न हों। वहाँ आपको वर्ण-व्यवस्था को मानना ही होगा। वर्ण-व्यवस्था कुछ वर्णों को ऊपर और कुछ को जन्म/पूर्व कर्मों के अनुसार नीचे बनाए रखने की शास्त्रीयता है। वह बहुलांश के श्रम और सम्मान के शोषण द्वारा कुछ वर्णों की परोपजीविता को निरंतर सांस्कृतिक रूप से जायज़ ठहराती है, वह कुछ वर्णों की तकदीर में 'सेवा ही कर्तव्य है' लिखती है तो कुछ को ईश्वर या केयर-टेकर बनाता है। इसी व्यवस्था को बनाए रखना 'रामराज्य' है। वहाँ अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आज़ादी सिर्फ़ प्रभुओं के कीर्तन-वंदना तक है। इससे अलग नाक़ाबिले बर्दाश्त है।

नस्ल या धर्म की श्रेष्ठता के आदर्शों पर स्थापित राज्य में अन्वेषण, ज्ञान की खोज और प्रश्नाकुलताएँ समाप्त कर दी जाती हैं। चूँकि हर बात के उत्तर वहाँ पहले ही ग्रंथों और व्याख्याकारों के पास मौजूद हैं, इसलिए नए प्रश्न करना पुराने पर शंका करना, स्थापित मान्यताओं को अस्वीकार करना ऐसे अपराध हैं जिन्हें बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। ऐसे क़ाफिरों या अधर्मियों की सज़ा, नगर और बिरादरी से निष्कासन है या फिर मौत। वे चाहे पुराने सुकरात और गैलिलियो हों, नचिकेता और गार्गी हों या आज के सलमान रुश्दी और तस्लीमा नसरीन। अपने यहाँ भी धर्माचार्यों के साथ-साथ बाल ठाकरे, अशोक सिंघल जैसे बाहुबली तय करेंगे कि हमें क्या सोचना है, क्या करना है और वैसा न होने पर सज़ा क्या है ? हर धर्मराज्य फ़तवों या आचार्यों द्वारा दी गई व्यवस्थाओं पर चलता है। ज्ञान-विज्ञान यहाँ पिछड़ों, निचलों और विरुद्धों पर प्रभुत्व स्थापित करने का हथियार है, क्योंकि ज्ञान ही शक्ति है और परंपरा से यह शक्ति अभिजनों, पुरुषों और धर्माचार्यों की बपौती रही है।

रामराज्य, धर्मानुमोदित 'न्याय' देता है। उधर लोकतंत्र बराबरी का आश्वासन। कुछ लोग मिलकर शेष जनता को अपना न्याय पकड़ा दें, यह उसे स्वीकार नहीं है। न्याय की इस प्रक्रिया में सभी की बराबर हिस्सेदारी होनी चाहिए। सांप्रदायिक/धार्मिक जातिवादी वर्चस्व के खिलाफ निचली, पिछड़ी या छोड़ दी गई जातियों का विद्रोह जातिवाद है, यह परिभाषा भी उसके गले नहीं उतरती। इसलिए पिछड़ों, दलितों और औरतों का उभार या मुख्य धारा में घुसकर, अब तक चली आती व्यवस्था को तहस-नहस कर डालना, हिंदू सांप्रदायिकता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। ये नई उभरती हुई शक्तियाँ, पूर्वस्थापित केंद्रीयता को तोड़ती हैं। बाहरी और भीतरी खतरों को बढ़ा-चढ़ाकर हिंदू-सांप्रदायिकता जिस राष्ट्रीयता, इतिहास, अखंडता और सांस्कृतिक वर्चस्व की राजनैतिक और भावात्मक ब्लैकमेलिंग और वकालत करती है—नई लोकतांत्रिक शक्तियाँ उस षड्यंत्र का हिस्सा बनने से इनकार करती हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का सबसे बड़ा सिरदर्द, यथास्थिति को तोड़ने वाली यही लोकतांत्रिक शक्तियाँ हैं। इसीलिए मंडल को कुचलने के लिए रामरथ दौड़ते हैं—वी.पी. सिंह रावण बना दिए जाते हैं। मंडल अगर ऐसी ही राक्षसी रणनीति थी कि उसके लिए करोड़ों की राष्ट्रीय संपत्ति का नाश करना पड़ा, अपने युवाओं से आत्मदाह कराना पड़ा तो आज वही मंडल हर राजनैतिक पार्टी के एजेंडा में प्रमुख रूप से क्यों मौजूद है ? ऐसी घिनौनी चीज को तो हिंदुत्ववादियों को जड़मूल से निकाल फेंकना चाहिए—सिर्फ इसीलिए तो उसे शामिल कर लिया गया है कि मंडल-समर्थकों का भी प्रतिनिधित्व होता हुआ दिखाई दे—उमा भारती से कल्याण सिंह तक इसी प्रतिनिधित्व की कठपुतलियाँ हैं।

वर्चस्ववादी सांस्कृतिक केंद्रीयता और लोकतांत्रिक अधिकारों के बीच की यह लड़ाई आज और भी गहरे और निचले स्तरों तक आ पहुँची है—वह इस प्रतिनिधित्ववाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ही अस्वीकार करती हैं। केवल कुछ लोग धर्म, ईश्वर, मानवता, राष्ट्रीयता, संस्कृति के प्रतिनिधि हों, या उन्हीं की दी हुई परिभाषाएँ ही अंतिम हों, इसे आज कुछ लोग चुनौती दे रहे है। यह रिप्रिंजेटेशन, नुमाइंदगी या प्रतिनिधित्व–यानी विद्रोहियों और सरकशों को अपने भीतर शामिल कर लेने की उदारता भी उनके अधिकारों, असंतोषों की स्वीकृति नहीं है–उन्हें ठंडा करने की चाल है। हम आपके और आपके सांस्कृतिक विचारों द्वारा अपनी नुमाइंदगी को अस्वीकार करते हैं, आपकी संस्कृति, आपकी मानवता, आपकी न्यायदृष्टि में हम नहीं होते, आप स्वयं या आप जैसे ही हमारे कुछ नुमाइंदे शामिल होते हैं। आपका धर्म, आपका शास्त्र, आपका इतिहास और आपका राष्ट्र केवल अपने जैसे कुछ लोगों के द्वारा है, उन्हीं के लिए है, मूलतः उन्हीं का है। वहाँ हम नहीं, हमारे प्रतीक नुमाइंदे हैं जो आपके हित में ही अपना हित भी देखते हैं। आपकी यथास्थिति में ही अपनी सुरक्षा पाते हैं। हम वहाँ कहाँ हैं ?

इस नुमाइंदगी के खिलाफ दलितों और स्त्रियों का यह आक्रामक उभार भारतीय समाज-राजनीति को बिलकुल नया विमर्श दे रहा है–वे आज सीधे-सीधे पूछ रहे हैं कि हमारी उपस्थिति ही आपके लिए सबसे बड़ी गाली क्यों है ? (सवर्ण लोग जब अपने बीच ही किसी को गाली देते हैं तो वह या तो भंगी-चमार जैसी दलितों की जाति होती है, या औरत के अंगों और रिश्तों की व्याख्या)। क्यों आपके हर गुस्से में दलित और औरतें ही जलाई जाती हैं, क्यों नब्बे प्रतिशत बलात्कार निचली औरतों के ही होते हैं ? (भंवरी बाई के खिलाफ दिया गया फैसला सवर्ण पुरुषवाद का सबसे अहंकारी पुरुष-पंथी उद्घोष है) यह आपकी केंद्रीयता और मुख्य धारा की अवधारणा को जड़ से बदलने की माँग है। विचार हो या समाज, जब केंद्रीयता के दबाव बढ़ेंगे तो बाकी 'शरीर' में दरारें तो उभरेंगी ही। जिस सांस्कृतिक चादर को आपने भानुमती के टुकड़ों या थिगलियों से जैस-तैसे जोड़कर अपने तंबू बनाए थे–उसकी उधड़ती सीवनों को सांप्रदायिक राष्ट्रवाद कब तक और कैसे संभाले रख सकेगा ? वैश्विक स्तर पर आर्थिक एवं मीडिया उदारीकरण और राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़ों, दलितों और स्त्रियों का यह 'अप्रत्याशित' उभार–सांस्कृतिक/राष्ट्रीय केंद्रीयता (अखंडता ?) के आपके प्रारूप को कितने दिन बर्दाश्त करेगा ? कहीं ऐसा न हो कि केंद्रीयता का यह औरंगजेबी दुराग्रह, मराठों, रूहेलों, जाटों, सिखों की तरह मिलकर साम्राज्य को ही चकनाचूर कर दे–और मुगल साम्राज्य लाल किले तक ही सिमटकर रह जाए।

हिंदू राष्ट्रवादियों को यह तो मालूम है कि ईश्वर ही सत्य है, मगर शायद यह नहीं मालूम कि ईश्वर ने पाला बदल लिया है और सत्य अब 'दुश्मनों' के साथ जा मिला है।

'हंस', जनवरी 1996

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़ामोश, गणेश जी दूध पी रहे हैं...

आदमी के पास जब भविष्य नहीं होता तो भगवान होता है। भय, भविष्य का भय, भविष्य-हीनता का भय ही भगवान को जन्म देता है। शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति की समाप्ति ही है भक्ति के क्षेत्र का प्रस्थान-बिंदु। भगवान या उसकी भक्ति अंधेरे दरियाओं को पार करने की नाव भी है और अपने-आप में डुबोने वाला भंवर भी। भगवान की शक्ति सिर्फ उनके लिए है जिन्हें अंधेरों के पार रोशनी दिखाई देती है, यानी जिनका भविष्य में विश्वास अभी भी बचा है। जिनके लिए भविष्य नहीं है, भगवान उन्हीं की कब्रगाह है। भक्ति के नाम पर वे सिर्फ अपने मृत्युलेख लिखते हैं या दूसरों के मृत्युलेख जीते हैं। जब भगवान ही भविष्य बन बैठे तो यात्रा समाप्त हो जाती है। क्षमताओं का चूक जाना ही मृत्यु है। अर्थात् भगवान ही मृत्यु है। यह 'मरा हुआ' आदमी औरों के हर प्रयास, हर भविष्य और हर स्वप्न को व्यर्थ या निरर्थक सिद्ध करने वाला उत्साही वकील होता है। वह मृत्यु का सेल्समैन है। इसी तर्क से जो कर्मठ हैं, जिनके पास स्वप्न हैं और जो भविष्य की यात्राओं में आस्था रखते हैं—वे सबसे बड़े नास्तिक हैं। उनके लिए या तो भगवान है ही नहीं या है तो सिर्फ एक सहारे या माध्यम के रूप में। वह उनकी सीमा नहीं, सामर्थ्य को ऊर्जा देने वाला पेट्रोल-पंप है। हर यात्रा एक ही पेट्रोल-पंप का इस्तेमाल नहीं करती। वैसे भी, हम हर समय वैकल्पिक ऊर्जा के स्रोतों की खोज में हैं। अगर हम यह भी मान लें कि जहाँ जिस रूप में भी ऊर्जा है वही भगवान है, तब भी कोई हर्ज नहीं है। हाँ, यह ज़रूर साफ रहे कि ऊर्जा सिर्फ इस्तेमाल की चीज है, बैठकर पूजा और भक्ति की नहीं। भविष्य यथास्थिति नहीं बल्कि यथास्थिति यानी स्थिर वर्तमान से मुक्ति है। जो जैसा है, उसे छोड़े बिना आप नया नहीं बना सकते। दूसरे शब्दों में, भविष्य, वर्तमान का अस्वीकार है। इन्हीं पीछे छोड़ी गई अस्वीकृतियों यानी केंचुलों के सिलसिले को हम इतिहास कहते हैं। उन्हें हम सिर्फ याद कर सकते हैं, दुबारा जी नहीं सकते। सुधार भी नहीं सकते। हाँ, इतिहास को दुबारा जीने या सुधारने का 'नाटक' कर सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—घंटे या दो घंटे भविष्य से बचने और वर्तमान को भूलने के पलायन का अंधेरे में खेला जाने वाला 'नाटक'। वह सचमुच भूतों का ही राज्य होगा जब किताबों, खंडहरों और शिलालेखों से निकल-निकलकर बीते कल के नायक हमारा वर्तमान और भविष्य हमसे छीन लेंगे। जब-जब अपनी हताशा में हमने इन भूत-नायकों का आह्वान किया है, उन्होंने वर्तमान को हमारे लायक नहीं, अपने अनुरूप बनाने के 'पराक्रम' दिखाए हैं—यानी सारे समाज को या तो लाशों में बदला है या हत्यारों में। जिनके पास भविष्य है, वे इन भूतों को 'साध' लेते हैं, वरना खुद इन भूतों की 'सवारी' बन जाते हैं। तब इनके मुँह से अतीत बोलता है, अतीत ही उनका गंतव्य है, भविष्य है, स्वप्न है। भविष्य न होने का असमर्थता-बोध या अपराध-बोध उन्हें हर क्षण आत्महत्याओं और हत्यारों में बदलता रहता है—उन्हें या तो मुक्ति चाहिए या मोक्ष। वर्तमान से यानी वर्तमान जीवन से। दमघोंटू वर्तमान या यथास्थिति उन्हें अतीत और भगवान की ओर धकेलती है। वे उसका आविष्कार और निर्माण करते हैं, फिर उसके चरणों में समर्पित हो जाते हैं। यही मृत्यु का वरण है।

हमारे मध्यवर्गीय समाज का एक बड़ा हिस्सा आज इसी भविष्यहीन या स्वप्नहीन वर्तमान में फेंक दिया गया है। उसके पास सिर्फ अतीत है, जिसे वह गढ़ सकता है, बना और बिगाड़ सकता है—वहाँ अजस्र प्रकाश से भरे दैवी-ग्रंथ हैं, पराक्रमी और विश्वविजयी नायकों की किंवदंतियाँ हैं। संपन्नता, समृद्धि और वैभव की ऐयाशियाँ हैं, सब मिलाकर 'महान' होने का गौरव है। वहाँ हमें यह छूट भी है कि जो कुछ असुविधाजनक, अपमान-भरा या पराजय-सूचक है, उसे काट-छाँट, छोड़-जोड़कर अपनी महानता के सांचों में फिट कर लें और फिर हसरत और कराह भरकर कहें : काश वह सब आज लौट आता ! वर्तमान तो महान होने की वैसी छूट नहीं देता। वह सिर्फ दयनीय और दीन बनाता है, हज़ारों सालों से बनी-बनाई हैसियतों, सुख-सुविधाओं को छीनने वाले लुटेरों, उज्जडों, जाहिलों, गंवारों के बीच हमें निहत्था छोड़ देता है या झोंक देता है—'ग्लोबलाइजेशन' की अनिश्चित प्रतिस्पर्धाओं में, व्यक्तिगत आकांक्षाओं और स्वर्ग के आश्वासनों की गला-काट दौड़ में। वहाँ ऐसा लगता है जैसे पूरी रफ्तार में भागते ट्रक का कोना पकड़े आप अपनी साइकिल को उसी रफ्तार में दौड़ा रहे हों। पता नहीं, कब संतुलन बिगड़े और आप पीछे आते दूसरे ट्रक के नीचे हों। दौड़ स्वाभाविक नहीं है। और कभी भी कुछ भी हो सकता है, क्योंकि रफ्तार न अपनी है, न अपने नियंत्रण में है—यह तनाव और असुरक्षा एक क्षण भी साँस कहाँ लेने दे रही है ? भीषण असुरक्षा और आत्महंता सन्निपात में सिर्फ भगवान का ही सहारा है, वही कोई चमत्कार करे तो शायद कोई रास्ता दिखाई दे।

और सारा समाज आज चमत्कारों या चमत्कारी नायकों से गुंजायमान है—कहीं गणेश जी दूध पी रहे हैं तो कहीं धरती फाड़कर शिव और हनुमान प्रकट हो रहे हैं, कहीं मालाएँ गिरा या पहनकर देवियाँ आशीर्वाद दे रही हैं, तो कहीं विष्णु और कृष्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षात दर्शन दे रहे हैं—सचमुच नहीं तो स्वप्नों में या फिर फिल्मों और टी.वी. सीरियलों में। कथाओं, कीर्तनों और जागरणों की तो गली-गली में भरमार है ! जहाँ यह चमत्कार और चमत्कारी शक्तियाँ हैं, वहीं इनका श्रेय लेकर चमत्कारी गुरु, अवतार और भगवान हैं। इन्हें पालते और इनसे पलते राजनेता हैं। हरेक के पास अपना एक चमत्कारी गुरु या चंद्रास्वामी है—जो पूजनों, यज्ञों या आशीर्वाद से शत्रुओं का नाश करता है, सत्ता और समृद्धि और सुरक्षा देता है ! पैसा सिर्फ इन्हीं तीनों जगह बरस रहा है; धर्म, अपराध और राजनीति—इस बाढ़ में तीनों गड्डमड्ड हो गए हैं ! चंद्रास्वामी का 'चमत्कार' यह है कि उसने तीनों को एक साथ साधा है। जवाहर लाल नेहरू का निवास नहीं, आज चंद्रास्वामी का आश्रम ही वास्तविक 'त्रिमूर्ति' भवन है। वह आज का सबसे बड़ा हीरो है ! स्थानीय, राष्ट्रीय स्तर पर आध्यात्मिक बल-वीर्य-वर्धक हीरो फार्मेसियाँ चलाने वाले गुरुओं और भगवानों के ही पूर्णावतार हैं—धीरेंद्र ब्रह्मचारी और चंद्रास्वामी। संयोग नहीं है कि दोनों ही धर्म-गुरुओं के आश्रम 'विश्व' विशेषण से प्रारंभ होते हैं—विश्व-विजय ये नहीं करेंगे, तो और कौन करेगा ?

चाहे गणेश जी का दुग्धपान हो या हनुमान जी का लड्डू भोजन, ग़ौर करने की बात है कि अचानक कुंभकर्णी नींद से जागकर ये देवी-देवता चमत्कार तो दिखा देते हैं लेकिन किसी समस्या का हल नहीं करते—न व्यक्तिगत, न राष्ट्रीय...काश, दूध पीकर गणेश जी ने पेट्रोल और बिजली के कुछ स्रोत खोल दिए होते, सोने और हीरों की खानों की ओर इशारा कर दिया होता या और कोई ऐसा साधन बता दिया होता कि हम राष्ट्रीय स्तर पर इतने कर्ज़मंद, परोपजीवी और परनिर्भर न रहते। सर्वशक्तिमान देवता हैं, देश की स्थिति तो जानते ही होंगे। पर नहीं, उन्होंने तो सिर्फ दूध पीकर दुनियाभर में हंगामा खड़ा कर दिया और उधर हम इसी बहस में उलझे रहे कि यह चमत्कार हो सकता है या नहीं। कोई इसे 'आँखों देखी' घटना कहता था तो कोई गवाहियाँ जुटा रहा था कि बड़े-बड़े डॉक्टर, जज, वैज्ञानिक, अफसर क्या मूर्ख थे जो लाइनें लगाए खड़े थे ? फिर, सारी दुनिया में एक ही समय यह चमत्कार घटित हुआ तो कोई दैवी शक्ति ही रही होगी। दूसरे पक्ष का तर्क था कि जिन घटनाओं या स्थितियों को विज्ञान या तर्क समझा नहीं सकता, वे सब चमत्कार होती हैं। ज्यादातर चमत्कार विज्ञान का कोई साधारण-सा फार्मूला या हाथ की सफाई होते हैं जो छोटे से छोटा बाज़ीगर दिखा सकता है। चमत्कार हमारे अज्ञान और मूढ़ता पर पनपते हैं। आज से दो-चार सौ साल पहले इससे बड़ा चमत्कार और क्या होता कि आप हज़ारों लाखों मील दूर बैठे आदमी की आवाज़ सुनें, बातें करें, उसे देखें—या उड़कर वहाँ जा पहुँचें ? इस विवाद में न पड़कर मैं सिर्फ इसी बात को रेखांकित करना चाहता हूँ कि 'चमत्कार' सिर्फ उन्हीं के लिए और उन्हीं के बीच घटित होते हैं जिनके पास न भविष्य है, न सामाजिक स्वप्न...हताशा, अपराध-बोध या निरर्थक हो जाने के दंश के मारे हुओं को चमत्कार शांति, आश्वस्ति और मुक्ति देते हैं। चमत्कार स्वयं कुछ नहीं करते,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिर्फ भगवान और दैवी शक्तियों में आस्था बढ़ाते हैं—या आपके विवेक और निर्णय-क्षमता को स्थगित करने में मदद देते हैं। वे भविष्य और असुरक्षा के आतंक का निदान हैं। अब आपको न कुछ करने की जरूरत है, न बदलने की—भगवान में विश्वास रखो। वही सब ठीक करेगा। वे यथास्थिति को बनाए रखने के रिहर्सल हैं—भगवान के साथ-साथ इन चमत्कारों द्वारा आपकी आस्था, भगवान के 'सोल-सेलिंग एजेंटों' यानी धर्मगुरुओं में भी दृढ़ होती है, क्योंकि भगवान को तो सिर्फ वे ही जानते हैं। धर्मारूढ़ राष्ट्रीय संस्कृति के राजनेताओं को घर-घर में फैले ऐसे कार-सेवक कहाँ मिलेंगे जो अधर्मियों और विधर्मियों को सबक सिखा सकें और यथास्थिति बनाए रखकर 'धर्म राज्य' की स्थापना में उनके सहयोगी हो सकें ? बाकी सब तो भाग्य और भगवान के भरोसे है ही।

बहरहाल, गणेश जी ने एक दिन अचानक जागकर लाखों टन दूध पिया और फिर आराम से सो गए। अक्सर मेरे मन में प्रश्न उठता है कि हमारे देवता इतने खाऊ, लदूधड़ और सेवा-शुल्की (घूसख़ोर कहने से धक्का लगता है) क्यों हैं ? 'जैसी सेवा करोगे, वैसा मेवा पाओगे' या 'जैसा प्रसाद चढ़ाओगे, वैसा फल मिलेगा'—जिस धर्म में हज़ारों सालों से इसी आस्था का कीर्तन होता हो, वहाँ घूस देने और काम करा लेने को सामाजिक, नैतिक या प्रशासनिक अपराध मान लेना क्या अपने-आप में सांस्कृतिक अपराध नहीं है ? माना कि आपके पास वेतन या आजीविका के स्रोत हैं मगर किसी काम की उम्मीद में या उसके होने पर अगर मैं कुछ भेंट दूँ या आप खुद माँग लें तो इसमें ग़लत क्या है ? फिर मैं क्या इसे खाऊँगा ? अपने देश में तो कुछ रखा नहीं है, इसलिए दो-चार बच्चे विदेशों में पढ़ लेंगे, चार-छः मकान बना लूँगा, गाँव में कुछ खेत-खलिहनी हो जाएगी, कुछ पैसा देशी-विदेशी बैंकों या कंपनियों में जमा हो जाएगा और जिन भगवान या गुरु महाराज की कृपा से यह 'दाल-रोटी' चल रही है, उन्हें अर्पित कर दूँगा या आधुनिक सुख-सुविधाएँ जुटा लूँगा, एकाध बार विश्वभ्रमण कर लूँगा तो कौन-सा आसमान टूट जाएगा ? आप कुछ कहते रहें, मुझे तो इसमें कुछ अनैतिक, राष्ट्र-विरोधी या गैर-कानूनी लगता नहीं है। अगर कुछ ऐसा-वैसा हुआ तो अपने पास तरीके बहुत हैं—सबसे बड़े तो गुरुजी ही हैं—सारे जज, आई.जी., सेक्रेटरी और हेन-तेन वहाँ रोज दर्शनों को आते हैं, किसी से इशारा भी कर देंगे तो मामला फिट। दस-बीस लाख खर्च हो जाएँगे, सो देख लेंगे। जिस भगवान ने यह दिया है, वो और दे देगा। सो अपन को तो कोई चिंता नहीं है, बस जबसे यह साली ओपन-हार्ट सर्जरी हुई है, तब से आपकी भाभी बहुत परेशान रहती हैं। मैं समझाता हूँ कि तू क्यों परेशान होती है, इतना छोड़ जाऊँगा कि ऐश करेगी...पर कुछ कहो भाई साहब, दुनिया में 'करप्शन' बहुत बढ़ गया है। बिना पैसा लिये कोई साला पत्ता नहीं हिला कर देता। मुल्क का बंटाधार करके रख दिया...आप तो लेखक हो, इस पर कुछ क्यों नहीं लिखते ? लीजिए, एक पेग और लीजिए—बहुत बढ़िया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्कॉच है, आपने पी नहीं होगी कभी...लड़के की शादी तय हुई है न, सो डाल गए समधी दो क्रेट—बड़े पैसे वाले हैं जी...लोग कहते हैं उल्टे-सीधे धंधे हैं उनके। होंगे, हमें क्या करना है। अपना दिल साफ रहना चाहिए जी...आपका बेटा, ठेठ वाशिंगटन में कम्प्यूटर कंपनी में बड़ा इंजीनियर है। पाँच हजार डॉलर महीने में पाता है। बोलो, पंद्रह-बीस लाख महीना यहाँ प्रेसिडेंट के बाप को नहीं मिलते...फंस गया था किसी सेक्रेटरी-फेक्रेटरी से, सुना शादी भी कर डाली थी, फिर अलग हो गए। बहुत पैसा ले मरी हरामज़ादी—हमने सोचा, यही मौका है—दबोच लो...सो फट यहाँ बात पक्की कर दी—शादी के बाद दोनों चलें जाएँगे—अरे साब, जो बात हिंदुस्तानी बीवी में है, वो उन साली मेमों-फेमों में कहाँ ? वो करेगी सेवा ? अजी, राम का नाम लो...सच बताएँ भाई साहब, अब ये इंडिया रहने लायक जगह नहीं रह गई है...घूस, करप्शन, भीड़, बेकारी, बंद, जुलूस, मंडल-कमंडल, नरक करके रख दिया सालों ने ...ले चलेंगे आपको गुरुजी के आश्रम में...सच कहता हूँ, ऐसी शांति मिलती है कि आने को मन नहीं करता...आजकल तो वहाँ हज़ार-कुंडी यज्ञ चल रहा है न। दुनिया-भर के साधु-संत आए हैं, रात-दिन भंडारा होता है—चढ़ावों का क्या कहना...गाड़ियाँ भर-भरकर चली आ रही हैं, वातावरण में फूलों और हवन की गंध...चेलियाँ भी क्या पटाखा हैं कि देखकर ही तबीयत खुश हो जाए...अजी, एक दिन तो वो एडीटर साहब भी वहाँ मिल गए थे। क्या नाम है उनका...विद्या...या वेद से ही शुरू होता है नाम। आदमी तो विद्वान हैं, वेद-शास्त्र सब याद हैं। जस्टिसों-चीफ जस्टिसों की तो वहाँ भीड़ लगी रहती है...एम्पियों-मिनिस्टरों का तो कहना ही क्या है ?

तो देखा आपने—ये फाइव-स्टार भगवान, गुरु, स्वामी, देवी-देवता इन संगमरमरी ऐयाशियों में बैठकर यहाँ चमत्कार नहीं दिखाएँगे तो क्या पलामू, लातूर या बाड़मेर के सूखे-अकाल में जाकर अपनी ऐसी-तैसी करेंगे ?

मूर्ख थे महर्षि दयानंद जो शिवलिंग पर चूहे को घूमते-भटकते देखकर मूर्तिपूजा विरोधी हो गए थे, या अधर्मी हैं वे नारकीय नास्तिक जो पूछते रहते हैं कि सोमनाथ जैसा प्रतापी पराक्रमी देवता मुहम्मद ग़ज़नवी के प्रहारों से अपनी रक्षा क्यों नहीं कर पाया ? आखिर 'चमत्कारी' तो रहे ही होंगे, तभी तो करोड़ों के हीरे-जवाहरात सजाए बैठे थे। अजी ! देश, राज्य या मानवता के बारे में सोचना, उठकर उनकी सहायता करना कोई देवी-देवताओं के काम हैं ? वे तो विश्व में उदात्त भावनाओं, औपनिषदिक ऊँचाइयों और आध्यात्मिक अनुभूतियों के स्रष्टा हैं—हमारी प्राचीन संस्कृति उनके बारे में क़हती है...जब वे जाग्रत होते हैं तो चमत्कार दिखाते हैं...वैसे तो पत्र-शृंखलाओं द्वारा उनका महात्म्य गूँजता ही रहता है (अगर इस तरह के चालीस पत्र नहीं लिखे तो...) मगर इस बार तो कमाल ही कर दिया—एक ही समय सारी दुनिया में घटित हुआ यह चमत्कार...मुंडमाल पहने, खड्ग-खप्पर हाथ में लिये रौद्र रूपा काली को देखा है ? उसके बारे में श्लोक पढ़ेंगे, दुर्गा सप्तशती, चंडी स्रोत और रावण द्वारा शिव-वंदना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनेंगे तो सारा शरीर तेज और ओज से झनझना उठेगा...जब उन्हें बकरों, भैंसों या मानव-बलि चढ़ाई जाती है तो विद्युल्लताओं भरे वातावरण का क्या कहना। लगता है शरीर में दैवी उल्काएँ कड़क रही हैं—जिस तरह दुर्गा शत्रुओं का संहार करती है, वैसा है किसी धर्म में ? अपने देवी-देवता सारे ब्रह्मांड के नियंता और कर्ता हैं। अब इन मूर्खतापूर्ण सालों का क्या जवाब दिया जाए कि जब बख्तियार खिलजी सिर्फ अठारह घुड़सवार लेकर सारे बंगाल को विजय करता हुआ रौंद रहा था, काली-मंदिरों को ध्वस्त कर रहा था, पुजारियों और तांत्रिकों को मुसलमान बना रहा था तो सिंहवाहिनी क्या कर रही थी ? बोलो, क्या महिषासुर-मर्दिनी आक्रांताओं से बंगाल बचाने जैसी तुच्छ और क्षुद्र बातों के लिए अपना कराल कृपाण उठाती ? भक्तों की वास्तविक आस्था नहीं रही होगी, तभी तो महाकाली रुष्ट हो गई—वरना ख़िलजी को मच्छर की तरह मसल देती, भूतेश्वर महाकाल ग़ोरी-ग़जनवी सबकी चटनी बनाकर रख देते...शास्त्रों में जरा उनकी महिमा पढ़िए, तब पता चलेगा कि वे क्या हैं ?

पढ़ना शुरू कीजिए तो यही पता नहीं चलता कि सर्वशक्तिमान, आदि या अनादि देवी-देवता कौन-सा है ? फिर उनकी शक्तियों, क्षमताओं या दूसरी दैवी अर्हताओं से लगता है जैसे सब एक से बढ़कर एक है। मुझे याद नहीं आ रहा कि जंगली कबीलों को छोड़कर किस धर्म में अपने देवताओं की अमोघ शक्तियों की ऐसी अतिशयोक्तियों सुपरलेटिवों में वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति और वंदना की गई है। लगता है, ये सारे के सारे सिर्फ भोजन-प्रिय, सेवा-प्रसन्नी और शैया-सेवी ही नहीं, परम स्तुति-प्रिय भी रहे हैं। ये विशेषण अगर किसी सांसारिक मालिक के होते तो मैं कहता खाऊ, सोऊ, घूसखोर और खुशामद-परस्त, जिसके मुसाहिब दुनिया में कहीं भी लूटमार, बलात्कार, हत्या, डकैती करते रहें—बस, हाथ जोड़कर इस तीन-लोक के स्वामी के सामने "पितुमात स्वामी सहाय सखा तुम ही इक नाथ हमारे हो" गाते रहें...खुद इन देवताओं के बस की न व्यवस्था है, न न्याय...जिसे हम अपना प्राचीन साहित्य या संस्कृति कहते हैं, उसका अधिकांश स्तुतियों, खुशामदों, रिरियाहटों और भिखमंगी गुहारों से भरा है—चाहे वह राजा-महाराजाओं को सम्बोधित हो या देवी-देवताओं को...जब वाणी के पीछे कर्म नहीं, कर्महीनता का 'महान दर्शन' हो तो शब्द-नाश का वितंडा खड़ा होता है।

और जैसा कि मैंने कई बार कहा है; शायद ही दुनिया का कोई धर्म हो, जहाँ देवी-देवताओं के नाम पर शब्द-वध, नारी-वध के साथ-साथ प्राकृतिक-संपदा की ऐसी होली जलाई जाती हो—नदियों, नालियों में ट्रकें भर-भरकर दूध डाला जा रहा है, हवनों-यज्ञों में कनस्तरों पर कनस्तर शुद्ध घी फूँका जा रहा है, सामग्री और कीमती लकड़ियाँ जलाई जा रही हैं, दस-दस, बीस-बीस हजार की साड़ियाँ देवियों के नाम पर स्वाहा की जा रही हैं और लाखों संत-महंत पड़े-पड़े हलुआ-पूरी ठूँस रहे हैं, दुनिया की कौन-सी ऐयाशी या अपराध है जो वे नहीं कर रहे ? यही नहीं, देश में न जाने कितने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंदिर हैं जहाँ हज़ारों कुत्तों-बिल्लियों, चूहों, बंदरों यानी देव-वाहनों को छककर उनके प्रिय खाद्यान्न रात-दिन नहीं परोसे जाते ? जिस देश की आधी आबादी गरीबी-भुखमरी और कुपोषण से त्राहि-त्राहि कर रही हो—वहाँ यह धर्म अश्लील है या औरत के स्तन-नितंब दिखानेवाली तस्वीरें ? ऊपर से धर्म-ध्वजियों की कानफोड़ शेखियाँ, अफीमची दावे और ऊल-जलूल लंतरानियाँ...मुझे याद नहीं है कि बिना सरकारी दबाव, प्रबंधन या विभिन्न टैक्सों के डर के किसी संत-महंत या मंदिर ने स्कूल-कॉलेज, अस्पताल या विभिन्न सेवाश्रम खोले हों ? अगर कहीं स्वयंसेवी संस्थाओं ने ऐसा किया भी है तो क्रिश्चियन धर्म की देखा-देखी या अपनी हिंदूजनता को उनके 'दुष्प्रभाव' से बचाने के लिए...स्वतःस्फूर्त देवी-देवताओं को इन रोग-शोक या भौतिक अपसंस्कृति यानी माया-प्रपंच से क्या लेना-देना...इस्लाम से हमने समानता और समता नहीं सीखी। सीखा है सिर्फ धर्म के लिए इकट्ठे होकर लड़ना या प्रतिशोध लेना, ईसाइयत ने हमें सेवा और मानव-कल्याण का पाठ पढ़ाया...ईसा मसीह गरीबों, वंचितों, दीन-दुखियों को स्वर्ग देना चाहते थे, उन्हीं के लिए मरे—यहाँ स्वर्ग लक्ष्मीपतियों, इन्द्रों और चंद्रास्वामियों ने हथियाया हुआ है, वहाँ बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं ने सब त्यागकर गरीबों-बीमारों, दलितों-वंचितों की सेवा की है—हमारे पास या तो मानव-सेवा के श्लोक हैं या सिर्फ एक शबरी, एक निषाद, एक सुदामा और ? और बस्स...दूध-पीते गणेश जी, शम्बूक की शिकायत करता कुत्ता और सीता को बदनाम करता धोबी...यहाँ राजा-महाराजाओं, सेठों ने राज-पाट छोड़े तो आत्मा के मोक्ष के लिए हिमालय में गलने चल पड़े।

तो भाड़ में गया भविष्य। स्वप्न और कुएँ में गया यह धर्म-विरोधी अरण्य-रोदन। जब इन्हें गिरवी ही रख दिया है तो खुद संभाल लेंगी 'मल्टी-नेशनल' कंपनियाँ या 'वर्ल्ड बैंक' जैसे साहूकार, यानी भगवान सब ठीक करेगा—जैसे उसने बाल ठाकरे को हिटलरत्व दिया, हर्षद मेहता को अरबों-खरबों का खजाना दिया, चंद्रास्वामी को अपराध, धर्म, राजनीति का अपराजेय ब्रह्मास्त्र या त्रिशूल दिया, आडवानी को राम-रथ दिया, नरसिंह राव को प्रधानमंत्रित्व दिया वैसे ही मुझे भी कुछ तो देगा ही...जो बड़े से बड़े नामवर सिंहों को अपनी सवारी का चूहा बना डालनेवाले गणेश जी को चम्मच से दूध पिला सकता है, वह क्या मुझे एक लड्डू भी नहीं देगा ? मैं उनसे ज़रूर ईर्ष्या करूँगा, जिनके दोनों हाथों में लड्डू हैं... वे ही तो आज हमारे सबसे बड़े नायक हैं।

कहते हैं, भोपाल गैस-ट्रैजेडी सिर्फ़ जहरीली गैस का छोटा-सा परीक्षण था कि कितनी गैस से कितने समय में कितने लोग मर सकते हैं। कुछ सिरफिरों को आशंका है कि गणेश-दुग्धपान बहुत व्यापक स्तर पर वैसी ही अफ़वाही गैस का परीक्षण है—जरूरत पड़ने पर कल किसी भगवान या देवी-देवता का आदेश आ सकता है कि कितने समय में कितनी हत्याएँ करनी हैं या 'शत्रुओं' की कितनी धार्मिक या संवैधानिक इमारतों को ध्वस्त करना है...

'हंस', नवंबर 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मानव-मेधा के सामाजिक व्यवहार का नाम ही है संस्कृति'

जब से चुनावी माहौल गरमाया है, रोज कहीं-न-कहीं से फोन आता है, ''आज की राजनैतिक स्थितियों पर आपके विचार क्या हैं ?'' या ''आज के समय में बुद्धिजीवी की, या कहिए, साहित्यकार की भूमिका क्या है ?'' मेरे लिए सवाल कुछ यों बनता है, ''आज की राजनैतिक स्थितियों में बुद्धिजीवी कहाँ है ?'' अगर मैं चाहूँ, तो फफूंदिए आचार्यों की तरह शाब्दिक बाजीगरी दिखा सकता हूँ, ''हमारे यहाँ बुद्धिजीवी को 'सर्जक' और 'ऋषि' कहा गया है, व्यास, वाल्मीकि और तुलसी की भूमिका देखिए, वैदिक मंत्र-द्रष्टाओं की दिक्काल वेधी दृष्टि पर विचार कीजिए, आज की स्थिति क्या महाभारत के युग से बहुत अलग है ? कृष्ण से बड़ा बुद्धिजीवी कोई हुआ है ? देखिए, उसने कैसे गीता जैसा महान दर्शन दिया...'' इत्यादि इत्यादि। मगर मैं जानता हूँ यह सारा शब्दजाल अपनी स्थितियों का सामना न कर पाने की चालाकी, शुद्ध बकवास और खांटी चुतियापा है। आज की स्थितियों को न कृष्ण समझ सकते हैं, न राम, त्रिकालज्ञ ऋषि तो बिलकुल नहीं। उन्हें हमें अपने धरातल पर सीधे उनसे मुठभेड़ करते हुए ही समझना होगा, लेकिन क्या करेंगे समझकर ? किसे समझाएँगे ? सुनेगा कौन ? कोई पूछता है आपको ? अपनी समझ को चाटिए और कहीं हाशियों पर पड़े-पड़े कुढ़िए—देश-काल से ऊपर किसी अस्तित्वहीन निराकार को संबोधित करते हुए शाश्वत साहित्य के रहस्यवाद का मकड़जाल बुनिए—निश्चय ही अशोक वाजपेयी कोई न कोई पुरस्कार दिला देंगे, गोष्ठी की कुर्सियों-माइक की तरह स्थायी और अनिवार्य तत्त्व अध्यक्ष नामवर जी तो हैं ही...हाँ, आयोजन के पौरोहित्य के लिए भी कोई न कोई तिलक-चोटीधारी, स्वयंपाकी शास्त्र-पुंगव मिल ही जाएगा। सनातन की खोज करता ...ऐसे त्रिदेवों के आशीर्वादी संरक्षण में बुद्धिजीवी की भूमिका पर शंका करना मूर्खता नहीं तो क्या है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगर वह बुद्धिजीवी ही क्या, जो शंका न करे ? मैं बुद्धिजीवी की एकमात्र भूमिका यही मानता हूँ, जिसके लिए न कुछ पूज्य-पवित्र हो, न शंकातीत। 'श्रद्धालु बुद्धिजीवी' शब्द में ही अंतर्विरोध है—पुरानी भाषा में 'वदतो व्याघात'...श्रद्धा, बुद्धि की सबसे बड़ी शत्रु है। श्रद्धा से आप रट्टू हो सकते हैं, पुराने खाए का वमन भी कर सकते हैं—बुद्धिजीवी नहीं हो सकते। इसलिए बुद्धिजीवी की पहली शर्त है कि श्रद्धा के आदि स्रोत ईश्वर पर शंका। ईश्वर के हाथों से छीनकर या उसे खंड-खंड में मारकर ही सारे ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ है। यह बिलकुल दूसरी बात है कि ईश्वर की जगह बुद्धि पर द्वंद्वहीन और प्रश्नातीत निर्भरता या श्रद्धा का परिणाम उसी पुराने अंधविश्वास के प्रेत को जगाना होकर रह जाए, क्योंकि सच्ची शंका वही कर सकता है, जो परंपरा, परिवेश, प्रलोभनों और प्रयोजनों के मोह या दबावों से मुक्त हो, 'दिए गए' को अस्वीकार कर सके, खुद अपने-आप और अपनी ही स्थापनाओं को तोड़ सके। कया इस हद तक मुक्त हो सकना संभव है ? यह सवाल हमें सीधे, मुक्ति या स्वतंत्रता की परिभाषा से ला टकराता है। यानी जिन सामाजिक और परिवेशगत सवालों से टकराने के लिए आपने शंका, अविश्वास और प्रश्नविद्ध अस्वीकार के हथियारों का इस्तेमाल किया था, स्वयं उन हथियारों की वैधता और बनावट का अध्ययन शुरू हो जाता है और सारा बलाघात ही बदल जाता है। जिन हथियारों से आप सामाजिक दबावों और बौद्धिक पूर्वाग्रहों से लड़ना चाहते हैं, वे स्वयं पीछे छूट जाते हैं, और सवाल सामने आ खड़े होते हैं कि मुक्त होना क्या है, यह मुक्ति हमें कहाँ ले जाएगी ? सोच का स्वतंत्र होना क्या होता है ? कहाँ-कहाँ से आपको स्वतंत्र होना है ? 'हमारी मुक्ति' हमें भारतीय दर्शन के औपनिषादिक शून्य में ले जाती है, तो सोच की निरपेक्ष स्वतंत्रता अस्तित्ववाद के आत्मघाती बियावान में। समाज और उसमें उठने वाले सवाल एक के लिए माया बन जाते हैं और दूसरे के लिए 'एब्सर्ड' की शृँखला...एक आपको 'शून्य' में ले जाता है तो दूसरा 'नथिंगनेस' (न होने) में...

112174

इन दार्शनिक अंधी गलियों से लौटकर हम वहीं आएँ कि शंका, अविश्वास और अस्वीकार की स्वतंत्रता बुद्धिजीवी होने की पहली और एकमात्र शर्त है। मगर जब तक वह किसी विचार या विचारधारा से प्रतिबद्ध है, तब तक लगभग 'स्वतंत्र' है, जैसे ही उसकी प्रतिबद्धता किसी व्यक्ति पार्टी या अपने निजी स्वार्थ के लिए समर्पित हो जाती है, वह चिंतक की जगह सिर्फ वकील बनने लगती है। वकील, कातिल और मकतूल—दोनों को एक ही साँस में सही सिद्ध कर सकता है। उसका अपना कोई पक्ष नहीं होता। हमारे यहाँ चिंतक की हैसियत लगातार वकील बनते जाने की रही है। वह या तो अपने लाभ, लोभ के लिए किसी व्यक्ति को जस्टिफाई करता है या अपने पतन को। 'बुद्धिजीवी' का अर्थ था बुद्धि और ज्ञान के लिए जीवन समर्पित करने वाला स्वतंत्र व्यक्ति। क्रमशः गिरकर उसका अर्थ हुआ बुद्धि की पूँजी लगाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमाने-खाने वाला तेज-तर्रार आदमी। यानी बुद्धि उसका व्यसन नहीं, व्यवसाय है। जाहिर है इसमें वकील, पत्रकार, डॉक्टर, लेखक, वैज्ञानिक, प्राध्यापक सभी आ जाते हैं, मगर यहाँ भी 'जातिवाद' है, ये लोग डॉक्टर और वैज्ञानिक को बुद्धिजीवी नहीं मानते, क्योंकि वे अपने पेशे के कौशल से ही जुड़े होते हैं। समाज की बनावट उनकी चिंता का विषय प्रायः नहीं है; डॉक्टर प्रायः उस भूख और कुपोषण तक नहीं जाता, जो अनेक बीमारियों की जड़ है, उसी प्रकार वैज्ञानिक अपनी दक्षता में यह सवाल नहीं पूछता कि उसके आविष्कार कितनों के प्राण एक साथ ले सकते हैं।

हालाँकि अपनी उपलब्धियों को मानव और समाज की कसौटियों पर रखने वाले आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक से बड़ा बुद्धिजीवी कौन होगा ? बीसियों डॉक्टरों ने समाज और मनुष्य के लिए अपने जीवन होम किए हैं, उसी तरह 'मेनस्ट्रीम' या 'पायोनियर' के संपादकों की तुलना में 'फैन्टेसी' या 'अंगड़ाइयाँ' के संपादक बुद्धिजीवी नहीं हैं। लेखनजीवी दोनों हैं, लेकिन गुलशन नंदा या सुरेंद्र मोहन पाठक और निर्मल वर्मा और अज्ञेय को एक ही धरातल पर नहीं रखा जा सकता। कहते हैं, ये व्यक्ति और समाज के बड़े सरोकारों से जूझते हैं—जबकि 'अछूत' बुद्धिजीवी सिर्फ अपने कमाने-खाने से जुड़े हैं, वे बिके हुए हैं। उनका अपना कोई पक्ष या स्टैंड नहीं है। बुद्धिजीवी चाहे जितना बड़ा या कुलीन हो, अगर वह तत्कालीन लाभ के लिए पक्ष बदलता है, तो वह ऐसा वकील या चारण है, जो आज हर्षद मेहता का केस कर रहा है, तो कल मेधा पाटकर का। वेश्यावृत्ति भी करें और सतीत्व को बचाए रखने की शेखी भी बघारें, तब निश्चय ही आप या तो परले सिरे के धूर्त हैं या फिर परमहंस...

सारे सिद्धांत, विचारधाराएँ और विश्वासों को छोड़कर आज भारतीय राजनीति जिस धरातल पर उतर आई है, वहाँ यह तय करना मुश्किल है कि आप किस व्यक्ति, पार्टी या विचार की तरफ देखें ? जो आज जहाँ है, वह कल दूसरी जगह या पार्टी में होगा। भारतीय राष्ट्र, राज्य का प्रतीक है—एक गर्दन में फूल की तरह खिले तीन जुड़वां शेरों की त्रिमूर्ति...यानी सत्ता, अपराध और राजनीति...। गुलामी के दिनों में एक स्वतंत्र राष्ट्र का सपना हमारे आचार-व्यवहार को परिभाषित करता था, स्वतंत्र भारत में उस सपने को साकार करने की व्यावहारिक वैचारिकता केंद्र में आई; यानी एक नहीं, अनेक विचार या विचारधाराएं—उन्हें साधने और संर्द्धित करने वाले व्यक्ति और संस्थान उभरे—अपने 'सपने' से आक्रांत नेहरू ने बड़े व्यक्तित्वों को अप्रासंगिक बनाया, तो इंदिरा गांधी ने संस्थानों को। वहाँ अपने-अपने क्षेत्र के योग्य व्यक्ति नहीं, चमचे बैठा दिए गए। संजय, राजीव के युग में न व्यक्ति रहे, न संस्थान—व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के इशारों पर राष्ट्र के चारों स्तंभी तोड़े-फोड़े जाने लगे—आपराधिक निरंकुशता के लिए बाकायदा अपराधियों का सहयोग, सौदा और सृजन अनिवार्य हो गया। इसके बाद तो जो हुआ, वह हमारे सामने है। इस भगदड़ और 'स्टैम्पेड' में न किसी पक्ष की पहचान है, न सहारे की। जिसे जहाँ रास्ता दिखाई दे रहा है, वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उधर लपक रहा है। जिसमें जितनी ताकत होगी, वही बचेगा, वरना कुचल दिया जाएगा। पहले रही होगी शक्ति वैचारिक संगठनों और किसी सामाजिक स्वप्न के लिए एकजुट हो जाने वालों में—आज तो वह ताकत सिर्फ पैसे में है। पैसा देश का हो या विदेश का। उसी से खरीदा, बेचा, मारा या मरवाया जा सकता है। पैसे की इस ताकत का एकमात्र डर, विचार को आधार बनाने या सपनों को पागलपन की हद तक प्यार करने वालों से है—सो यहाँ भी तोड़-फोड़ करने वाले वैचारिक भितरघाती या किराये के बुद्धिजीवी, घुन बनकर ढांचों और नींवों को 'चाट' रहे हैं—शब्द, भाषा और संस्कृति का ऐसा कुत्साकरण शायद ही कभी हुआ हो—किसी का कोई अर्थ नहीं रह गया है। ड्रीम ऑफ एब्सर्ड।

सर्कस में झूलों का एक खेल होता है। तीन-चार झूलों पर आधा दर्जन लोग पींग बढ़ाते हैं और फिल छलांगें लगाते हुए एक-दूसरे के झूले पर पहुँचते हैं। भारतीय राजनीति का यह 'झूला-खेल' मनोरंजक हो सकता है, मगर सामान्य वोटर को खीज और झल्लाहट से भर देता है—वह किसे चुने, व्यक्ति या पार्टी को ? व्यक्ति ठीक है, तो पार्टी तवलचियों की है और पार्टी विश्वसनीय है, तो व्यक्ति टुण्ड्रावासी है। सभी के पिछले इतिहास एक जैसे चितकबरे हैं। इधर शेषन ने ऐसा शिकंजा कसा है कि हर छोटे-बड़े चुनाव में किए जाने वाले सारे ढोल-तमाशे पिटारों में ही बंद पड़े हैं—न कान-फोड़ प्रचार, न कारों-हाथियों के जुलूस, न चौबीस घंटों के लंगर, न शरावी प्याउएँ। सौ-पचास रुपए रोज देकर कितनी भीड़ जुटाई जा सकती है ? मगर नहीं, खेल यहीं तो रोक दिया गया है, आगे बहुत बड़ा मैदान खाली है—जैसे-तैसे जो चुनकर आएँगे, उनकी खुली बोलियाँ लगेंगी—आखिर हवाला, सोने-चाँदी की राम मंदिरी ईंटें, और बड़े देशी-विदेशी पूँजीपतियों की थैलियों—या उधर घोटालों, स्कैम और दलाली के खातों से हजार-दो हजार करोड़ खर्च करके, जितने चाहें, एम.पी. थोक के भाव खरीदे जा सकते हैं। ऊँचे पदों और खुली चरागाहों के लोभ दिखाकर अपने-अपने बहुमत का नाटक किया जा सकता है। जाहिर ही है कि पैसे और पदों की यह खुली लड़ाई बी.जे.पी. और नरसिंही कांग्रेस के बीच है—बाकी सब बिकेंगे। अभी तो बैलों और घोड़ों की दौड़ है, जीते हुओं का पशु-मेला लगना बाकी है, अब तक बेदाग वाम पार्टियों के पास न पैसा है, न संगठन—आश्वासन भी नहीं है। एक टी.वी. प्रतिनिधि ने मुझसे पूछा था कि आज अगर प्रधानमंत्री के लिए अटल बिहारी वाजपेयी और नरसिंह राव में से ही किसी को चुनना पड़े, तो आप किसे चुनेंगे ? मेरा जवाब साफ था कि "या तो किसी को नहीं या फिर सीधे-सीधे दाउद इब्राहिम को, चंद्रास्वामी के राष्ट्रपतित्व में।" वहाँ हमें कम-से-कम संस्कृति, राष्ट्र, इतिहास के बारे में चंडूखोरों की लंतरानियाँ तो नहीं सुननी पड़ेंगीं—अखंडता और स्थिरता की नफीरियों से कान तो नहीं फूटेंगे—हत्या, लूट, बलात्कार, अपराध, दलाली जो भी होगा, सीधा होगा। आज भी हमारी वाम पार्टियों के सिवा भारतीय वोटर के सामने कोई साफ-सुथरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकल्प नहीं है। मगर गर्द और धुंध इतना फैला दिया गया है कि उनके प्रभावशाली रूप से आने की गुंजाइश कतई नहीं दिखाई देती। वैसे 'असंभव' हमेशा घटे हैं और हो सकता है, बीसवीं शताब्दी चलते-चलते कुछ चमत्कार ही दिखा जाए।

यहाँ एक तथ्य और भी विशेष ध्यान देने लायक है—प्रायः दोनों बड़ी पार्टियाँ स्पष्ट कह रही हैं कि मंत्री-प्रधानमंत्री कोई भी बने—वित्त विभाग मनमोहन सिंह के पास रहेगा—(जी.टी.वी. के 'आपकी अदालत' में 15-4-96 को दिए गए अटल बिहारी वाजपेयी के इंटरव्यू का संदर्भ) यानी इस बार चुनाव न व्यक्तियों के बीच है, न विचारधाराओं के—वह सीधा-सीधा पैसे और उससे खरीदी जाने वाली सत्ता का है—और मनमोहन सिंह का अर्थ है—मल्टीनेशनल पूँजी—यानी विदेशी पैसा। इस विषय में अब किसी को भ्रम नहीं होना चाहिए कि बिसात और मोहरे हमारे हैं—खिलाड़ी अमेरिका में बैठे हैं। वे ही भारतीय अर्थनीति, उद्योग और विदेश नीतियों को अपने ढंग से तय करेंगे और इसके लिए राजनैतिक सत्ता में अपने विश्वस्त दलाल बैठाएँगे, जो अयोध्या के राम मंदिर से आएँ या छतरपुर के 'विश्वायतन आश्रम' से।

क्या करेगा ऐसे में बुद्धिजीवी ? हममें से अधिकांश, बी.जे.पी. संस्कृति की भारतीयता के बंधुआ और कांग्रेसी सत्ता के टुकड़खोर हैं—जो विदेशों में की जाने वाली साहित्य-संस्कृति की बहसों को अपनी बताकर हमें सूचनाएँ देते रहते हैं कि किस विचारक ने क्या कहा और उसके जवाब में दूसरा क्या बोला। एक तो 'वहाँ' के असली और केंद्रीय विचारकों के बीच इनकी न कोई पूछ है, न हैसियत और अगर है भी तो सिर्फ इतनी कि वे उन्हें उद्धृत कर-कर के बड़े-बड़े आतंकवादी लेखों में यहाँ उनकी व्याख्याएँ दे रहे हैं। मल्टीनेशनल संस्कृति-उद्योग के ये देसी तिजारती अपनी कोई बात बिना उनकी कीर्तन किए नहीं कर सकते, उनके जिन मुद्दों से ये यहाँ दिन-रात जूझते हैं, वे पता नहीं अब 'उनके' भी रह गए हैं या नहीं, मगर यह तय है कि वे हमारे नहीं हैं। अक्सर खगोल के कुछ ग्रहों की रोशनी हम तक इतनी देर से आती है कि तब तक मूल नक्षत्र न जाने कब का मर-खप चुका होता है। चूँकि इन दिग्गज बुद्धिजीवियों के न स्रोत अपने हैं, न सरोकार, इसलिए सत्ता इनसे कभी किसी विषय पर राय नहीं पूछती। बहुत हुआ, तो अपनी पहले से बनी नीति का समर्थन माँगती है और अभिनंदनों, पुरस्कारों या पदों के रूप में भाड़ा चुका देती है। आज साहित्य-संस्कृति की राजनीति के चंद्रशेखर, नामवर जी हैं और मनमोहन सिंह हैं अशोक वाजपेयी...दोनों के श्रद्धेय चंद्रास्वामी हैं विद्यानिवास मिश्र।

ये तीनों भले ही देश के सबसे बड़े पुरस्कार, पद, प्रतिष्ठा आपस में या अपनों को ही बाँटते रहें, सरकार को बुद्धिजीवियों के रूप में अपने कुछ पत्रकार और ज्युडीशियरी (न्यायपालिका) के माननीय न्यायमूर्ति ही याद आते हैं, क्योंकि सत्ता के लिए वे अपराध, कार्यपालिका और संविधान के मसले ही नहीं सुलझाते, शिक्षा, धर्म, राजनीति और संस्कृति के विवादों पर भी अपने फैसले सुनाते हैं। वे ही अकेले या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो-चार मिलकर तय करते हैं कि 'हिंदुत्व' धर्म नहीं, 'वे ऑफ लाइफ' है, (मानो इस्लाम और क्रिश्चियेनिटी 'वे ऑफ लाइफ' नहीं है)। वे सर्वज्ञ हैं और संसार की हर आध्यात्मिक, भौतिक समस्या के अंतिम निर्णायक हैं, उनसे कुछ भी पूछना संविधान का अपमान करना है। कितने स्वायत्त और स्वतंत्र हैं, हम सब जानते हैं, तब कोई आश्चर्य नहीं होगा, जब कल कोई जज साहब ही तय कर दे कि 'सूटेबुल बॉय' संसार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इस झूठे, दिखावटी और अविश्वसनीय माहौल में अगर बुद्धिजीवी का न कोई महत्त्व हो, न प्रासंगिकता—तो दुख या आश्चर्य क्यों होना चाहिए ? वह न समाज से जुड़ा है, न उसकी किसी समस्या के लिए अपने को उत्तरदायी मानता है, मगर उसे समाज से मान्यता और सम्मान जरूर चाहिए ? क्यों चाहिए और समाज उसे क्यों दे ? जो समाज उसकी चेतना में है ही नहीं, वह समाज की चेतना में कैसे रहेगा ? लेखक और बुद्धिजीवी के सामाजिक प्रभाव को लेकर मैं लाख दुहाई जोला, सार्त्र या सोलेनित्सिन की देता रहूँ और भले ही संस्कृति-माफ़िया का सबसे लाड़ला नुमाइशी माल बना रहूँ, मगर व्यापक समाज मेरी कोई भी बात क्यों सुनेगा ? समाज के दुख-दर्द, समस्या, मुसीबत में मैंने कभी कोई स्टैंड लिया, कभी मैंने चिंता की कि मेरा लिखा-सोचा लाखों तक जाए, लोग मेरी बात सुनें और आंदोलित हों ? जब आप खुद ही अपने प्रकांड पांडित्य और प्रचंड प्रतिभा से लदालद किताबें लिखें और खुद ही उन्हें खरीदकर सरकारी गोदामों में भर दें, तो उसमें पाठक या समाज कहाँ से आता है ? क्यों आता है ?

जिस बुद्धिजीवी की चिंता और चिंतन में अपना समाज, उसके दुख-दर्द, संघर्ष, सुख नहीं होते, उसकी चिंता वैचारिक-वैश्वीकरण के दक्षिणपंथी उत्तर आधुनिक भले ही करें—अपना समाज तो नहीं ही करेगा। इसलिए मेरी समझ में 'आप आज के राजनैतिक-सामाजिक माहौल के बारे में, अपनी भूमिका के बारे में क्या सोचते हैं' की जगह सवाल यह होना चाहिए कि 'वर्तमान राजनीति और समाज आपकी भूमिका के बारे में क्या सोचता है ? आप खुद क्या सोचते हैं ?'

कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि कल को अचानक ही क्रांति हो जाए और देश को बेचने, खाने-चलाने वालों को लाइन में खड़ा करके शूट करने का दौर चले, तो उन लाइनों में हम कहाँ होंगे ? सब कुछ होता रहा और बिना एक भी शब्द बोले अपने-अपने हिस्से लेकर हम सिर्फ 'दर्शक' बने रहे या विचार की अतींद्रिय सूक्ष्मताएँ बुनते रहे...मगर खैर, ऐसा होगा भी क्यों और हमारा भरपूर प्रयत्न यही होना चाहिए कि ऐसी बेवकूफ़ाना और बेहूदी बातें औरों के दिमाग़ में भी न आएँ। पहले तो क्रांति होगी कहाँ से और कैसे ? ऐसे हवा में ही हो जाएगी ? दिल्ली में बैठकर दूर-दराज तक निगाह डालिए—कहीं कोई क्रांति की सुगबुगाहट भी दिखाई दे रही है ? छोड़िए। वे सब बीते दिनों की बातें हो गईं। अब तो क्रांति टी.वी. और दूरदर्शन कराएँगे—या फिर कराएँगे यज्ञ, हवन और आसा बापू...फिर जहाँ ऐसी क्रांतियाँ हुई भी हैं, वहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन-से देवदूत आ बैठे ? वहाँ भी तो हम ही होंगे। उन्हें क्या बुद्धिजीवियों की ज़रूरत नहीं होगी ? हम वहाँ भी हाजिर होंगे।

कल अगर छाती पर पिस्तौल रख कर अपने लिखे को स्वीकार करने की मजबूरी हो तो हममें से कितने स्वीकार करेंगे कि हमारे लिखे का वही अर्थ है जो कहा गया है। क्या सब ऐसी गुँजाइशी भाषा का इस्तेमाल नहीं करते रहे हैं जिसे कल 'मैंने जो कहा उसका अर्थ यह नहीं वह था' कह कर पल्ला नहीं झाड़ लेंगे ? क्या भाषा के साथ यह छल, मूलतः समाज के साथ विश्वासघात नहीं है ?

'हंस', मई 1996

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हारे हुए विजेता

अगर 'अचानक' ही पड़ोसी देशों से युद्ध, राष्ट्रीय फलक पर बड़ी दुर्घटना या किसी बड़े नेता की हत्या जैसी 'अप्रत्याशित' स्थिति न आ गई तो हम सब मानसिक और राजनैतिक स्तर पर इसी अप्रैल-मई में नए चुनाव की तैयारी कर रहे हैं। शीघ्र ही देश ग्यारहवीं लोकसभा चुनने की प्रक्रिया में व्यस्त हो जाएगा। ऐसे में यह अनुमान सहज और स्वाभाविक है कि इस बार हम पार्टी के रूप में किसे 'सिंहासन' देंगे ? अनुमान को वैज्ञानिकता, विश्लेषण और सर्वेक्षण के आधार देते हुए अनेक बुद्धिजीवी इस सवाल से जूझेंगे कि अगला दल या प्रधानमंत्री कौन होगा ? वरिष्ठ पत्रकार रामशरण जोशी की नई पुस्तक 'अगला प्रधानमंत्री कौन ?' इसी प्रयास की शायद इधर पहली कड़ी है। संचार-माध्यमों में ऐसे विश्लेषण अभी हजारों आने हैं, मगर जोशी की किताब चौंकाने वाली है। पूर्वार्द्ध में नक्शे, सर्वेक्षण और आँकड़े हैं, उत्तरार्ध में प्रमुख राजनैतिक पत्रकारों द्वारा दिए गए विश्लेषण। उनका कहना है कि प्रश्नावली तीन हजार प्रबुद्ध लोगों को भेजी गई है। उत्तर आए हैं सिर्फ 380 के। चौंकानेवाली बात यह नहीं है कि जोशी के सारे आँकड़े एकमत से अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्री घोषित करते हैं, आपत्तिजनक यह है कि जोशी जैसा अनुभवी पूर्व 'ऐक्टिविस्ट', तेजस्वी पत्रकार और समाज-विश्लेषक (लगभग दस महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के लेखक) 'पहले मारे सो मीर' की उतावली में कैसे ऐसी जल्दबाज घोषणाएँ कर सकता है ?

यही नहीं, जोशी इस अंतर्विरोध को भी नजरअंदाज कर देते हैं कि पुस्तक में सर्वेक्षण के इस नतीजे और उत्तरार्द्ध के खुद उनके अपने या दूसरों के राजनैतिक विश्लेषणों में इतनी बड़ी फाँक क्यों है ? सारे पत्रकार किसी एक पार्टी के संपूर्ण बहुमत को एक सिरे से अस्वीकार करते हैं। सभी का मानना है कि इस बार भी मिली-जुली त्रिशंकु सरकार बनेगी। भारतीय जनता पार्टी को सभी सांप्रदायिक, संकीर्ण और फासिस्ट पार्टी मानते हैं। अगर कोई छोटा-मोटा पत्रकार होता तो आसानी से प्रायोजित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक लिखने का आरोप लगाया जा सकता था या उधर ध्यान भी न दिया जाता—सारी पार्टियाँ ऐसे पैम्फलेट निकालती ही रहती हैं। आखिर बड़े-बड़े पत्रकारों ने इमर्जेंसी के समर्थन में उस समय 'तटस्थ विश्लेषण' दिए ही थे। मगर जोशी जैसे लगभग प्रतिबद्ध पत्रकार के नाम से हड़बड़ी में तैयार की गई यह पुस्तक कई सवाल उठाती है। यहाँ यह साफ कर दूँ कि मेरी दृष्टि में वी.पी. सिंह, ज्योति वसु और अटल बिहारी वाजपेयी ही इस समय भारतीय राजनीति के वे शीर्ष पुरुष हैं जिनसे असहमत तो हुआ जा सकता है, मगर उनकी इंटेग्रिटी (ईमानदारी/निष्ठा) को लेकर कभी कोई शंका नहीं उठी। दूसरी बात यह है कि मैं इस मनोवृत्ति का भी भयंकर विरोधी हूँ कि सचमुच अगर कुछ विश्लेषण या नतीजे हमारे विश्वासों से मेल नहीं खाते तो उन्हें दबा देना या दरकिनार कर देना चाहिए...अगर देश वाजपेयी को चाहता है तो निश्चय ही उन्हें वहाँ होना चाहिए...मगर क्या वह सचमुच चाहता है ? यह सवाल इसलिए कि वाजपेयी व्यक्ति नहीं, पार्टी हैं।

मेरी आपत्ति उस पद्धति-शास्त्र (मैथॉडॉलॉजी) से है जैसे जोशी ने निर्दोष और अंतिम मान लिया है और इस आधार पर अपने नतीजे निकाल डाले हैं। होना यह चाहिए था कि किसी व्यक्तिगत प्रकाशक की बजाय व्यापक प्रचार-प्रसार वाले अखबार या विश्वसनीय नेटवर्क के सहयोग से ये सर्वेक्षण किए जाते। जोशी खुद 'नई दुनिया' जैसे बड़े और विश्वसनीय अखबार में वरिष्ठ पत्रकार की तरह जुड़े हैं। इस सर्वेक्षण में चाहे जितनी आँकड़ेगिरी और नक्शेबाजी की गई हो, मगर इस दयनीय झूठ को कैसे छिपाया जा सकता है कि 90 करोड़ के लिए सिर्फ 380 व्यक्ति प्रधानमंत्री चुन रहे हैं। वहाँ भी यह ध्यान बिलकुल नहीं दिया गया कि वे किस वर्ग, लिंग, क्षेत्र या सामाजिक हैसियत के लोग हैं। निश्चय ही ये 380 लोग उत्तर भारत के 'जय श्रीराम' छाप मध्यवर्गीय अनपढ़ बजरंगिये ही रहे होंगे। जाहिर है, जोशी की इस रतौंधी का कारण एक चालाक पद्धतिशास्त्र का शिकार हो जाना है, वरना आज की राजनीति का ककहरा जानने वाला भी देख रहा है कि बिहार, बंगाल, असम या पंजाब-हरियाणा अटल बिहारी वाजपेयी को किसी भी समीकरण से प्रधानमंत्री के रूप में चुन ही नहीं सकते ! "वे पहली बार जमीनी सर्वेक्षण के आधार पर वैज्ञानिक नतीजे निकाल रहे हैं" के बचकाने उत्साह में जोशी जैसा पत्रकार विश्लेषण और वास्तविकता के इस भयानक अंतर्विरोध को नजरअंदाज कर दे, वह भी सिर्फ 380 उत्तरों पर—यह सचमुच राजनीति या पत्रकारिता का सबसे बड़ा लतीफा है।

पिछले पचास वर्षों से आँकड़ों के इस लतीफे को क्या जोशी बिलकुल नहीं जानते ? आँकड़े किस तरह बनाए, गढ़े और नियोजित या प्रायोजित किए जाते हैं, इसे हम लोग रोज़ इस या उस उपभोक्ता सामग्री के संदर्भ में देखते हैं। राजनैतिक आँकड़ेबाज और ग्रह-नक्षत्रों के बाजीगर ज्योतिषी हर चुनाव में बार-बार अपनी भविष्यवाणियों में किस तरह मुँह की खाते हैं, इसे हर अखबार पढ़ने वाला जानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। हर चुनाव से पहले पत्रों, दूरदर्शन या सेमिनार कक्षों में आँकड़ों की बिसात बिछाकर वरिष्ठ और गरिष्ठ विद्वान जो कुछ उगलते हैं, उसे निष्क्रिय भाव से 'भोगना' हमारी मजबूरी है। शेख़ीखोर और 'ओपीनियन-मेकर' किस्म के राजनीतिक पंडित, अभिजात अंग्रेजी पत्रकारों पर ही भरोसा किया जाए तो अनपढ़, मूर्ख, गंवार, मसखरे लालू यादव को बिहार में दस वोट भी नहीं मिलने चाहिए थे। मनमोहन सिंह और नरसिंह राव का गिरोह रोज़ जिस तरह आर्थिक आँकड़े उगल-उगलकर देश को इक्कीसवीं सदी के स्वर्ग में हाँके ले जा रहा है,* उससे कौन अछूता है। सनसैक्स और मुद्रास्फीति की दरें, उछाल और गिरावट की बाजीगरी पता नहीं, क्या सिद्ध करती रहती हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि आज देश को कर्जा देने वाला कोई नहीं है, पाँच साल पहले का बीस रुपए का डॉलर चालीस पर भी स्थिर नहीं है—आटा, दाल, चावल, चीनी पैंतीस-चालीस रुपए किलो तक पहुँच रहे हैं (अब खा ले गरीब आदमी दाल-रोटी)। हर रोज बताया जाता है कि हमारे मुद्राकोष में इतने हजार या लाख करोड़ रुपए जमा हैं, मगर अरबों रुपए के कर्जे के लिए भीख माँगी जा रही है। गेहूँ, गन्ने, सरसों की बम्पर फसल हुई है, हमारे पास दो साल का स्टॉक जमा है। अगले ही दिन मालूम होता है कि यही सब इतने हजार या लाख टन आयात करना पड़ रहा है। आधुनिकतम टेक्नॉलॉजी और मल्टीनेशनल धरती पर स्वर्ण उतारे ला रहे हैं—मगर लाखों बेकार बेराजगारों की भीड़ बढ़ रही है। रोज एक नए घोटाले, घपले और घूस का भंडाफोड़ होता है और कमीशनों की कब्रगाहों में दफन हो जाता है। असुरक्षा, आतंक और अपराध राजनीति के पर्याय हैं और चौबीस घंटे दूरदर्शनों के दस-दस चैनल अपराधियों, हत्यारों को मनोरंजन के नाम पर हमारे मॉडल बनाकर हमें उसी जीवन में ढालने का प्रशिक्षण दे रहे हैं, मगर आँकड़े और सर्वेक्षण हैं कि जादुई कालीनों की तरह हमें आसमान में घुमा रहे हैं।

---

* आँकड़ावाद के विरुद्ध ललित कार्तिकेय ने एम.एस. श्रीनिवासन की क्लासिक पुस्तक 'यादों से रचा गाँव' की ओर ध्यान दिलाया है। इस पुस्तक के सारे आँकड़े तथा तालिकाएँ उपद्रवियों ने जला दिए थे। श्रीनिवासन ने बिना उनकी चिंता किए अपने निरीक्षण और स्मृति से उस पुस्तक को दुबारा लिख डाला। दूसरे समाज-शास्त्री सोल टैक्स ने भूमिका में लिखा है, 'वास्तव में जन-समुदायों और संस्कृतियों के बारे में गैर-मानवशास्त्रियों के अत्यंत सुंदर वर्णन सामने आते रहे और जिन लोगों को 'पेशेवर मानवशास्त्री' कहा जाता है। उनके लिखे हुए निबंध अक्सर संवेदनशील नहीं होते और इतने छिछले होते हैं कि उपयोगी नहीं होते''। खुद श्रीनिवासन कहते हैं, ''मेरे तैयार किए गए आँकड़ों का नुकसान सचमुच एक दुर्घटना थी, मगर मुझे यह नहीं भूलना चाहिए कि मेरे सहकर्मी मेरे अध्ययन को महत्त्व देते थे...मुझे बल्कि यह बात भूल ही जानी चाहिए कि मैंने कभी कार्य-क्षेत्र के विवरण तैयार किए थे...''

ये विचार हैं उस समाजशास्त्री के, जो सिर्फ अपने ज्ञान से प्रतिबद्ध था। सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है राजनीति या व्यवसाय प्रेरित आँकड़ों का कि उनके नतीजे कितने तथ्यगामी होते होंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचमुच, कभी-कभी तो ऐसी झुँझलाहट होती है कि कोई मशीनगनधारी, इन आँकड़े-बाज, सर्वेक्षण-शिरोमणि अमरीकी कठपुतले इन बौद्धिक भांडों को लाइन लगाकर भून क्यों नहीं डालता ? हार्वर्ड और कैलिफोर्निया की फैक्टरियों में ढाले गए (असेम्बुल किए गए) विशेषज्ञ अपने पद्धति-शास्त्र (मैथॉडॉलॉजी) के ऐसे लाचार बंधुआ हैं कि वास्तविकता कुछ भी हो, वे आँकड़ों की बाजीगरी के बाहर कुछ देख ही नहीं पाते...शतरंज के खिलाड़ियों की तरह...इनके इन सर्वेक्षणों में समाज-कल्याण का शायद ही कोई मुद्दा उठाया जाता हो—शिक्षा, चिकित्सा, बेरोजगारी, कुपोषण के आँकड़े दिखाई देना बंद हो गए हैं। कितने कौशल से हमारे गले उतार दिया गया है और कैसे निर्विरोध भाव से हमने स्वीकार कर लिया है कि समाज की तेज विकास-गति में अपराध, हिंसा, लूटपाट, भ्रष्टाचार, दंगे जैसी बातें गैर मुद्दे (नॉन-इश्यू) हैं। वे यहीं नहीं, सारी दुनिया में होते रहे हैं। धर्म और हिंसा की गठजोड़ का इतिहास तो हज़ारों साल पुराना है...

पहले किए जाते रहे होंगे सर्वेक्षणों और आँकड़ों के उपयोग वैज्ञानिक अध्ययनों और विश्लेषणों के अनिवार्य माध्यमों के रूप में, आज के व्यावसायिक और राजनैतिक माहौल में ये सारे पूर्वानुमान मूलतः व्यावसायिक प्रचारतंत्र के रणकौशल हैं—वास्तविकता के तटस्थ आकलन के नाम पर ये अपने लक्ष्य के लिए मनोवैज्ञानिक दबाव पैदा करने के अचूक औज़ार हैं। धर्म रोज-रोज के चमत्कारों से और राजनीति इन सर्वेक्षणों के हथकंडों से अपने बाजार तैयार करती है। यहाँ लोगों, क्षेत्रों और हैसियतों का चुनाव इतनी सावधान तटस्थता से किया जाता है कि मनचाहे नतीजे निकालें जा सकें। रामशरण जोशी का यह आकलन यथार्थ से कटी इसी बौद्धिक छिन्नमूल मानसिकता को रेखांकित करता है और अगर यह जानबूझकर किया जाता है तो एक दूसरे खतरनाक 'पैरेनोइया' शेखचिल्लीपन का विस्फोट है...पत्रकारी जीवन में आने से पहले जोशी राजनैतिक कार्यकर्ता रहे हैं। बस्तर के आदिवासियों से लेकर नक्सल आंदोलन के साथ उनके संपर्क थे और वे छत्तीसगढ़ मुक्तिमोर्चा के डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। इधर पंद्रह-बीस सालों से उन्होंने तेजस्वी पत्रकार के रूप में अपनी पहचान बनाई है। उग्र-वामपंथी राजनीति से आने वाले पूर्व कार्यकर्ता जब व्यवसाय और राजनीति के कुर्सीजीवी पेशे को चुनते हैं, तो वह नहीं रह जाते जो पहले थे। वास्तविकता से उनका संपर्क स्मृतियों में रह जाता है और पुराने अनुभव नए जीवन की सफलता के लिए इस्तेमाल किए जाने लगते हैं। मोहभंग की स्थिति उन्हें सीधे दक्षिण-पंथ की गोद में ला डालती है। पहले वे स्वप्न-जीवी थे, अब क्रमशः संस्कृतिजीवी होने लगते हैं। क्रांति के द्वारा शासन का तख्ता पलट देने के स्वप्न देखने वाले अरविंद घोष जब लंबी जेल काटकर निकले तो आध्यात्मिक गुरु थे। पहले वह शस्त्र से दुनिया बदलना चाहते थे, अब शास्त्र के सहारे मनों में क्रांति करने लगे। तब भी यथार्थ से कटे थे, बाद में भी यथार्थ से कटे रहे...भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरित्र वैसे भी मोहभंग के पहले धक्के में ही ईश्वर के चरणों में जा गिरने के लिए अभिशप्त है—इसे दिनकर ने कहा है, "हारे को हरिनाम"।

इस स्थिति का सबसे मनोरंजक पहलू यह है कि क्रांति के लिए ऐसे उग्र वामपंथियों ने जो वैज्ञानिक पद्धतिशास्त्र विकसित किया था, मोहभंग के बाद वह सब अध्यात्म और हिंदू-संस्कृति की अद्वितीय व्याख्याओं में इस्तेमाल किया जाने लगता है, 'पहले वे कितने गलत थे' का अपराध-बोध उन्हें उतनी ही उग्रता से पुराणों, उपनिषदों और वेदों की तरफ दौड़ाता है—अंत होता है देश की नहीं, आत्मा की मुक्ति में। मनुष्य के भौतिक रोग-शोक, सामाजिक विषमताएँ उनके लिए रोजमर्रापन की टुच्ची समस्याएँ या माया हैं। उनके विचरण का क्षेत्र अब अमूर्त मानवीयता या तात्विक सार्वभौमिक सार्वकालिक समस्याओं का क्षेत्र होता है। गुरुत्वाकर्षण से छूटी पतंग के लिए अनंत की गहराइयों के सिवा जगह कहाँ है। आजकल हमारे निर्मल वर्मा हिंदुत्व के इन्हीं अमूर्तनों के आध्यात्मिक यात्री हैं—रचना, संवेदना और विचार में पश्चिमी बने होने का धिक्कार उन्हें लगभग प्रतिशोधात्मक रूप से 'भारतीय' बना रहा है। अब वे हिंदू वर्ण-व्यवस्था से लेकर यहाँ की हर जड़ता, अंधविश्वास, चमत्कार, मूढ़ता, अमानवीयता और सामाजिक सड़ांध के प्रबल पक्षधर ही नहीं हैं, वहाँ उस सारी सांस्कृतिक उदात्तता के द्रष्टा भी हैं जिसके विलक्षण विवरण कल्याण-प्रेस की धर्म-फैक्टरी रात-दिन उगल रही है—हाँ, भाषा उन आधुनिक चिंतक की है, विद्यानिवास मिश्र, नरेश मेहता या शैलेश मटियानी के लिए तो खैर सांस्कृतिक पोंगावाद की आत्ममहिमा से बाहर झाँकने का सवाल ही नहीं पैदा होता, मगर दयनीय यह है कि निर्मल वर्मा के आत्ममंथनों में जे. कृष्णमूर्ति या रजनीश जैसी सांस्कृतिक प्रश्नाकुलता और चिंतन की तेजस्विता भी नहीं है—महान हिंदुत्व के सामने घिघियाता आत्मसमर्पण ही शायद आज उन्हें परिभाषित करता है। हिंदुत्व के बजबजाते चहबच्चों से आँखें मूँदे वे जब सोवियत या वाम व्यवस्थाओं की चुनी हुई चुप्पियों की खाल उधेड़ते थे, तो भौतिकता से किसी रूप में तो बंधे हुए थे, अब वह सहारा भी नहीं रहा।

कहते हैं, भूतपूर्व कम्यूनिस्ट जब अपना कुतुबनुमा तोड़ देता है, तो शायद सबसे खतरनाक, निरंकुश और अविश्वसनीय प्राणी हो जाता है। अध्ययनशील तो वह होता ही है : अपने प्रशिक्षण में इतिहास, संस्कृति, धर्म और नैतिकता की असलियतें उससे ज्यादा कोई नहीं समझता। अब जब इस सबको दिशा या भविष्य देने वाला स्वप्न रहा ही नहीं, तो उसे किसी भी हद तक जाने से कौन रोक सकता है ? अगर देश की स्वतंत्रता वाला तत्त्व हटा दिया जाए, तो मान सिंह, सुलताना डाकू और चंद्रशेखर, भगत सिंह में अंतर कहाँ है ? यह भूतपूर्व कम्यूनिस्ट भी सामाजिक विषमताओं या अंतर्विरोधों से लड़ने का काम छोड़कर व्यक्तिगत लाभ उठाने की दिशा में सक्रिय हो जाता है। भाषा वही पुरानी होती है, मगर सारे मंतव्य बदल जाते हैं। इस दुर्घटना के सबसे नए उदाहरण हैं कथाकार जगदम्बा प्रसाद दीक्षित...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह संयोग नहीं था कि सोवियत रूस और चीन के 'नकली' साम्यवाद या उनकी साम्राज्यवादी राजनीति के प्रचंड विरोधी नक्सलवादी, सी.आई.ए. के सबसे आसान और उपजाऊ तत्त्व साबित हुए। अमेरिकन विश्वविद्यालयों से न जाने कितने शोधार्थी सन् 65 से 75 के बीच लोकभाषाओं या जनजातियों के अध्ययन के लिए मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल, आंध्र प्रदेश के गहरे जंगलों और आदिवासी क्षेत्रों में घुसपैठ कर रहे थे और इनसे संवाद बनाए रखते थे। बाद में ये उग्र क्रांतिकारी ही भारत सरकार की नौकरशाही में कुशल प्रशासकों के रूप में शामिल हुए...सत्ता को संरक्षण देने वाली व्यवस्था को तोड़ने की प्रतिज्ञा अंततः सत्ता को बनाए रखने की प्रतिभा में परिणत हो गई—यानी अपने पुराने सहयोगियों या विद्रोहियों को ठिकाने लगाने के लिए इनसे ज्यादा उपयोगी और कौन होता ? अध्ययनशील, ब्रिलियेंट युवा थे ही, इसलिए ऊँची गद्दीदार प्रशासकीय सेवाओं, पत्रकारिता या एकेडमिक दुनिया में शामिल होने में दिक्कत नहीं हुई। आज वे भ्रष्टतम नेताओं, देशद्रोही, घूसखोर मंत्रियों, प्रधानमंत्री, पतित दलाल, हत्यारे तांत्रिकों को सुरक्षा देने वाले सबसे विश्वसनीय कार्यकर्ता हैं। आत्मा जब बहुत अशांत हो जाती है तो तिरुपति से लेकर वैष्णो देवी तक के तीर्थ कर आते हैं, दो-दो घंटे पूजा करते हैं और दुधारू तस्करों के पंचतारा सुख भोगते हैं।

'कटा हुआ आसमान', 'मुर्दाघर', 'इतिवृत्त', 'मुहब्बत' जैसी सशक्त रचनाओं के लेखक जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने अपने निर्भ्रांत यथार्थ-बोध और वैचारिक तेजस्विता से एक समय हिंदी कथा-साहित्य में तहलका मचा दिया था। नक्सली संपर्क के चलते एमर्जेंसी के दौरान उन्होंने बस्तर के जंगलों से लेकर नेपाल (और शायद कनाडा भी) तक फरारी भी भुगती। उस समय कई बार दिल्ली में मुलाकातें हुईं। तब मेरे लिए वह लगभग हीरो थे। बीच में जुड़े एक प्रेम-प्रसंग ने उन्हें अतिरिक्त रंगीनी भी दे दी थी। वे कई क्षेत्रों में क्रांतिकारी थे। मगर उस उग्र किताबी क्रांतिकारिता को अंततः जिस घाट लगना था, उसके उदाहरण सामने आने लगे हैं। आज वे शिव सेना के साप्ताहिक 'सामना' के नियमित लेखक हैं और 'अस्तित्व-रक्षा' के लिए विज्ञापन एजेंसियों या फिल्मों में व्यावसायिक लेखन कर रहे हैं। पिछले वर्ष 'सबरंग' (बंबई) को दिए इंटरव्यू में उन्होंने बी.जे.पी. के 'स्वदेशी' आंदोलन का समर्थन करते हुए कहा था कि अगर मैं बिना अपने विचारों के साथ समझौता किए 'सामना' में अपनी बात रख सकता हूँ तो गलत क्या है ? मैंने उनसे पूछा था कि बी.जे.पी. की गोद में बैठी उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती, मनुवादियों के खिलाफ क्या आज भी उसी भाषा में बोल सकती है जिसमें बोलती रही है ? कौन किसका इस्तेमाल कर रहा है ? आधुनिकतम विदेशी उपकरणों और साधनों के पीछे पागल वे लोग किस 'स्वदेशी' की बात करते हैं ? क्या दीक्षित जी ने पिछले दिनों दौड़-दौड़कर अमरीका जाने वाले मुरली मनोहर जोशी से लेकर आडवाणी के बयान नहीं पढ़े, जहाँ वे क्लिंटन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकारियों को आश्वासन दे रहे थे कि मल्टीनेशनलों का हम स्वागत करते हैं, कि अमरीकी उद्योगों को भारत में कोई खतरा नहीं है ? क्या एनरॉन समझौतों को विरोध का मुद्दा बनाने के पीछे यह कारण नहीं था कि सारी घूस शरद पवार ले बैठे थे और जैसे ही बाल ठाकरे से सौदा तय हुआ, सारा विरोध ठंडा हो गया, यानी एनरॉन को फिर सिर पर बैठा लिया गया।

स्वदेशी का अर्थ सिर्फ उपभोक्ता सामग्री या औद्योगिक उत्पाद ही तो नहीं है—वह पूरी एक समझ है—जिसका दूसरा नाम 'राष्ट्रीय संस्कृति' भी है—यानी इतिहास, संस्कृति, समाज व्यवस्था की जड़, अवैज्ञानिक, भावुक 'स्वदेशी' हिंदूवादी व्याख्या.. .वहाँ ईसाई-मुसलमानों, दलितों-शूद्रों के लोकतांत्रिक अधिकारों की जगह कहाँ है ? जो राजनीतिक पार्टी हजारों सालों से चले आते जैन-बौद्ध ग्रंथों के स्वतंत्र पाठ को बर्दाश्त नहीं कर सकती, वह अधर्मियों और विधर्मियों की अस्मिता कैसे बर्दाश्त करेगी ?...जहाँ करोड़ों और अरबों की राष्ट्रीय सम्पत्ति धर्म के नाम पर रोज फूँकी जाती हो, वहाँ मनुष्य की गरीबी, भुखमरी या कुपोषण के लिए जगह कहाँ है ? हाँ, गाय-बंदर मर रहे हों तो हलुआ-पूरी हाजिर है। क्या यह हिटलर के राष्ट्रवाद की वापसी नहीं है ? जाहिर है कि दीक्षित जी ने अपनी पुरानी अतिवामपंथी परिचित शब्दावली का सहारा लेकर मुझ (या मुझ जैसे लोगों) पर जवाबी आरोप लगाया है कि हम लोग विदेशी पूँजी पर निर्भर अमरीकी साम्राज्यवाद के दलाल दक्षिणपंथी कांग्रेसियों और तथाकथित वाम पार्टियों के समर्थक हैं—या उनके खिलाफ न बोलकर बी.जे.पी. जैसी राष्ट्रीय पार्टी के वास्तविक 'वामपंथ' को नहीं समझ रहे (देखिए 'समझ' पत्रिका के दसवें अंक में 52-53 पृष्ठों पर दीक्षित जी की सफाई)। ऐसा ही कुछ समझा रहे हैं कल तक के तेज-तर्रार लेखक प्रेमकुमार मणि कि नीतिश कुमार और जॉर्ज फर्नांडीस का बी.जे.पी. के चरणों में गिरना कितनी बड़ी ऐतिहासिक जरूरत है। यहाँ मुझे वे सारी बहसें याद आ रही हैं, जब व्यवस्था को अंदर से बदलने और समाजवादी धार देने के नाम पर कुछ तेज-तर्रार युवा-तुर्क इंदिरा कांग्रेस में शामिल हुए थे—वही आज देश के सबसे बड़े माफियाओं, तांत्रिकों, हत्यारों, घूसखोरों, भ्रष्ट देशद्रोहियों के सरगना चंद्रशेखर, नरसिंह रावों के रूप में हमारे सामने हैं और यहाँ मैं रामशरण जोशी को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि अगर वे सर्वेक्षण करें तो पूर्वी उत्तर प्रदेश के हजार, दो हजार अत्यंत प्रबुद्ध लोग जरूर मिल जाएँगे जो चंद्रशेखर को भावी प्रधानमंत्री के रूप में चुनना पसंद करेंगे। यही क्यों, पचासों हजार करोड़ के चीनी, संचार घोटालों में आकंठ डूबे नरसिंह राव के पक्ष में तो सर्वेक्षण आने ही लगे हैं। चमत्कार गणेश जी का दूध पीना नहीं, चमत्कार यह है कि घूसखोरी और भ्रष्टाचार के जिस मुद्दे पर संसद का पूरा एक सत्र चलने नहीं दिया गया था, उसे हवाला कांड की छोटी-सी राशि ने एक किनारे फेंक दिया और एक खूँखार मक्कार प्रधानमंत्री अपने ही भूतपूर्व सहयोगियों को अपनी ही कार्यपालिका और न्यायपालिका के हाथों मरवाने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधायिका और कार्यपालिका, यानी सरकारी मशीनरी को पूरी तरह खा-चबा डालने के बाद अब राव साहब न्यायपालिका के सत्तापरस्त बंदर-नाच में लगे हैं। क्यों जोशी जी, क्या यह वही स्थिति नहीं है कि डाकुओं के दल में कोई घायल होकर गिर जाता है तो सरगना उसकी गर्दन काटकर अपने साथ ले जाता है, ताकि न वह पहचाना जाए, न कुछ बोल सके...

'हंस', मार्च 1996

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसरे अंक का स्थगित नायक

हमारे यहाँ जीवनियाँ या आत्मकथाएँ क्यों नहीं लिखी जातीं, इस पर विचार करते हुए 'हंस' के ही किसी अंक में मैंने कुछ नतीजे निकालने की कोशिश की थी : पुरानों के बारे में प्रमाण और साक्ष्य नहीं मिलते और समकालीन लोग भारतीय 'हिप्पोक्रेसी' (ढोंग) के शिकार हैं। जीवन की क्षुद्रता, क्षणभंगुरता-व्यक्तिगत अहं का निषेध और 'मैं किस लायक हूँ', 'मेरा जीवन सचमुच इतना महत्त्वपूर्ण नहीं' का 'सांस्कृतिक' शील या 'कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना' के चिंतनस्वरूप ''तुलसी अब का होंइंगे, नर के मंसबदार'' की घोषणाएँ। स्रष्टा का ब्रह्म की तरह अपने-आप को रचना के पीछे छिपा देना; उसका हर कहीं और कहीं न होने का दार्शनिक तत्ववाद यानी रचनाकार को अदृश्य करके रचना को सामने रखने की औपनिषिदिकता इत्यादि ...मगर जीवनियाँ या आत्मकथाएँ न होने के ये सारे तर्क मुझे इसलिए सही नहीं लगते कि राजाओं ने यानी एक प्रभु-वर्ग ने कार्यों और विचारों के विवरण देते हुए अपने नामों के शिलालेख भी छोड़े हैं और जीवनियों या रासो-शृँखला के रूप में उनकी प्रशस्तियाँ भी कम नहीं हैं। ये तर्क उन पर लागू क्यों नहीं होते थे ? नतीजा यह क्यों न निकाला जाए कि राजा ही इतना महत्त्वपूर्ण होता था कि दरबारी रचनाकारों का सारा श्रेय या तो खुद ले लेता था या जो दरबारी नहीं थे, उन्हें गुमनामियत चुन लेने को मजबूर होना पड़ता था। वे राजा की बजाय उसे भगवान के नाम समर्पित कर देना बेहतर समझते थे। इसलिए जीवन-वृत्त और साक्ष्य राजाओं-सम्राटों के तो मिलते हैं, रचनाकारों के नहीं। या जो हैं भी, वे इतने आधे-अधूरे, अप्रामाणिक और किंवदंतियों से भरे हैं कि वास्तविकता का पता ही नहीं चलता, जैसे 'बावन वैष्णव की वार्ता'। 'अर्धकथानक' एकमात्र आत्मकथा है जो सत्ता से अलग चार सौ साल पहले लिखी गई थी—हिंदू नहीं जैन परंपरा में।

मगर इस सबसे अलग या कहें, इस सबके ही परिणामस्वरूप एक और कारण सबसे महत्त्वपूर्ण हो सकता है, इस बात का ज्ञान मुझे 'साहित्य अकादमी' के 'अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झरोखे से' कार्यक्रम में हुआ। मुझे मोहन राकेश पर बोलना था और इसे मैं तीन चार सालों से स्थगित कर रहा था। ज़ाहिर है मेरी बात संस्मरणों के नाम पर परोसे जाने वाली परिपाटीबद्ध प्रशस्तियों और विरुदावलियों से अलग थी। संस्मरण हो या श्रद्धांजलि, हमारी भाषा इतनी रूढ़, बासी, अतिशयोक्तियों से लदी और प्रशस्तिपरक होती है कि उनके पीछे का आदमी गायब ही हो जाता है। भेद कर पाना मुश्किल है कि जिसके बारे में कहा जा रहा है, वह जीवित भी है या चल बसे...मैं व्यक्ति राकेश का समग्रता में मूल्यांकन करना चाहता था। न मुझे अपनी बात को 'स्कैंडल्स' बनाना था, न देव-महात्म्य...जाहिर है, दृष्टिकोण मेरा था। उसके पीछे लंबी समकालीनता, दोस्ती की अंतरंग निर्भरताएँ, भावनात्मक हिस्सेदारियाँ हैं तो आपसी स्पर्द्धाएँ, ईर्ष्याएँ, कुंठाएँ तथा व्यक्ति और स्थिति को देखने के कोण और व्याख्याएँ भी मेरी ही हैं। अगर ऐसा न हो तो किसी भी बड़े-छोटे व्यक्ति की केवल एक ही जीवनी लिखी जाए। ''बुरा जो देखन मैं चला, मुझ-सा बुरा न कोय'' के हिसाब से तो दुनिया में कुछ भी लिखना व्यर्थ है। आखिर कुछ तो 'अलगपना' रहा होगा कि तॉल्सतोय पर बीसियों जीवनियाँ लिखी गईं और गांधी आज भी जीवनी लिखने वालों के लिए चुनौती हैं। सभी जगह व्यक्तिगत कुंठाएँ और दूसरे की महान सफलताओं से दग्धताएँ ही तो नहीं हैं। किसी के जीवित रहते हम उसके जीवन की सचाइयाँ इसलिए नहीं लिखते कि पता नहीं, अगले को क्या बुरा या गलत लग जाए। (बच्चन की जीवनी का प्रकाशवती प्रसंग) और मरने पर इसलिए चुप रहते हैं कि ''मरना ही महान होना है'' या ''काल सबसे बड़ा क्षमाकर्ता है'' की कुंठा से मुक्त नहीं हो पाते। अब वे बेचारे जैसे थे वैसे थे, नहीं रहे तो क्यों उनकी छीछालेदर की जाए...या ऐसा ही था तो उनके रहते कहकर दिखाते। यानी अगर आप मरनेवाले की आरती नहीं उतारते तो निश्चय ही छीछालेदर करते हैं। ''खुदा बख्शे, बहुत-सी खूबियाँ थीं मरने वाले में...'' की ही हिप्पोक्रेसी है कि हमारे पास निराला, प्रेमचंद, मुक्तिबोध, अज्ञेय और राहुल जैसे गतिशील, विस्फोटक व्यक्तियों के न विश्लेषण हैं, न व्याख्याएँ...रचना और व्यक्तित्व की द्वंद्वात्मकता को समझने वाली तो कोई अंतर्दृष्टि है ही नहीं। (मुक्तिबोध पर मणि कौल की 'सतह से उठता आदमी' फ़िल्म अपवाद है)। रामकमल राय की अज्ञेय पर लिखी जीवनी पढ़कर लगता ही नहीं कि हम एक विद्रोही या परिपाटी-भंजक व्यक्ति के बारे में पढ़ रहे हैं। हमारे यहाँ मरने पर हर व्यक्तित्व का सिर्फ हनुमान-चालीसा ही लिखा जा सकता है। जिसके बारे में भी उसके श्रद्धालुओं या भक्तों ने जो छवि बना ली है उससे अलग कुछ भी कहना उस 'महान आत्मा' के प्रति विश्वासघात है। उसे लगभग एक शहीद का दर्जा देना हमारे चरित्र की मजबूरी है, क्योंकि कल हमें भी तो मरना है। ऐसे मनोवैज्ञानिक दबावों में जीवन की कुछ मोटी-मोटी घटनाओं के विवरणों या सब कुछ महान, सब कुछ अद्वितीय की 'ओम जय जगदीश हरे' छाप आरतियों के सिवा लिखा या कहा भी क्या जा सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ? परिणाम यही हुआ कि इन मूर्तिपूजकों के चंगुल में फँसकर या तो भारतेन्दु, निराला, उग्र, भुवनेश्वर जैसे चुनौती-भरे 'व्यक्तित्व' महानता की गुमनामियों में डाल दिए गए या उन पर इतना घी-सिंदूर पोता गया कि कृष्ण, विष्णु या राम की मूर्तियों की अलग पहचान ही खो गई—सब एक से सपाट, एक से श्रद्धेय।

खतरनाक बात यह है कि मोहन राकेश भी आज उन्हीं मूर्ति-पूजकों की जायदाद है जो समग्रता में न उसके व्यक्तित्व को समझना चाहते हैं, न 'व्यक्ति' को देखना। उनकी दिलचस्पी सिर्फ उसकी मृत्युगत महानता को ही जिंदा रखने में है। वे राकेश की व्यक्तित्वगत जटिलताओं को 'निश्च्छल', 'उदार', 'महान', 'प्रतिभाशाली' की शब्दावली में ही 'डिसमिस' कर देना चाहते हैं। उनके हिसाब से न उसमें कहीं कोई अंतर्विरोध थे, न उसके बनने में पृष्ठभूमि और परिवेश का कोई हाथ था। वह सीधा, सपाट, 'वन डायमेंशनल' (एकायामी) सतही आदमी था। अगर सचमुच वह ऐसा ही था तो और कुछ भी हो सकता था, लेखक नहीं हो सकता था। क्योंकि ईमानदार लेखन मूलतः अपने भीतर की खाई-खंदकों, शिखरों और ढलानों की यात्राओं, तकलीफों, तंनावों या सुखों की अभिव्यक्ति के सिवा कुछ हो ही नहीं सकता और इस ग्रीनरूम में झाँके बिना उसका कोई भी मूल्यांकन झूठा, बनावटी और फूहड़ यानी एकेडमिक है।

शुरू में ही यह स्वीकार करते हुए कि यह मेरा निजी कोण है और हरेक इससे असहमत हो सकता है, मैंने मोहन राकेश के जीवन और व्यक्तित्व के अंतर्विरोधों को रेखांकित करने की कोशिश की थी। मैंने न उसके 'लेखन' के महत्त्व से इन्कार किया, न नाटक में उसके युग-प्रवर्तक अवदान को नकारा। उस अकेले व्यक्ति ने हिंदी-नाटक का मुहावरा बदला है, इसे कैसे अनदेखा किया जा सकता है। एक समय के अत्यंत महत्त्वपूर्ण अभिनेता और मणि कौल जैसे फिल्मकार उसके नाटकों से बने हैं, इससे भी कौन इन्कार करेगा। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की तो तीन पीढ़ियाँ राकेश के नाटकों में जीकर बड़ी हुई हैं। इस मामले में उसका प्रभाव अपने शेष दोनों साथी नाटककारों— बादल सरकार और गिरीश कर्नाड से ज़्यादा गहरा है, क्योंकि रंगमंच की 'देशव्यापी' हलचलों का केंद्र पिछले दसियों सालों से दिल्ली रहा है; मान्यता देने के सत्ता-संस्थान भी दिल्ली में ही हैं। इसलिए दिल्ली द्वारा मान्य घटना या व्यक्ति 'अखिल भारतीय' हो जाते हैं। कम से कम अनदेखे नहीं रहते और यह सुविधा राकेश को भी मिली। यह सही है कि जब हम व्यक्तित्व की बात करते हैं तो सफलताओं और उपलब्धियों के इन पक्षों को भी ध्यान में रखना चाहिए। मैंने अपने वक्तव्य में अपेक्षित रूप से ऐसा नहीं किया, निश्चय ही यह मेरी गलती थी। मैं यह मानकर चला था कि राकेश के साहित्यिक और रंगमंचीय महत्त्व को दुहराने की ज़रूरत नहीं है—अगर वह नहीं होता तो हम साहित्य अकादमी के सभागार में इतनी बड़ी संख्या में जुटते ही क्यों ? मैं यह भूल गया था कि वहाँ अधिकातर लोग वे हैं जो सिर्फ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'महान नाटककार' से परिचित थे और उन्होंने व्यक्ति को नहीं, श्रद्धेय व्यक्तित्व को जाना था। परिणामतः अपने 'नायक' के बनने की इस प्रक्रिया के दर्शन से उनकी भावनाओं को धक्का लग सकता था। हालाँकि मैंने अपने वक्तव्य में कई बार कहा था कि–राकेश की जिंदगी में परिचितों और मित्रों के साफ-साफ दो अलग वर्ग हैं–एक, जो उसके बनने के दौरान निकट रहे, दूसरे वे जो उसकी सफलताओं के साथ आए। दूसरे वर्ग में अधिकतर नाटक या फ़िल्म के लोग। उस समय वह सत्ता का हिस्सा था–पुरस्कार, नेहरू फेलोशिप, सेंसर बोर्ड की गवर्नरी और न जाने कहाँ-कहाँ की मेम्बरशिप, देशी-विदेशी यात्राएँ, रंगमंचीय जय-जयकार...इस अवधि में उसने प्रायः कुछ नहीं लिखा। उसका रचनाकाल और 'डायनेमिज्म' पीछे छूट चुका था। जो दोनों ही अवधियों (या फ़ेजों) में उसके साथ रहे, वे या तो राज बेदी, गिरिधारी जैसे ग़ैर-साहित्यकार थे, जो दोस्त की उपलब्धियों से गौरवान्वित होते थे या अनिता और कमलेश्वर जैसे उपकृत-समर्पित। बाकी सबसे संबंध 'प्रोफ़ेशनल' थे जिन्हें व्यक्तिगत बना देने की व्यवहारकुशलता को उसने बीस साल में अचूक परफेक्शन दिया था। इनमें से किसी का भी लिखा राकेश के अंतर्विरोधों, उनसे जूझने या उन्हें 'रिज़ॉल्व' करने के तनावों की कोई गवाही नहीं देता। वह स्वर्ग-भ्रष्ट देवता के प्रति भक्ति-निवेदित उच्छ्वास हैं जिन्हें राकेश ने "तू ही मेरा अकेला और एकमात्र दोस्त है" के पुराने फ़ॉर्मूले से अर्जित किया था। एक अच्छी शाम झटक लेने के लिए आज भी धीरेंद्र अस्थाना यही करता है।

राकेश के जीवन को समग्रता में देखने पर सबसे बड़ा अंतर्विरोध तो यही दिखाई देता है कि जो व्यक्ति इतनी भागदौड़ और हंगामे-भरी ज़िंदगी जीता रहा, आज दिल्ली तो कल बंबई, परसों कुल्लू तो अगले दिन जमशेदपुर भागा फिर रहा है, जो एक के बाद एक नौकरियाँ, दोस्तियाँ, पत्नियाँ और स्थान छोड़ रहा है, वह लेखन और जीवन में इतना व्यवस्थित कैसे है ? उसकी किसी भी रचना में न कहीं कोई झोल है, न ढीलापन। वे कई-कई बार लिखी चुस्त और तराशी हुई रचनाएँ हैं, कलात्मक चुनौतियों का सामना करती हुई। उनमें वह 'कच्चापन' भी प्रायः नहीं है जो उम्र के साथ-साथ पकता है। वे बेहद संतुलित, संवेदनशील, वयस्क मस्तिष्क की उपज है। इस बाहरी भागम-भाग, तोड़ने-छोड़ने की सन्निपातिकता और इस आंतरिक व्यवस्था-संतुलन के बीच कोई अंतर्क्रिया है या वे दो अलग और अछूते समानान्तर धरातल हैं जो आपस में एक दूसरे को न काटते हैं, न प्रभावित करते हैं ? वे एक दूसरे से पलायन हैं या प्रेरणा ? यह लगभग साफ है कि परिस्थितियों ने ज़िधर धकेला या भीतरी-बाहरी दबावों में जो संभव हुआ, उधर बह निकलने वाली या केवल झटकों या झखों में निर्णय ले डालने वाली ज़िंदगी उसकी नहीं है। उसकी भटकनें निश्चय ही यायावरी उद्देश्यहीनता की घुमक्कड़ियाँ नहीं हैं–उनके पीछे बाक़ायदा एक व्यवस्थित दृष्टि और संतुलित अंतर्सूत्रता है। राकेश की सारी बनावट राहुल सांकृत्यायन के नहीं, अज्ञेय के ज़्यादा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकट पड़ती है। राहुल की यात्राएँ सहज, जंगली नदी की तरह हैं, जिधर रास्ता निकला उधर बह चले। अज्ञेय और राकेश साफ़-सुथरी नहरों की तरह विशेष नदियों या मुख्यधाराओं की तरह बढ़ते हैं। राकेश को मालूम है कि उसकी आखिरी चट्टान कहाँ है ! मुझे लगता है कि अव्यवस्था और भटकन न अज्ञेय की प्रकृति में है, न राकेश की। वे उनकी योजनाओं के हिस्से हैं। जब वे भटकते और बहकते हैं, तब भी अच्छी तरह जानते हैं कि वे वेश बदले हुए राजाओं की तरह मुसीबतें और कष्ट उठा रहे हैं—उनके 'राज्य' अपनी जगह सुरक्षित हैं। जेल, फ़रारी, यायावरी और देशकाल को एक सिरे से दूसरे सिरे तक नापने के बावजूद अज्ञेय जी ने अपने लेखन के एक-एक पुर्ज़े को संभालकर रखा है। पिछले दिनों 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' में उनकी जिल्दबंद पांडुलिपियाँ देखकर ही लगता था कि सारी अव्यवस्था के पीछे कितना कठोर अनुशासन है।

बाहरी अतार्किकताओं के पीछे का तर्क (मेथड इन मैडनेस) ही वह सूत्र है, जिसके माध्यम से मैं राकेश को समझना चाहता हूँ। शुरू में उसने भले ही गाइडनुमा कुछ लिखा हो, लेकिन बहुत जल्दी ही तय हो गया कि उसे बड़ा, महत्त्वपूर्ण और सफल लेखक होना है। और यह मैं व्यक्तिगत अनुभव और लंबी घनिष्ठता के आधार पर दावे से कह सकता हूँ कि राकेश की एकमात्र प्रतिबद्धता लेखन ही रही है—वहाँ उसने न समझौते किए और न वह सब लिखा जो नहीं चाहा। हो सकता है, इस दिशा में कालिदास उसका आदर्श बन बैठा हो (वह संस्कृत का गोल्ड मेडलिस्ट था) क्योंकि यही वह व्यक्ति है जिस पर उसने शुरू से ही अलग-अलग समय, अनेक तरह से लिखा है, कभी कहानी की तरह, कभी रेडियो-रूपक की तरह, कभी नाटक की तरह जिसकी परिणति है 'आषाढ़ का एक दिन'।

'आषाढ़ का एक दिन' मूलतः सत्ता और रचनात्मकता के संघर्ष की कहानी है। जो रचनात्मकता एक साधारण आदमी को कालिदास बनाती है, उसे ही सीढ़ी बनाकर वह ऊपर की अभिजात दुनिया में जा शामिल होता है और जिंदगीभर इस दंश से क्षत-विक्षत रहता है कि उसने अपने 'आप' के साथ विश्वासघात किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' राकेश की सबसे प्रामाणिक आत्मकथा भी है। अपनी अन्वेषी दृष्टि और मिथ को तराशकर उसने ऐसे कालिदास को खोज निकाला था जो थोड़े हेर-फेर के साथ अनेक धरातलों पर ईमानदारी से लेखक को अभिव्यक्त करता है—ठीक उसी तरह, जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाण' को खोजा था। प्राध्यापक और विद्वान आज भी माथापच्ची कर रहे हैं कि ये कालिदास और बाण प्रामाणिक हैं या नहीं। अज्ञेय और राकेश में एक समानता यह भी है कि दोनों ने रचनाओं के बहाने आत्मकथाएँ या आत्मसंघर्ष लिखे हैं, इसलिए उन्हें स्वायत्त या लेखक-निरपेक्ष रचनाओं के रूप में समझना अधूरे नतीजों में भटका सकता है। जैनेन्द्र और यशपाल में ऐसा नहीं है। वहाँ बहुत कम है जो जीवनी-निर्भर हो। हाँ, जीवन या समाज के मुद्दे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरोकार जरूर उनके लेखन के केंद्र में हैं। सत्ता, हिंसा, सेक्स या पैसा जैनेन्द्र के ऐसे मूल्य हैं जिन्हें वे बार-बार अपने भीतर उतरकर जाँचते हैं। शोषण, सेक्स, धर्म और समाज की 'डायनेमिक्स' यशपाल के सरोकार हैं। इन सवालों को अज्ञेय के शेखर या भुवन बहस के धरातल पर उठाते जरूर हैं, मगर मूलतः उनका स्रोत और लक्ष्य अपना जीवन ही है। वे अपने-आपसे बाहर या दूर नहीं जाते। राकेश की मानसिकता (केमिस्ट्री) यहाँ अद्‌भुत रूप से अज्ञेय से मिलती है। दोनों में ही निजी को सामाजिक बनाने का आग्रह है—अज्ञेय में कम, राकेश में ज्यादा। वह निजी क्या है जिसे सामाजिक बनाया जा रहा है ? बिना इस प्रक्रिया को समझे अज्ञेय या राकेश को कैसे समझा जा सकता है ? अपने जीवन काल में दोनों का ही व्यक्तित्व इतना सम्मोहक, आतंकास्पद और छा जाने वाला रहा है कि रचना दूसरे स्थान पर उतर आती है। ठीक आज के चित्रकार हुसैन की तरह—हुसैन माधुरी दीक्षित के चित्र बना रहे हैं, हुसैन ने इन्दिरा जी को लेकर दुर्गा-शृँखला बनाई है, हुसैन आशु-चित्र बनाएँगे।

कला और साहित्य की दुनिया में इन स्टारनुमा बड़े व्यक्तियों की ट्रेजेडी यही होती है कि वे खुद अपनी रचना के प्रतिद्वंद्वी बन बैठते हैं—वे रचना को पीछे धकेल कर कैमरे के सामने खड़े हो जाते हैं। उनकी रचनाओं की 'श्रेष्ठता' उनके व्यक्तित्व की महानताओं को जोड़कर ही आँकी जा सकती है। अनिवार्यतः आँकी जाती है। फ़िल्म सत्यजित रे ने बनाई है। इसलिए उसे तो 'महान' होना ही है। अब इस महानता और स्टारत्व की अपनी शर्तें हैं। सत्ता और व्यवस्था की सम्मिलित स्वीकृति के बिना न कलाकार स्टार हो सकता है, न इस धरातल पर महान। सबसे पहली बलि यहाँ उसे देनी पड़ती है अपने उस 'विद्रोह' की, जो इस महानता की सीढ़ी रहा है। यहाँ उसकी जिंदगी के तर्क कला या समाज की विषमताओं से नहीं, अपने सत्ता में होने के जायजीकरण (जस्टीफिकेशन) से उपजते हैं। उसकी रचना जिरह नहीं, वक्तव्य होती है। नतीजे में भौतिक रूप से इन 'महान व्यक्तित्वों' के हटते ही जो शून्य पैदा होता है, उसका खामियाज़ा रचना को भी भुगतना पड़ता है—जो अब तक व्यक्तित्व-संदर्भ से ही संरक्षण और मूल्यांकन पा रही थी, वह अब निरीह और निष्कवच सामने है—बड़े बाप के मरने के बाद, बाप के बड़प्पन में बौने रह गए बेटे की तरह। किंवदंतियों या स्मृतियों में बाप यहाँ लगभग बेटे का शत्रु बनकर उभरता है। बेटा या तो बाप के जीवन काल में ही विद्रोही और गुस्ताख़ बनने लगता है, महात्मा गांधी के हीरालाल की तरह या मरने पर बाप के नाम से ही चिढ़ता है, प्रेमचंद के अमृत राय की तरह। वह अपना स्वतंत्र और स्वायत्त मूल्यांकन चाहता है जो प्रायः उसे नहीं मिलता। अक्सर व्यक्तित्वहीनता ही बड़े बाप के बेटे की नियति या विरासत है। स्टार और रचनाकार के बीच इस 'शत्रुता' को समझने के लिए संबंधों की इस द्वंद्वात्मकता को समझना जरूरी है। अज्ञेय और राकेश—दोनों ही इस दुर्घटना के शिकार हुए हैं। दोनों की ही रचनाएँ इस शून्य की गिरफ्त में आई हैं—या कहें, अस्थायी उदासीनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से गुज़र रही हैं। यानी साहित्य में ही नहीं, विश्वविद्यालयी शोधार्थियों के बीच 'ऐतिहासिक महत्त्व' की कसौटियों को भुगत रही हैं। ठीक इनके विपरीत हैं मुक्तिबोध—जो जीवन में न महान हुए, न स्टार, मगर निरंतर प्रासंगिक होकर साहित्य में उपस्थित रहे। आज भी हैं।

मगर स्टार या महान होना, रचनाकार को कहाँ और किन स्तरों पर तोड़ता या प्रभावित करता है, इसकी गवाही अज्ञेय से ज्यादा मोहन राकेश में है। दोनों ही अपने-आप को लेकर इतने अधिक आश्वस्त और निश्चिंत हैं कि महान बनना उन्हें अपना सहज और प्राकृतिक प्राप्य लगता है। अज्ञेय व्यवस्था से ऊपर उठकर सत्ता से दूरी और निकटता दोनों—बनाए रखते हैं। अस्वीकृतियों का या अधिक सही कहा जाए तो 'बारगेनिंग' (सौदे) का अधिकार उन्होंने अंत तक अपने पास ही रखा। राकेश ऐसा नहीं कर पाया—वह व्यवस्था को चुनौती देने की प्रक्रिया को सत्ता के साथ सौदे करने के लिए इस्तेमाल करता रहा और अंत में लगभग उसे समर्पित हो गया। सही है कि वह कमलेश्वर की तरह दयनीय और उपहासास्पद नहीं हुआ, न उसने इंदिरा जी के साठ लाख दरवाजों के सामने जुहारें की, न अंतुले से लेकर साठे के दरबारों में सज़दे किए, खुद अपनी महानता की शेख़ियों में भी राकेश नहीं पड़ा। हाँ, प्रतिरोध की भाषा जरूर कहीं पीछे छूट गई...माया-महल का हिस्सा बनने के अप्रतिरोध्य सम्मोहन और इस समर्पण की यातनादायी परिणतियों की पहचान, अज्ञेय से अलग उसके व्यक्तित्व को नया आयाम देती है। यह तकलीफ कहीं-कहीं श्रीकांत वर्मा की कविताओं में भी है।

और यही इस बात की भी कुंजी है कि क्यों उसके तीनों नाटकों के नायक अंतिम अंकों में टूटे, बिखरे, हारे हुए व्यक्ति हैं जो लंबे-लंबे एकालापों में प्रायश्चित या आत्मधिक्कार करते हैं। सत्ता, समृद्धि, यश और शक्ति की दुनिया से लौटकर वे अपना वही पुराना पा लेना चाहते हैं जिसे छोड़कर ग्लैमर की दुनिया में चले गए थे। मैं इसमें 'अंधेरे बंद कमरे' के नायक को भी शामिल कर लेना चाहता हूं। सिर्फ 'आधे-अधूरे' के महेंद्रनाथ का लौटना इन सबसे कुछ अलग है। वह 'घर' के नरक से भागकर वापस उसी नरक में लौटता है। लौट सकने के विकल्प का प्रारंभिक आभास क्रमशः नायकों के लौटने की विकल्पहीनता में समाप्त होता है। महेंद्रनाथ भीतर और बाहर से इतना विध्वस्त हो चुका है कि लौटने के सिवा उसके पास कोई चारा नहीं है। यह राकेश का अंतिम नाटक है और उस समय लिखा गया था, जब वह बाक़ायदा व्यवस्थित हो चुका था। यानी उसे 'घर' मिल चुका था।

राकेश के संदर्भ में घर की तलाश की बात बार-बार की जाती है। निश्चय ही वह तलाश वहाँ है, वरना यह भटकन, बेचैनी और भागदौड़ क्यों है ? जैसाकि मैंने कहा, यह यायावरी नहीं है, किसी खोये हुए सपने की खोज है। आश्चर्य की बात है कि यह घर क्या है, कैसा है, कहाँ है इसे जाँचने की कोशिश कभी नहीं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई। सिर्फ एक रट है कि घर हो। घर के स्वरूप की जानकारी खुद राकेश को भी नहीं थी, वरना वह इतना भटकता या तोड़ता-जोड़ता ही क्यों ? सपनों और जीवन में वह हर बार एक घर बनाता था, बहुत मन से उसे सजाता था, कुछ समय उसमें रहता भी था और फिर उसे छोड़कर भाग खड़ा होता था। उसने अपने मित्र गिरिधारी को लिखा था, कि अगर मैंने घर बनाया तो उसे भी तोड़ डालूँगा। घर बनाने की ललक और घर का डर—एक साथ ही राकेश को मथते हैं। अज्ञेय जी तो अंत में ऊँचे पेड़ पर मचान की तरह एक स्वायत्त घर बनाने की योजना पर काम कर रहे थे। वह घर उसी तरह सबसे ऊपर और अलग था, जैसे काफ़्का की कहानी 'माँद' का एक पात्र चुपचाप जमीन के नीचे अपना घर बनाकर रहने लगता है।

घर को लेकर राकेश भी उतना ही 'अनरियलिस्टिक' (हवाई) रहा। जब-जब उसने सचमुच घर बनाए, तब-तब वह उनमें रहा नहीं। शायद वे उसके सपनों के घर नहीं थे। वे बार-बार उन दूसरों से टकराते थे जिनके साथ उसे घर बनाने थे। दूसरे हों, मगर वह उसकी अपनी शर्तों पर हों—उसकी इच्छानुसार उपस्थित-अनुपस्थित रहें। मेरी जानकारी में यह शर्त सिर्फ उसकी सौम्य और शब्द-संकोची माँ ने ही पूरी की। वे उसकी ऐसी 'सुविधा' या आश्वस्ति थीं जो बेटे की खुशी में ही जीवन की सार्थकता मानती थीं। उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं था। 'आर्द्रा' ऐसी ही माँ की अद्भुत कहानी है जो भटकते, असुरक्षित और किन्हीं 'बड़े सपनों के पीछे पागल' बेटे को अपने वात्सल्य से सींचती रहती है। मगर माँ से भी ज्यादा प्रभावित राकेश अपनी दादी से था—इसे उसने कई जगह स्वीकार किया है। दादी ने बचपन में ही कूट-कूट कर राकेश के दिमाग में भर दिया था कि दूसरे बड़े चालाक, नीच और कमीने हैं। ज्यादातर औरतें चुड़ैलें होती हैं—बच्चों को जहर दे देती हैं, खा जाती हैं। दूसरों पर अविश्वास या उनकी नीयत में शक दादी ने उसे घुट्टी में ही पिला दिया था। इन दुष्टात्माओं से बचाव के लिए 'घर' ही सबसे सुरक्षित जगह है। मूलतः उसकी तलाश भूत-प्रेत, राक्षसों-चुड़ैलों से बचाकर रखे गए, सुविधा-संपन्न ऐसे ही घर की रोमानी तलाश है। इस तलाश में भटकते, घायल, टूटे हुए शहीद नायक को करुणा, समझ और सहानुभूति देने की प्रक्रिया में उसने 'आर्द्रा' के अलावा, 'एक और जिंदगी', 'अपरिचित' आदि उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी हैं, जहाँ निष्पाप और निःस्वार्थ सहानुभूति देने वाली माँ है, बच्चा है या निहायत अपरिचित सहयात्री है—घोड़े और कुत्ते हैं।

अवचेतन में दादी और माँ द्वारा दिए गए इस घर के संदर्भ में ही राकेश के दूसरों के साथ संबंधों को समझा जा सकता है। इसी तार्किक परिणति से वह सत्ता के संरक्षण और बसे हुए घर की सुरक्षा में पहुँचता है। पहुँचते अज्ञेय भी वहीं हैं, लेकिन उनकी यात्रा की प्रकृति ज़्यादा जटिल है।

अज्ञेय ने जीवन एक क्रांतिकारी के रूप में शुरू किया—चंद्रशेखर, भगत सिंह इत्यादि के साथ। लोगों की निगाहों से दूर जंगलों और खंडहरों में बैठकर विदेशी गुलामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मुक्ति की यह लड़ाई, आज के गुरिल्ला-अभियानों जैसी थी। सामाजिक संघर्ष वहाँ सीधे नहीं था, बल्कि वे लोग समाज के हीरो थे। यशपाल भी इसी पार्टी में थे, आगे चलकर यशपाल राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक गुलामी के विरुद्ध संघर्ष को व्यापक संदर्भों में समझने, उससे लड़ने की दिशा में सक्रिय होते जाते हैं—वे साम्राज्यवाद और सामंतवाद के खिलाफ कहानियाँ, उपन्यास, लेख लिखते हैं, उधर अज्ञेय, गुलामी और स्वतंत्रता के तात्विक विवेचन की ओर अग्रसर हैं। 'शेखर' इसी बहस की उपज है। उनकी चिंताएँ निजी होते हुए भी अस्तित्ववादी विमर्श का सहारा लेती हैं। यही कारण है कि नदी के द्वीप वाली 'दीप अकेला' की अवधारणा 'अपने अपने अजनबी' की ठेठ अस्तित्ववादी काल्पनिक स्थितियों तक पहुँचती है। यशपाल और अज्ञेय—दोनों के लिए छोटी जेलें, 'बड़ी जेलों' के साक्षात्कार के प्रस्थान-विंदु हैं। ठीक उसी तरह, जैसे बचपन में बाप का आतंक, काफ़्का को 'ऑथॉरिटी' के वृहत्तर और व्यापक भयावह चेहरों के सामने ले जाता है—वह राज्य, नौकरशाही और ईश्वर की सत्ता को समझने, अस्वीकार करने की वैचारिक लड़ाई में उपन्यास-कहानियाँ लिखता है।

इस दृष्टि से राकेश के यहाँ घर की तलाश बहुत इकहरी और लगभग सतही है। घर का मूल अर्थ है सुरक्षा-संरक्षण। हम ईंट-पत्थरों या दूसरी सुख-सुविधाओं के साथ-साथ विश्वासों, आस्थाओं, मूल्यों, मान्यताओं के 'घरों' में भी रहते हैं—या उनकी खोज में होते हैं। राकेश की खोज सिर्फ इस भौतिक घर तक जाती है। मूल्यों और संस्कारों के विवेचन-विश्लेषण की बेचैनी वहाँ अनुपस्थित है। सत्ता हो या परिवार—उनकी संश्लिष्ट बनावट वाले कारकों और तत्त्वों को उसने शायद ही कभी जाँचा हो। उनसे भय और ललक का रिश्ता ज़रूर बना रहा। यानी वह बेहद चौंकन्ने भाव से उनसे अपने समीकरण तय करता रहा। उसकी अधिकतर रचनाएँ इन्हीं समीकरणों के बनने-टूटने की तकलीफ से पैदा होती हैं। वहाँ सत्ता और व्यवस्था को बनाए रखने वाले मूल्यों की न कोई जाँच है, न उनके खिलाफ विद्रोह। यथास्थिति में ही अपने लिए सम्मानजनक जगह पाने की बेचैनी जरूर अनेक तरह से दिखाई देती है। बेचैनी यथास्थिति को तोड़ने की नहीं, अपने ढंग से उसे इस्तेमाल करने की है। ऑस्बार्न के 'लुक बैक इन एंगर' की तरह वह व्यवस्था को गालियाँ देने को ही विद्रोह समझता है, जबकि वस्तुतः वह मनचाहा 'घर' न मिल पाने का रूमानी गुस्सा है—जिसकी परिणति बाद में दूधनाथ और ज्ञानरंजन में है।

आम भारतीय मध्यवर्गीय की तरह राकेश का सपना एक 'फ्यूडल' (सामंती) घर है—जहाँ वही 'कर्ता' है, शेष उसकी सेवा में ही कृतार्थ होते हैं। वहाँ जीवन की सारी सुख-सुविधाएँ तो हैं, मगर दूसरों के व्यक्तित्व नहीं हैं। सेवा-समर्पण और वफादारी सामंतवाद की मूलभूत माँगें हैं—इनका पालन न करने वाला 'बागी' और दुश्मन है। जो ये सब नहीं दे पाए, वे बहुत दिनों तक राकेश के अंतरंग नहीं रहे।

अपनी पुस्तक 'सेंट जेने' में सार्त्र ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है : "ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अध्ययन करो : आदमी किनसे सबसे अधिक घृणा करता है—वे ही उसकी दबी हुई आकांक्षाएँ हैं"। मेरी जानकारी में राकेश तीन व्यक्तियों को सबसे अधिक नापसंद करता था : अज्ञेय, अश्क और धर्मवीर भारती। अज्ञेय के व्यक्तित्व का सायास अर्जित प्रभामंडल, उनकी अभिजात स्नॉबरी, मनचाही चीज़ों को कुछ इस तरह साधना कि वे खुद चलकर चरणों में आ गिरें और फिर उन्हें स्वीकार करने का कृपा भाव। सब मिलाकर अस्वीकार की अदाएँ। अश्क के पंजाबी दंद-फंद, सारी मान-मर्यादाएँ तोड़कर आगे बढ़ जाने, बीच में बने रहने की संकोचहीनता, किसी भी हद तक जाकर काम निकालने का आत्मविश्वास। भारती की सफलताएँ—यानी लोगों और स्थितियों को कुछ इस तरह 'मैनेज' करना कि वे अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सीढ़ी बनते चले जाएँ। राकेश इन तीनों के 'गुणों' को अपने ढंग से सिद्ध करना चाहता था। मुझे हमेशा लगता है कि राकेश की सबसे बड़ी गाँठ अज्ञेय ही थे और शायद इसीलिए वे उसके सबसे बड़े 'मॉडल' भी थे। (क्या यह भी संयोग ही है कि अज्ञेय, अश्क, भारती और राकेश—चारों ने अपनी पहली पत्नियों को छोड़ा—यानी ज़िंदगी के अपने पहले चुनावों को अस्वीकार किया ?)

अपनी किसी भी तरह की आलोचना राकेश को बिलकुल बर्दाश्त नहीं थी—खास तौर पर लेखन को लेकर उसके यहाँ असहमति की जगह नहीं थी। आलोचना सुनकर किस तरह उसका चेहरा लाल हो जाता था, हम सबने अनेक बार देखा है। मेरे उसके संबंधों की यह सिलवट मित्रता टूटने में समाप्त हुई। राकेश से पहले मेरा परिचय सुशीला जी से हो चुका था। वे आगरा के एक कॉलेज (दयालबाग) में पढ़ाती थीं। मेरी चचेरी बहन वहीं पढ़ती थी और छुट्टियों में राजामंडी आती थी। शीला जी की जीवंतता, सौंदर्य और पढ़ाने की वह विकट भक्त थी। कभी-कभी शीला जी भी साथ आतीं और अक्सर अपने 'लेखक पति' के बारे में बतातीं। शायद नवनीत हो चुका था। राकेश की माँ साथ ही रहती थीं। कुछ दिनों बाद राकेश से मुलाकात हुई। फक्कड़ ठहाके लगाने वाला खूबसूरत नवयुवक—लेखन की योजनाओं से भरा। फिर दक्षिण भारत की यात्रा से पहले कुछ दिनों के लिए आगरा आया था और मैं चूंकि डॉ. रामविलास शर्मा और अमृतलाल नागर के साथ डेढ़ महीने दक्षिण भारत घूम आया था इसलिए दुनिया-भर की सलाहें देने की स्थिति में था। एक दिन मिलने गया तो अचानक ही सुना कि राकेश जी वापस जालंधर चले गए। कल शाम तक तो ऐसी कोई बात नहीं थी। शीला जी रोते हुए उसके झटकेदार व्यवहारों की शिकायत कर रही थीं और मेरी सहानुभूति उनके साथ थी। पत्नी-बच्चे को छोड़कर आप भगवान बुद्ध बनने चले जाएँ—वह युग आज नहीं है—जैसा ही कुछ कहकर मैंने उसकी भर्त्सना की थी। राकेश को लिखा भी था। तभी से शायद यह गाँठ हमारे संबंधों के बीच आ गई कि मैं हमेशा उसे ही गलती पर पाता हूँ। उसने नाराज़ होकर मुझे लिखा भी कि जब मैं पति-पत्नी के बीच रिश्तों की नज़ाकत नहीं समझता तो कुछ बोलना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं चाहिए। बात सही थी। तब तक न मेरी शादी हुई थी, न मैं आपसी रिश्तों की जटिलताओं से परिचित था। बाद में राकेश को बराबर शिकायत रही कि मैं शुरू से ही उसका समर्थक नहीं रहा हूँ। पंद्रह सालों की हमारी दोस्ती विश्वासों-अविश्वासों की लंबी दास्तान है। टूटने में मुख्य भूमिका 'अक्षर' की है।

'अक्षर' प्रसंग विस्तार से शायद कभी आए। चूँकि इसके प्रायः सारे पात्र अभी भी हैं, इसलिए ज़रूरी है कि इसे अभी—चाहे संक्षेप में ही—बताया जाए। हालाँकि इसकी रूप-रेखा कमलेश्वर को जवाब देते हुए 'संडे मेल' में और ओमप्रकाश जी पर लिखे संस्मरण में है। मैं कलकत्ता से, राकेश जालंधर से और कमलेश्वर इलाहाबाद से आकर दिल्ली रहने लगे थे और तीनों प्रकाशकीय दुनिया से असंतुष्ट थे। जवाहर चौधरी ज्ञानपीठ में कुंठित हो रहा था और स्वतंत्र रूप से कुछ कर दिखाने के जोश में था। कई बैठकों में 'अक्षर' की योजना बनी—चौधरी व्यवसाय और व्यवस्था देखे और हम सब लेखकीय सहयोग दें। सारा पैसा मैंने और मन्नू ने अपने पास से या अपने परिचितों-संबंधियों से लिया। थोड़ा चौधरी का भी था। राकेश-कमलेश्वर शुद्ध सलाहकार थे। इसी आधार पर हम तीनों ही रॉयल्टियों पर रहने के सपने देख रहे थे। नौकरी सिर्फ मन्नू की थी और उसने बाद में प्रोविडेंट-फंड तक से रुपये निकालकर दिए। चूँकि राकेश, कमलेश्वर का कोई आर्थिक उलझाव नहीं था, इसलिए दोनों ने चौधरी को भावनात्मक स्तर पर घेर लिया था। संयोग से उन्हीं दिनों राजकमल से ओमप्रकाश को हटना पड़ा और वहाँ आ गईं शीला संधू। नामवर हुए सलाहकार, पहले ही निर्मल-परस्ती के कारण हम तीनों के शत्रु...हालाँकि 'नई कहानियाँ' और राजकमल सोवियत-समर्थक 'पैट्रियेट' के साथ हो चुके थे, मगर अभियान चला कि शीला जी के माध्यम से राजकमल में रूसी पैसा आ रहा है। उस समय ओमप्रकाश जी शहीद थे। चौधरी को अनेक तरह से यह बात बताई जाने लगी कि एक पैसे वाली औरत ने ओम जी की ज़िंदगी-भर की मेहनत से बनाई संस्था को हड़प लिया और उन्हें निकाल बाहर किया। उन्हें 'राधाकृष्ण' बनाना पड़ा। यानी चौधरी के खून-पसीने से बनाए गए 'अक्षर' में भी यह घटना हो सकती है। दूरियाँ बढ़ने लगीं और स्पष्ट विभाजन यह हुआ कि राकेश-कमलेश्वर चौधरी एक साथ थे। वे शायद मेरी ज़िंदगी के सबसे ज़्यादा परेशानी के दिन थे। राकेश-कमलेश्वर अपने-अपने ढंग से रह ही रहे थे, मेरी तो सारी पुस्तकें और रॉयल्टी 'अक्षर' में ही फंसी थीं और मैं ही अब वहाँ सबसे अवांछनीय व्यक्ति था। वहाँ से कुछ भी मिलने की स्थिति नहीं थी—कुछ रही भी हो तो चौधरी के हिसाब से, उसके पहले अधिकारी वे सलाहकार थे। राजेन्द्र और मन्नू नाम के दो पूंजीपति थे जिन्हें 'अक्षर' से जितनी दूर रखा जाए, उतना अच्छा है। किताबें, संपर्क और अन्य साधन देने के बाद उनके वहाँ होने की प्रासंगिकता भी क्या थी। इसका अर्थ होता था—शीला जी की तरह ओमप्रकाश को निकाल देना। उन दिनों राकेश ने अपना कहानी-संग्रह 'फौलाद का आकाश' इस विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र के साथ चौधरी को दिया था कि यह 'अक्षर' को (यानी राजेन्द्र को) नहीं, दोस्त चौधरी को दिया जा रहा है। इस आपसी तनाव को सुलझाने के लिए विष्णु प्रभाकर और नेमिचंद्र जैन को विश्वास में लेकर दर्जनों अंतरंग मीटिंगें हुईं—क्योंकि मेरे और चौधरी के लिए दोनों तटस्थ और आदरणीय थे। आज भी वे इस प्रसंग के सबसे अधिक जानकार हैं। उधर राकेश ने ओमप्रकाश जी और शीला संधू दोनों को साथ लिया था। रूसी पैसे का मुद्दा सहसा गायब हो गया। अलग होने के बाद चौधरी ने जब 'शब्दकार' बनाया तो अपने दोस्त चौधरी को राकेश ने कोई किताब नहीं दी। वह हम सबसे ज्यादा व्यवहारकुशल व्यक्ति था। सुलझा हुआ और साफ। कहाँ कितने भावनात्मक छौंक की जरूरत है, उससे ज़्यादा यह बात शायद ही कोई जानता हो।

यही वह पृष्ठभूमि थी जो मेरे और राकेश के बीच तनाव बढ़ाती चली गई—परिणति हुई 'मेरी श्रेष्ठ कहानियाँ' की भूमिका को लेकर संवाद समाप्त होने में। राकेश को लगा कि वहाँ उसकी अपेक्षित महानता को कम करके देखा गया है। वह उसे बदलवाना चाहता था। उससे पहले 'एक दुनिया समानान्तर' और मन्नू द्वारा संपादित 'नई कहानियाँ' के विशेषांक के कवर पर सबसे ऊपर नाम दिए जाने के नाटक हो चुके थे। और भी पहले कुछ उर्दू लेखकों के नाम कवर पर देने को लेकर उसने इतना हंगामा किया कि ओमप्रकाश जी को कवर दुबारा छपाना पड़ा। मन्नू से संबंध राकेश के अंत तक बने रहे। कमलेश्वर तो लगभग उसका 'एरैंड बॉय' (स्वयंसेवक) यानी सबसे 'अच्छा मित्र' रहा। 'नई कहानियाँ' के सौजन्य संपादक के हर आदेश को कुढ़-कुढ़कर स्वीकार करता, उसका सामान या अनिता को यहाँ से वहाँ पहुँचाता, ठहरे हुए चाकू के आतंक को झेलता। तनाव के उन्हीं दिनों में राकेश ने मुझ पर बहुत प्यारा 'मेरा हमदम' लिखा। इस सारी खींचतान के बावजूद हम तीनों ही कहीं बहुत इमोशनल भी थे। इस मामले में मेरे लिए कलकत्ता में मनमोहन ठाकौर-परिवार और राकेश को दिल्ली में चमन-रेखा रेवड़ी, बंबई में राज-उज्वला बेदी के परिवार ऐसे लंगर थे, जहाँ सारे तूफ़ानों के बाद हमें शरण मिलती थी। मेरी जानकारी में कमलेश्वर को अपने संघर्ष के दिनों में ऐसा कोई परिवार नहीं मिला—यों दोस्त और आत्मीय तो थे ही। अगर महत्त्वाकांक्षाएँ और प्रतिस्पर्द्धाएँ बीच में न आएँ तो सचमुच राकेश बहुत खूबसूरत दोस्त था। दूसरों की बातों, जटिलताओं और समस्याओं की साफ समझ, उन्हें हल करने की सबसे अच्छी सलाह राकेश जैसी शायद ही किसी के पास हो। बेहद जीवंत और आत्मीय कंपनी। मगर ठीक उन्हीं समस्याओं में खुद इतनी गुत्थियाँ पैदा कर लेता था कि भागते ही बनता था—जैसे बच्चा घड़ी के सारे पुर्जे खोल डाले और फिर वापस न लगा पाने की झुँझलाहट में भाग खड़ा हो।

मन तो है कि कभी राकेश पर विस्तार से लिखूँ—टुकड़े-टुकड़े में जो लिखा है, उसे तरतीब दूँ। पहले सोचता था कि उसे लेकर मेरे ये 'आब्ज़र्वेशन' (निरीक्षण-नतीजे) शायद मेरी ही कुंठा हों, मगर इधर उसकी डायरियाँ, पत्र इत्यादि पढ़ते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे अपने-आप को संशोधित करने की ज़रूरत नहीं लगती—वहाँ वह निरंतर अकेला ही होता गया है। कमलेश्वर और अनिता उसे लगातार श्रद्धेय बनाकर जिस तरह सपाटीकृत कर रहे हैं, वह उस जीवंत, जटिल और संश्लिष्ट व्यक्तित्व के प्रति नैतिक अपराध है। संपादक की सारी सावधानी के बावजूद उसकी डायरी में बंबई में लिखी (कमलेश्वर के लिए) कुछ पंक्तियाँ ध्यान देने लायक हैं। "...इस बार की कुल प्रतिक्रिया है वितृष्णा। एक-एक बात को लेकर उसकी बढ़ती तोंद और चकले चेहरे की बेहूदा हँसी, झूठे संवेदों की गहरी 'कोटिंग' के पीछे से झाँकता फ़रेब और ओछापन। एक तरफ क-(अर्थात् भारती) का सैटेलाइट, दूसरी तरफ उस पर छुरी चलाने में लगा हुआ। उसके माथे पर लिखा लगता है : मेरे लिए किसी चीज की कोई कीमत नहीं है, सिवाय अपने स्वार्थ के..." मेरे जैसे दूर से देखनेवाले के लिए बंबई-प्रसंग इसलिए भी मनोरंजक है कि वह भारती की बिसात थी और वहाँ उसने दोनों को पटखनी दी थी। भारती चाहें तो उन दिनों को लिख सकते हैं—कमलेश्वर तो अपनी दिगंत-व्यापी सफलताओं की फ़ेहरिस्त ही देगा।

लेखक की डायरियाँ और पत्र हों (सब मिलकर सात-आठ सौ पन्ने) और उनमें कहीं न समकालीन लेखन की समस्या हो, न किसी देशी-विदेशी किताब का ज़िक्र आए—यह बहुतों को आश्चर्य का विषय लग सकता है। मगर राकेश के संदर्भ में मुझे कोई ताज्जुब नहीं होता। शायद अपने-आप और अपनी महत्त्वाकांक्षाओं से उसे इधर-उधर देखने की न फुर्सत थी, न भीतर झाँकने की। जहाँ यह है भी वहाँ विश्लेषण नहीं, आत्म-धिक्कार हैं। जैसा कि मैंने कहा, उसके सारे लेखन में न कहीं विद्रोह है, न विरोध—न कहीं नैतिक आक्रोश है, न मूल्यों को परखने-मुठभेड़ करने की तड़प। सब मिलाकर बेचैन कर देने या झकझोरने वाला ऐसा कुछ नहीं है जो अश्लील, आपत्तिजनक, द्रोहात्मक हो। हाँ, व्यवस्था की जकड़न में घुटते हुए आदमी की झुँझलाहट की बेहद संवेदना और अंतर्दृष्टि से उतारी गई तस्वीरें जरूर हैं—कलात्मक और संतुलित। उसकी कहानियाँ मुझे हमेशा सामरसैट मॉम की याद दिलाती हैं। हैमिंग्वे की बेचैन आत्मा वहाँ नहीं है। राकेश की मुख्य समस्या है स्त्री के संदर्भ में अनसमझे आदमी की व्यथा। बदली हुई स्त्री से टकराहट। फिर शहीदी मुद्रा में पलायन और व्यक्तित्वविहीन समर्पित स्त्री की शरण।

बहरहाल, राकेश की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि 'आषाढ़ का एक दिन' के बहाने उसने स्वतंत्रता के तत्काल बाद की मध्यवर्गीय पीढ़ी की यातनाओं, विफलताओं, रूमानी विद्रोहों और फिर व्यवस्था का हिस्सा बन जाने वाले रचनाकारों का ईमानदार रूपक (मैटाफ़र) लिखा है। हम सबके साथ यही दुर्घटना तो घटी है जो कालिदास के साथ घटी—सभी तो अपनी जमीनें छोड़कर ग्लैमर और सफलताओं की ऐसी दुनिया में चले गए, जहाँ हर छोटे-बड़े सम्राट का दरबारी बन जाना ही एकमात्र विकल्प था—वास्तविक लेखन को स्थगित करते रहे और मन को समझाते रहे कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, हम अभी भी वहीं हैं, वहीं के हैं और जिस दिन चाहेंगे, इस सबको लात मारकर 'वापस' चले जाएँगे। शायद भीतर से जानते भी हैं कि वहाँ ऐसा कुछ नहीं बचा है जहाँ लौटकर जा सकें। किसने कहा था कि आज का नायक 'हैमलेट' और 'डॉन क्विकज़ोट' की संकर नियति लेकर पैदा हुआ है, लेकिन उसे भी हमने ईमानदारी से कहाँ पकड़ा ?

'हंस', दिसंबर 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल ढूँढता है फिर वही फुर्सत के रात-दिन...

पेड़-पौधों से घिरा छोटा-सा गेस्टहाउस था। रविशों, महराबों और क्यारियों को देखकर लगता था कि अच्छा-खासा बगीचा भी रहा होगा। पिछले बीस-पच्चीस दिनों से लगातार बारिश हो रही थी—कभी कम, कभी ज्यादा। हरियाली टूटकर झमक आई थी। सोचकर मन उमग आया, दिल्ली में तो प्रकृति के सान्निध्य में रहने का मौका नहीं मिलता। यहाँ दो-तीन दिन इस सुख को रग-रग में भरूँगा। फार्म हाउसों में रहने वालों के भाग्य पर ईर्ष्या हुई। विद्यानिवास मिश्र याद आए, जिनके भीतर यही सब हरियाता और लहलहाता रहता है। बरामदे से अंदर गए तो किसी पुराने डाक-बंगले की याद हो आई। सौ-पचास साल पहले बना होगा। वातावरण में सीलन और इतिहास की गंध थी। बाहर कोयल, टिटहरी और मोर कभी-कभी बारिश की झमझमाहट में अपनी भी हाज़िरी लगा रहे थे। टु हेल विद दिल्ली, भीतर से दस-बारह साल का बच्चा किलकारियाँ मारता बाहर कूद आया था और बारिश में भीग रहा था। महानगरों का नाश हो। किसी धुंध में तड़कती धरती से कवि के अंकुराने की आशंका जागी, शायद किसी भूली-बिसरी फिल्म का चित्र। अपने-आपको धिक्कारा—साली साक्षात् प्रकृति की भी प्रामाणिकता फिल्मी नदी-पहाड़ों से ही मिलेगी क्या ? पेड़ के नीचे बैठे ऋषि ने आँखें खोलीं—नारकीय प्राणी, वहाँ कहाँ कंक्रीट-पत्थरों के कब्रिस्तानों में ऐसी-तैसी करा रहा है—लौट, अपने मूल उत्स और उत्सव की ओर। इस बागे-अदन का पत्ता-पत्ता और बूटा-बूटा हाल सुनाने को बेचैन है। कोयल, बुलबुल और भौंरे—सब तुझे वापस पाकर उल्लास से पागल हैं। यह प्रत्यावर्तन (वापसी) है या रिक्लेमेशन (पुनर्पकड़) ?

कार्यक्रम के लिए निकलते वक्त दरबान या केयर-टेकर से कह दिया था कि बाथरूम (भारतीय शैली) में बल्ब नहीं है, लगवा दें। लौटते हुए ग्यारह बज गए। साथ वाले छोड़कर विदा हो गए, दरबान ने गेट और बरामदे का दरवाज़ा खोल दिया। अंदर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारी बत्तियाँ जल रही थीं। 'अपना' कमरा खोला तो कछुआ-छाप अगरबत्ती का ज़हरीला-सा धुँआ भरा था—खिड़की, दरवाजे खोलता हूँ तो मच्छर भरेंगे, बंद रखता हूँ तो घुटन होगी। पूरी स्पीड से पँखा चलाया और निश्चिंतता से बाथरूम का दरवाज़ा धकेला। बल्ब लगा दिया गया था और रोशनी थी—मगर ऐंऽऽ, यह सामने क्या है ? दीवार के सहारे छः-सात फीट का भुजंग काला साँप ! हाँ, वही है। आज तो कुछ 'लिया' भी नहीं है, इसलिए भ्रम होने की भी गुंजाइश नहीं है। अब दरवाज़े पर मैं था और दस हाथ की दूरी पर साँप—आस-पास सिर्फ़ सन्नाटा, दरबान भी चला गया था। झपटेगा ? सिर उठाकर जीभ को लपलपा रहा है...खटखटाऊँ तो हमला करेगा या चला जाएगा ? भयानक का भी अपना सम्मोहन होता है। कुछ देर बँधा रहा। बरसाती मौसम में दरवाजे की लकड़ी फूल आई थी, फर्श में रगड़ता हुआ दरवाजा बंद किया तो संतोष हुआ कि बाहर नहीं आ पाएगा। बाहर जाकर दरबान को जगाया। पुलिस का रिटायर्ड जवान था। साथ आया और बाथरूम का दरवाज़ा खोलकर कुछ देर देखता रहा, फिर दुबारा बंद करके बाहर से चटखनी लगा दी। मुग्ध-भाव से हाथ ऊपर करके कहा, "साहब, देवता हैं। जब जहाँ मन होगा आएँगे...राजा को कौन टोक सकता है।" मुझे हँसी आ गई, "यार, देवता तो ठीक है, मगर मुझे भी तो कोई जरूरत हो सकती है।" खैर, उसने दूसरा बाथरूम बता दिया—इमारत के सिरे पर। झिझकते हुए मैंने देख लिया कि वहाँ भी तो कहीं राजा साहब टहलने न निकल आए हों...सोते समय सारे गेस्ट हाउस में अकेला मैं था, एक दरवाज़े के पार देवता थे, कछुआ-छाप जहरीला धुआँ था और बाहर बारिश थी। धीरे-धीरे नींद में डूबते हुए मैं अपने को लताड़ रहा था। असंवेदनशीलता की हद है कि भय और भूत का ऐसा सुहाना आदर्श माहौल है और आप साले सो भी रहे हैं—ख़ैरियत यही हुई कि देवता सरककर सपने में नहीं आए।

हम सभी के भीतर आदि कवि और कवि-कुल-गुरु दोनों ही बैठे हैं जो कभी हिरनों, मोरों या दूसरे पशु-पक्षियों से विश्वात्मा के स्तर पर एकाकार होते हैं तो कभी रामगिरि शिखर पर बैठकर फैली हरियाली घाटियों और गड़गड़ाते बादलों की गूँजों-अनुगूँजों में देश-देशांतरों को पार करते अपनी-अपनी उज्जयिनी तक तैर जाते हैं। इकहरे एकांत सुख में कैसे कमलों की तरह तरंगायमान लोग थे, और कैसे सात्विक थे उनके भावोच्छ्वास कि नभ में घन-घमंड को ग़रजते देखकर प्रियाहीन मन डरपने लगता था, "सखि मैं तो बादर देख डरी" या और कुछ नहीं तो "आए कुछ अब्र आए—कुछ शबाब आए..." इस क्षितिज से उस क्षितिज तक खिंचा इंद्रधनुष कैसी-कैसी कविता नहीं 'फुहरित' करता था उनके मनों में...काठ ही रहा होगा जो पल-पल परिवर्तित प्रकृतिवेश को देखकर सहज ही कवि नहीं हो जाता हो। मुझे अभी भी याद है, भयानक गर्मियों के बाद सावन की फुहारों में बगीचियों में सैर, अम्बवा की डार पर झूले और तीजें, यमुना में आई बाढ़ को देखने ठठ की ठठ ख़लकत, तैराकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतियोगिताएँ–पतंग, प्रतिस्पर्धाएँ, लट्टू-चकरी, दाल-बाटियाँ और ताँगों की दौड़...कहाँ गए वे दिन, शेइ शर्मॉय...

इस उदातित्त भावस्थिति में यह सात फीट लंबा, मोटा काला साँप, लाल-लाल जीभें लपलपाता...सुनहरी आँखों से सम्मोहन फेंकता...भन-भन करते मच्छरों से बचाव के लिए कछुआ-छाप का धुआँ...कीचड़ की फच-फच, सीलन की बासी फफूँदी गंध...गिजाइयाँ और कांतरें...बिच्छू और लाल चींटे...सचमुच मेरा दिमाग़ बहुत विकृत हो गया है क्या, प्रकृति के स्वर्गिक काव्य-सौंदर्य की विराटता के बीच, आदम-हव्वा के मन में विद्रोह, अवज्ञा और कुत्सा पैदा करने वाला आदिम साँप...बाहरी प्रकृति से पलायन को प्रेरित करता, अपनी ही प्रकृति से सीधे साक्षात्कार कराने वाला दुष्टात्मा, नारकीय शैतान...

आज से लगभग पैंसठ साल पहले 'चित्रलेखा' की यशोधरा ने उच्छ्वसित होकर कहा था, "आर्य बीजगुप्त, प्रकृति के इस सुंदर रूप को तो देखो। यहाँ कितना उल्लास है, कितनी शांति है, और कितना सौंदर्य है। सारे जगत की चिंता, उसकी तृष्णा और अभिशाप से भरी हलचल से दूर, अति दूर यहाँ पर निष्कलंक जीवन तितलियों के रंगीन परों के साथ अठखेलियाँ कर रहा है..." बीजगुप्त का उत्तर है, "देवि यशोधरा, मुझे प्रकृति में कोई सुंदरता नहीं दिखलाई देती...मुझे प्रकृति कुरूप दिखलाई देती है ...तुम कहती हो कि दूर्वादल कोमल है, सुंदर है, केवल इसलिए कि तुमने खुले में जीवन नहीं व्यतीत किया। इस दूर्वादल में कितने कीड़े-मकोड़े हैं, इस पर भी कभी ध्यान दिया है ? और दूर्वादल में नमी है, यदि तुम इस पर अधिक देर तक विश्राम करो तो निश्चय ही शीत हो जाएगा...जाड़े के दिनों में प्रकृति के इन सुंदर स्थानों की कुरूपता देखो, जहाँ कोहरा छाया रहता है, जब इतनी शीतल वायु चलती है कि शरीर काँपने लगता है। गरमी के दिनों में दोपहर के समय इतनी कड़ी लू चलती है कि शरीर झुलस जाता है..." आगे यशोधरा कहती है कि "ये कपोत कितने सुखी हैं। आपस में किस प्रकार ये खेल रहे हैं। इनमें ईर्ष्या, घृणा, दुष्टता तथा अन्य अवगुण जो मनुष्य में पाए जाते हैं, नहीं हैं। जी चाहता है कि मेरे भी पँख होते और मैं कपोती होती..." इस पर बीजगुप्त कहता है कि–"मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यदि तुम कपोती होती तो मनुष्य बनना चाहतीं। तुम समझती हो ये कपोत सुखी हैं, निश्चिंत हैं, इनके शत्रु नहीं हैं–यह तुम्हारा भ्रम है...पशु और पक्षी भोजन के लिए किस बुरी तरह झगड़ते हैं...पृथ्वी के कीड़े-मकोड़ों को खाकर पक्षी जीवित रहते हैं–पशु तो एक-दूसरे को खा जाते हैं। इन कपोतों के शत्रु, बाज़ जब इन पर झपटते हैं, तब इनकी दशा देखो। इन्हें कितनी चिंता रहती है ? ये कितने विवश हैं...तुम राज-प्रासाद में पली हो। तुम इस प्रकृति के निकटस्थ झोंपड़ियों में सुख देखती हो, तुम ग्रामों की खुली हवा में पशुओं के साथ प्रकृति से क्रीड़ा करने की सुखद कल्पना में वशीभूत हो जाती हो, ठीक है, स्वाभाविक है, पर ज़रा इन ग्रामवासियों से तो पूछो–ये लोग यही कहेंगे कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सुख है, वह महलों में है, दास-दासियों से घिरे रहने में है...यदि प्रकृति देखना चाहती हो तो जंगलों में जाओ, जहाँ सिंह अपनी खून की प्यासी जीभ को लिये हुए फिरा करते हैं—जहाँ बड़ी-बड़ी घास में विषधर सर्प अकारण ही लोगों को काटकर मृत्यु के घाट उतारने को प्रस्तुत रहते हैं। इस कृत्रिम नहर को छोड़ो और नदियों को देखो, वहाँ मगर और घड़ियाल मनुष्य का भोजन करने के लिए जल में छिपे हुए ताक लगाए बैठे रहते हैं...तब तुम देखोगी कि सुख और सौंदर्य प्रकृति में है या कृत्रिमता में है..." और अंत में बीजगुप्त कहता है, "देवि यशोधरा, संसार की पाठशाला में, अनुभव की शिक्षा-प्रणाली में परिस्थितियों ने मुझे सब पढ़ाया है..."

प्रकृति के इस बाहरी सौंदर्य और वहाँ दैवी प्रकाश की झाँकी छायावाद का मूल स्वर है, उसी के प्रति विद्रोह से आया होगा भगवतीचरण वर्मा का यह आक्रोश ..."अहा, ग्राम जीवन भी क्या है..." के पीछे भी 'बैक टु द नेचर' (प्रकृति में वापसी) की ही प्रेरणा पा रही होगी, जहाँ हैं, वहाँ से दूर, हलचल शोर-शराबे के पार, प्रकृति के भौगोलिक एकांतों या इतिहास के स्वर्णिम प्रासादों के ये अभिनंदन निश्चय की महानता और स्वर्गीय तलाश की स्वप्नाकांक्षा (विशफुल थिंकिंग) से आए थे। प्रकृति और अतीत तभी तक सुंदर, शांतिदायक और मधुर हैं, जब तक हम दूर बैठे-बैठे उनके मिथ बनाते रहते हैं, सैलानियों, टूरिस्टों और दर्शकों की तरह उन्हें निहारते और मुग्ध होते हैं, जैसे ही वे हमारे जीवन का हिस्सा बनने लगते हैं, हम अपने सारे सपनों के साथ भाग खड़े होते हैं। हमें बिजली, फ्रिज, हीटर, बाथरूम, वाहन, फोन सभी तो चाहिए। इसलिए भूगोल हो या इतिहास—हम पिकनिक मनाकर वापस अपने-अपने डाक बंगलों में सुरक्षित आ जाने तक ही उन्हें बर्दाश्त कर पाएँगे—बहुत मन हुआ तो घर-छतों, ड्राइंगरूमों में थोड़ा-बहुत इतिहास या प्रकृति चलेगी—बोन्साई, एक्वेरियम या टूटी-साबूत नकली मूर्तियों और पैनलों के रूप में...इससे अधिक तौबा ...गालिब ने क्या बहुत उल्लास और आनंद से गद्‌गद् होकर कहा था—"दश्त को देखके घर याद आया है ?" जी नहीं, यह उसी आदमी की कराह है जिसके घर में जंगल उग आया था। 'जंगल' के व्यक्तिगत और पारिवारिक सांकेतिक अर्थों को छोड़ दें, तो भी हम शहरी, भौतिक सभ्यता की अपनी अनिवार्य निर्भरता को हर क्षण गाली देते रहने वाले 'ऊबे हुए सुखी' लोगों के लिए प्रकृति और प्राकृतिक सौंदर्य का जो अर्थ है वह चूती हुई छतों, रास्तों में भरे पानी, उफनती बीमारियों, बाढ़ में बहते हुए गाँवों, नष्ट होती खेती और रोज़ी, ठंड में ठिठुरते हुए 'प्रकृति-पुत्रों' के लिए बिलकुल नहीं है...सुरक्षित वर्तमान में सुदूर प्रकृति और इतिहासों की सैर बड़ी उदात्त, रिफ्रेशिंग (स्फूर्तिदायक) और सांस्कृतिक लगती है..." बैठे रहें तसव्वुरे जाना किए हुए...

सवाल उठाया था खंडवा में नर्मदेश्वर उपाध्याय ने, "हिंदी में ललित-निबंध क्यों समाप्त हो गए हैं ?" वे स्वयं ललित निबंधकार हैं, इसलिए जिज्ञासा बहुत स्वाभाविक है कि साहित्य में कुछ विधाएँ क्यों समाप्त हो जाती हैं ? उनके पीछे सिर्फ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैशन की तरह आने और गुज़र जाने वाली मानसिकता होती है या कुछ सामाजिक कारण भी होते हैं ? सुनते हैं, त्रिलोचन, शमशेर और प्रभाकर माचवे ने लाख से ऊपर सॉनेट लिखे, आज हमें उनमें से एक भी याद नहीं आता, आलोचक तक उद्धृत नहीं करते...अज्ञेय, माचवे और भारत भूषण अग्रवाल ने हाइकू चलाए और लिमरिक लिखे। कहाँ गए ? रांगेय राघव और भगवत शरण उपाध्याय ने कैसे झकझोर देने वाले रिपोर्ताज दिए थे—बंगाल के अकाल पर 'तूफानों के बीच' या 'इतिहास के पन्नों पर खून के धब्बे'...'चूँकि हिंदी में यह नहीं है, इसलिए मैं यह लिख रहा हूँ।' की अहंकारी विनम्रता से प्रेरित बाहर से लाकर रोपे गए ये पौधे हिंदी में जड़ क्यों नहीं पकड़ पाए ? अगर ये विदेशी थे, तो कवित्त-सवैये और छंद ही कुछ आधुनिक हो जाते...ये तो हमारे अपने ही संस्कारों में थे ! क्यों जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ब्रजभाषा में और 'हितैषी' खड़ी बोली कवित्त-सवैयों के अंतिम शिखर-पुरुष होकर रह गए ? सैकड़ों सालों की परंपरा को आत्मसात करने वाले हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त की सारी काव्य-संपदा क्यों ऐतिहासिक स्मृति भी नहीं रह गई ? "हाय, कितने अच्छे काव्य रूप थे, अब कहाँ चले गए ?" की मर्सियाख़्वानी के सिवा मुझे ध्यान नहीं है कि किसी ने इस सवाल से मुठभेड़ की हो; विधाएँ मौसमी वनस्पतियों की तरह क्यों मुरझा जाती हैं ? वे अपने आप ही जीती और मरती हैं या उनके पीछे के बदले हुए समाज-सत्य उन्हें अप्रासंगिक बना देते हैं ?"

ललित निबंधों को ही लें—बाबू गुलाब राय, विवेकी राय, कुबेरनाथ राय, हजारी प्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र ने एक से एक उत्कृष्ट, रसभीने ललित-निबंध लिखे—मिश्र जी तो आज भी ब्रजभाषी कवि की संकल्पना के साथ 'नवभारत टाइम्स' में हफ्तावारी लंगर-भाव से ललित-निबंध परोसते चले जा रहे हैं...शायद कुछ संस्कृति-भोजी उन्हें पढ़ते भी होंगे। मगर सब मिलाकर यह विधा तो मरा हुआ बंदरिया का बच्चा ही है, जिसे न 'बकलमखुद' नामवर जीवन दे पाए—न 'कुट्टिचातन' अज्ञेय ...फ्रेंच या अंग्रेजी में 'बैले लेत्र' की आज क्या स्थिति है, मुझे नहीं पता, मगर लगता है, हिंदी में ललित-निबंध की मूल चेतना 'नास्टेल्जिया' है—छूटे हुए को हाय-हाय भाव से याद करना। चूँकि यहाँ रचनाकार अतीत में स्थित होता है, इसलिए वर्तमान को भी उसी रूमानी या लगभग तुलनात्मक धिक्कार भाव से देखता है ! रहस्यमय विराट से व्यक्तिगत संवाद में रहने वाला चिरविरह-दग्ध, गद्य-गीतकार, जब कुछ नीचे उतरता है तो सांस्कृतिक और साहित्यिक आभिजात्य में जा अटकता है। वह जीवन की सचाइयाँ नहीं, सुदूर अतीत के उदात्त बिंबों की सूचियाँ देता है। ऐतिहासिक और भौगोलिक सुदूर सामंती ध्वंसावशेषों से लौटकर आया हुआ सैलानी, आँखें बंद करके मुग्धावस्था में बेहद 'ललित' लगता है...संस्कृति, प्रकृति और ग्राम्य-जीवन के सुहाने सपने ही उसकी बंद आँखों में तैरते रहते हैं। जंगल के बीच पुराने डाकबंगले की आराम-कुर्सियों पर, सैर से लौटे-थके लेटे कुलीनों की स्मृतियाँ सचमुच बहुत मधुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती हैं ! यह सिर्फ़ संयोग ही नहीं है कि प्रायः ललित-लेखन मानसिक और भौतिक रूप से सुरक्षित, स्थापित आत्माओं की कलम से ही आया है। शायद उनका तर्क भी यही है कि सारा 'उत्कृष्ट साहित्य' वहीं से हुआ है। मगर जब मजबूरी में आँखें खोलनी पड़ती हैं या ज़्यादा सही कहें तो आँखें खुलती हैं तो यही ललित, ज्वलित होने लगता है—इस तुरीयावस्था से खींचकर लाने वाले कारकों को यह विशुद्धात्मा बर्दाश्त नहीं कर पाती और वर्तमान से मुठभेड़ के नाम पर उसे सिर्फ़ गालियाँ देती है—खाये-पीए बूढ़े की तरह...

मुझे लगता है कि माखनलाल चतुर्वेदी की प्रतिक्रिया में ही हरिशंकर परसाई का जन्म होता है। नहीं, ललित निबंध की विधा मरी नहीं है, वह गद्य गीतों से होती हुई शरद जोशी, ज्ञान चतुर्वेदी, रवीन्द्रनाथ त्यागी जैसे लोगों के हाथों सुरक्षित है...साल दो साल के निरीह, निर्दोष और निष्पाप बच्चे को साढ़े छः फीट के दबंग, आक्रामक कर्मठ युवक में बदलते देखना बहुत शॉकिंग है न ? खुद उसे 'डिवाइन इन्नोसेन्स ऑफ ए चाइल्ड' (शिशु-सुलभ दैवी सरलता) के सेहरे चिढ़ पैदा करते हैं—कमबख्त ये बूढ़े क्या कभी अपने उन खोलों से बाहर ही नहीं आएँगे ? ये क्या आज भी उन्हीं प्रासादों, प्रांगणों और अंतःपुरों में अशोक के फूल ही चुनते रहेंगे ?

'हंस', सितंबर 1994

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छाया-युद्ध : प्रतिबिंब या अनुबिंब

वही पुराना आरोप था भाभी जी का, "राजेन्द्र, तुमने हमारे साथ न्याय नहीं किया, न 'सारा आकाश' उपन्यास में, न 'सारा आकाश' मूवी में। अपने दोस्त का पक्ष लिया है तुमने, उन लोगन के साथ मिलकर। इन्होंने हमारे ऊपर जो-जो अत्याचार किए—वो सब कहाँ हैं ? अब हम अपनी तरफ से सारी बातें लिख रहे हैं, इसकी मूवी बनवाओ। कहो तो हम बंबई जाकर बासु चटर्जी से मिल लें। तुम्हारे और तुम्हारे दोस्त के झूठ का तो पता चले।" मैंने उन्हें फिर समझाया, "पर भाभी जी, आज आप परम श्रद्धेय माता जी हो। पता नहीं, फिल्म में क्या बात कैसी बता दी जाए कि आपको या औरां को बुरी लगे..." उन्होंने बात काट दी, "सो हमें चिंता नहीं है, पर सच्चाई तो सामने आवे। ऐसी क्या बात दिखा दोगे जो हमें बुरी लगेगी, बताओ ?" मैंने उनकी परम गंभीरता में सूई चुभोई, "पिक्चर में तो सभी बातें दिखानी पड़ेंगी न, अब जैसे यही कि तब भी आप काफी सुंदर थीं। हम लोग जाते थे तो मन में यह बात भी तो रही ही होगी..." पूर्व स्मृतियों में चेहरे पर हल्की-सी लजीली मुस्कान उभरी, "तुम तो सदा के हरामी हो..." मगर मैं जानता हूँ, सारे हँसी-मजाक के बावजूद वे काफी गंभीर हैं और 30 साल से जब भी अमेरिका से आती हैं, हमेशा यही शिकायत करती हैं कि मैंने उनके साथ न्याय नहीं किया है...

यही शिकायत फूलन देवी को भी है कि शेखर कपूर ने अपनी फिल्म 'बैंडिट क्वीन' में उसके साथ न्याय नहीं किया है। उधर शेखर का कहना है कि उन्होंने फिल्म माला सेन की किताब पर बनाई है जो संयोग से फूलन की ही जीवनी है। मैंने न फिल्म देखी है और न जीवनी। मगर मेरे सामने वही पुराना सवाल है। प्रामाणिक पुस्तक में जीवन को, प्रस्तुत करने वाली फिल्म/नाट्य कृति को कितनी छूट मिलनी चाहिए ? और भी आगे जाकर कहें तो कला अनुकृति है या प्रतिकृति ? रचनाकार वास्तविकता को एक वैज्ञानिक की तटस्थता से ज्यों का त्यों रख देता है, या इस यथार्थ को देखने, रखने और सुनने की उसकी अपनी भी कोई दृष्टि होती है ? क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस विवेक का नाम ही कला है, जहाँ हम वास्तविकता में कुछ छोड़ देते हैं और कुछ ले लेते हैं ? जो लेते हैं और उसे जिस पहलू से रखते हैं, फिर इससे जो कुछ दूसरों तक पहुँचाना चाहते हैं, यह प्रयोजन क्या उस वास्तविकता को पुनः परिभाषित नहीं कर देता ? इस सबसे हटकर जब हम अपना ही यथार्थ गढ़ते हैं तो वास्तविकता का कौन-सा रूप प्रस्तुत करते हैं ?

इन सारे सवालों से मैंने बहुत पहले 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी और फिल्म की तुलना करते हुए टकराने की कोशिश की थी। उन दिनों हम सब हिंदीभाषियों में भयानक असंतोष था कि सत्यजित राय ने प्रेमचंद की कहानी का नाश कर दिया है और फिल्म में वह सब दिखाया गया है जो कहानी में है ही नहीं। यही नहीं, उन्होंने कहानी के चरित्रों और स्थितियों, विशेषकर अंत को ही मनमाने ढंग से बदल डाला है। मूल सवाल यही है कि सत्यजित राय की इन छूटों और बदलाव के पीछे उद्देश्य क्या है ? अगर उद्देश्य व्यावसायिक या ऐसा ही बाहरी है तो हम उनकी फिल्म को एक सिरे से अस्वीकार कर सकते हैं, मगर सवाल अगर समझ का है तो हमें इस सवाल को दूसरे कोण से देखना होगा।

बात सिर्फ़ इतनी ही थी कि भारतीय इतिहास के जिस पतनशील समाज को प्रेमचंद ने अपनी तरह देखा, उसे ही सत्यजित राय ने भी अपनी तरह समझा है, तो फिर उन्हें इस कहानी को लेने की ज़रूरत क्या थी ? वे अपनी ही कोई कहानी ले सकते थे। और अगर उन्होंने इसी कहानी को चुना है तो उनसे कुछ अपेक्षाएँ जरूर की जानी चाहिए। इतनी माँग तो है ही कि वे कहानी के विकास, चरित्रों, उनके आपसी संबंधों, स्थितियों और अंत को तो वही रख सकते थे—इस प्रकार उनकी पहली ईमानदारी प्रेमचंद की कहानी के प्रति होती। शायद दुनिया के हर कथाकार को यह घनघोर शिकायत रही है कि फिल्मकारों और नाटककारों ने उनके साथ न्याय नहीं किया है, इसलिए उन्हें उनकी रचना के नाम का इस्तेमाल करने का कोई हक नहीं है। मुकदमे भी चले हैं और अख़बारबाज़ियाँ भी हुई हैं। मैं लेखक के अधिकार को छोटा नहीं कर रहा, मगर यह सवाल ज़रूर पूछना चाहता हूँ कि निरपवाद रूप से ऐसा होता क्यों है ? बात क्या सिर्फ़ इतनी ही है कि फ़िल्म/नाटक में पैसा ज़्यादा लगा होता है, इसलिए व्यावसायिक दबाव कहानी को बदलने/तोड़ने या मनमानी करने को मजबूर करते हैं और 'चित्रलेखा' जैसी गंभीर, गरिमामयी रचना केदार शर्मा के हाथों भड़ैती बनकर रह जाती है। मगर बाज़ार का दबाव तो लेखक पर भी हो सकता है : दर्जनों बंगला-लेखकों की तरह प्रेमचंद ने भी धारावाहिक को लंबा करते जाने के लिए 'रंगभूमि' को कितना नहीं खींचा ? मगर सवाल वही है कि क्या सत्यजित राय ने बाज़ार के दबाव में 'शतरंज के खिलाड़ी' में परिवर्तन किए, अपने को अलग और स्वतंत्र दिखाने के अहंकार में किए या वे सब उनकी अपनी कला और समझ की ज़रूरतें थीं ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के भयानक विस्फोट में अनेक साहित्यिक कृतियों पर सीरियल, टेलीफिल्में और स्वतंत्र फिल्में बनेंगी और तब यह सवाल बार-बार आएगा, इसलिए इस मुद्दे पर विवाद भी होता रहेगा कि श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी', भीष्म का 'तमस', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ', सीरियलों के रूप में भी क्या वही हैं जो मुद्रित रचनाओं के रूप में हैं ? इसलिए बात वहीं से शुरू करें कि 'शतरंज के खिलाड़ी' दो अलग रचनाएँ हैं या फिल्म मूल पाठ की कॉर्बन कॉपी है ? यहाँ सबसे पहले तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि 'उसकी रोटी', 'आषाढ़ का एक दिन' या 'दीक्षा' बनाने वाले मणि कौल और अरुण कौल भी अपनी कला के लिए उतने ही प्रतिबद्ध हैं, जितने प्रेमचंद, मोहन राकेश या अनंतमूर्ति रहे हैं। हाँ, दोनों के क्षेत्र और माध्यम अलग हैं। स्वतंत्र रूप से ही मूल्यांकन करना हो तो मैं कहूँगा : 'शतरंज के खिलाड़ी' फिल्म अपनी आधार-कहानी से बड़ी रचना है—यह दूसरी बात है कि हमारे संस्कार और साहित्यिक आत्मसम्मान इसे स्वीकार न करें...

प्रेमचंद की कहानी अपनी सारी कलात्मकता और गहरी अंतर्दृष्टि से लिखी गई बीते समाज की कहानी है, एक स्थिर चित्र है। सत्यजित राय उस स्थिर और अतीत में रुके चित्र को गति और विस्तार देते हैं। राय ने शतरंज के रूप को अपने सारे चरित्रों और स्थितियों में फैला दिया है—शतरंज सिर्फ़ दो मित्र अपनी बैठक या निर्जन मस्जिद में ही नहीं खेल रहे। जो खेल अभी तक उनकी हवेलियों की चहारदीवारी में चल रहा था (आत्मीय और अंतरंग संबंधों तक में), वह अब बाहर निकल आया है— अंग्रेजों और नवाब के बीच। भारतीय जनता और उपनिवेशी विस्तार के बीच, प्रेमचंद दोनों नवाबों को आपस में लड़ाकर मार देते हैं—सामंतवाद की आत्मघाती परिणति। मगर सत्यजित राय उस खेल को चलाए रखते हैं और संकेत करते हैं कि सत्ता की बिसात पर शतरंज आज भी चालू है—सामंती जनता बच्चे के कौतूहल, लाचारी में बाहरी सेवक की तरह उसे सिर्फ़ देख सकती है—भयभीत और असुरक्षित...हो सकता है इस रूप में फिल्म, अपनी मूल कहानी से अधिक कलात्मक, सार्थक और व्यापक हो—मगर सब मिलाकर प्रेमचंद की कहानी तो नहीं ही रह गई है...

यही सब तर्क देते हुए मैंने बहुत दिन पहले जब 'शतरंज के खिलाड़ी' के दोनों रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया था तो यह सवाल भी उठाया था कि क्या दो अलग माध्यमों के कलाकारों के लिए एक-दूसरे की रचनाएँ, प्रेरणा, प्रस्थान-बिंदु और अपनी ही दुनिया में उतर जाने का स्प्रिंग बोर्ड नहीं होती ? जब एक बड़ा संगीतज्ञ मीरा या सूर का कोई पद उठाता है तो वह उस पद के लिए वफ़ादार होता है या अपनी कला के लिए ? 'मैं तो गिरिधर के रंगराती' पंक्ति को ही वह अपने ढंग से उलट-पलट कर सारी रात गाता रहता है, उसे पद पूरा करने की कोई चिंता भी नहीं होती। रविशंकर का सितार या बिस्मिल्ला खां की शहनाई सुनकर कविता लिखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला कवि क्या उनकी ध्वनियों और रागों को पुनर्सृजित करता है ? नहीं, वह सिर्फ़ उस मानसिकता और मनःस्थिति को अपनी कला में रचता है जो किसी भी रचना में डूबकर उसने उपलब्ध की है। यहाँ अनुकरण नहीं, प्रति-सृजन है। एलोरा और खजुराहो से अभिभूत होकर हम भाषा में शब्दों के स्तंभ और मूर्तियाँ नहीं उकेरते—हम उस सौंदर्य-चेतना का अपने अनुशासन में अनुवाद करते हैं। शायद फ़िल्म और साहित्य में भी यही रिश्ता है, एक कला दूसरी की दुनिया में सीढ़ियाँ बनकर अपनी उपस्थिति या उपयोगिता स्थगित कर देती है। यह दूसरी बात है कि हज़ारों साल पुराना साहित्य, नई-नई आई फिल्म विधा को बराबरी का हक़ देने या स्वतंत्र कला मानने को तैयार न हो और अभी भी यही आग्रह पाले हुए हो कि वह मूल नक्शा बनाने वाला इंजीनियर है और फिल्मी कारीगर को उसी के अनुसार एक-एक कील-काँटा तैयार करना है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसके ब्लू प्रिंट का अपमान या विश्वासघात है।

जीवन, पुस्तक और फ़िल्म का यह विवाद, जैसा कि मैंने कहा, शेखर कपूर और फूलन देवी के बीच 'बैंडिट क्वीन' को लेकर आजकल सब कहीं छाया है। पहली बात तो यही है कि यह जीवनी क्या सचमुच व्यक्ति फूलन देवी की इकलौती कथा है ? मान भी लें कि माला सेन केवल कलाकार न होकर शादी-ब्याह, पासपोर्ट की तस्वीरें खींचने वाली पेशेवर फोटोग्राफर हो, मगर भाषा में आते ही वह अत्यंत निजी जीवन क्या असामान्य स्थितियों से ढलकर आई दलित औरत की सामान्य या सार्वजनिक कहानी नहीं बन जाती ? वहाँ फूलन व्यक्ति नहीं, प्रतिनिधि या प्रतीक है। जो कुछ फूलन के साथ हुआ, वह एक विशेष समय और समाज में हुआ है—वहाँ न जीवन निजी (यूनिक) है, न व्यवहार का पैटर्न। सभी कुछ हज़ारों बार दुहराया गया है। नया है सिर्फ़ फूलन का प्रतिशोध, कानून हाथ में लेनेवालों के जवाब में खुद भी कानून अपने हाथों में लेना और यही वह चीज़ है जो फूलन को हीरोइन बनाती है, या माला सेन से लेकर शेखर कपूर तक उधर खिंचते हैं (निश्चय ही व्यावसायिक प्रलोभन से प्रेरित होकर)। यहाँ फिर माध्यम बीच में आता है। अगर पुस्तक में या सीधे ही फूलन को यह कहते हुए बताया गया है कि 'मेरे साथ उन राक्षसों ने बहुत दुर्व्यवहार और अत्याचार किए' तो इस बात को फ़िल्मकार या तो किसी नैरेटर से कहलाकर बात समाप्त कर दे, या फिर उन अत्याचारों को फिल्मी भाषा में प्रस्तुत करे—यानी दृश्यों, घटनाओं की परिकल्पना और चित्रांकन करे...तब उसे इस दुर्व्यवहार और अत्याचार को घटनाओं और दृश्यों में दिखाना होगा—यानी एक विशेष देश-काल में उन लोगों को स्थापित करना होगा, जिनके चेहरे, नाम और व्यक्ति हैं—फूलन जिसे अत्याचार कहती है, उसका भी खुलासा करना होगा—वहाँ हिंसा भी होगी और सेक्स भी, गोलियाँ, यंत्रणाएँ और बलात्कार भी। ये सब फिल्मी भाषा की तार्किक ज़रूरतें हैं। अगर निर्देशक को अपनी फिल्म को समय का प्रामाणिक दस्तावेज़ भी बनाना है तो पहनावे-उढ़ावे के साथ-साथ उत्तर भारत के उस इलाके के जातिगत समीकरण,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुश्मनियाँ-दोस्तियाँ भी वास्तविकता में दिखानी होंगी। यह सब प्रेमचंद ने भी दिखाया है, सत्यजित रे ने भी। सुनते हैं, सत्यजित राय ने तो जूतियों के प्रकार और उन पर होने वाले ज़रदोजी के काम, सिंहासन के हत्थे की मूठ या म्यान की पच्चीकारी के लिए न जाने कितने संग्रहालय, पुराने चित्र, पुस्तकें छानीं और लंदन के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम तक चक्कर लगाए। यह अपने विषय और विधा—दोनों के लिए प्रामाणिक होने का दबाव था।

मगर यहाँ तीसरा और ज़्यादा बड़ा नैतिक सवाल उलझा है : माध्यम किताब हो या फ़िल्म, क्या रचनाकार को यह अधिकार है कि वह किसी के व्यक्तिगत जीवन को उघाड़कर सार्वजनिक बना दे ? हो सकता है, फूलन के साथ वह सब ठीक उसी तरह हुआ हो, जैसा कि फिल्म में दिखाया गया है, मगर आज वह उसे न याद करना चाहती है, न स्वीकार। संबद्ध लोगों के डर, व्यक्तिगत बदनामी, वर्तमान सम्मानित स्थिति पर खतरा, या उन भीषण अनुभवों से पलायन—कारण कुछ भी हो सकते हैं। जिन घावों को व्यक्ति न खुद याद करना चाहता है, न खोलकर दिखाना—उन्हें डंका पीटकर उजागर करने का हक़ तो किसी को नहीं है ! व्यक्तिगत मर्यादा और कला-निष्ठा में से रचनाकार किसे चुने ?

ज़ाहिर है, यह सवाल कभी हल नहीं होगा। 'हंस' के प्रारंभिक अंकों में मैंने इंग्लैंड के जज सर पैट्रिक हेस्टिंग्स के संस्मरणों में से एक मुकदमे का विवरण दिया था। मैट्रो गोल्डविन मेयर कंपनी ने एक फिल्म बनाई 'रास्पुतिन'। दावा किया गया कि यह क्रांतिपूर्व रूस पर बनी सबसे प्रामाणिक फ़िल्म है और इसके सभी पात्र, स्थितियाँ वास्तविक हैं, बरसों के शोध और अनुसंधान के बाद निर्माताओं ने इसे बनाया है। संन्यासी रास्पुतिन ज़ारशाही में सबसे बड़ा सत्ता-पुरुष था, अपने यहाँ के धीरेन्द्र ब्रह्मचारी या चंद्रास्वामी से उस संन्यासी के प्रभाव और व्यवहार का अनुमान लगाया जा सकता है। उसने युवा ज़ार को बचपन में घातक बीमारी से बचाया था, इसलिए बूढ़े ज़ार-ज़ारीना उसके कृतज्ञ थे। धीरे-धीरे उसका प्रभाव इतना बढ़ गया कि जब युवा ज़ार गद्दी पर बैठे, तब वास्तविक प्रशासन रास्पुतिन ही चला रहा था। जिसे चाहे मरवा देता, जिसे चाहे बदल देता—अफ़सरों के तबादले तो सुबह-शाम होते। उसने प्रचारित कर रखा था कि उसके पास ऐसी ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ हैं कि वह सब कुछ कर सकता है और दुनिया की कोई ताक़त उसे नहीं मार सकती—न ज़हर, न गोली, न मंत्र। भयंकर पियक्कड़ और लम्पट। सारी अफ़सरशाही नाराज़, क्षुब्ध और बग़ावत पर उतारू। मारने के अनेक प्रयत्न हुए, मगर वह सचमुच नहीं मरा। इसी बीच उसने एक बड़े फौजी अफ़सर (नाम शायद यूसुपोफ) की पत्नी के साथ बलात्कार किया और फिर उसे रखैल बनाकर रख लिया। अफ़सर को हमेशा हज़ारों मील दूर सरहदों पर तैनात कराता रहा, ताकि वह अनुपस्थित रहे। बाद में उस अफ़सर ने साथियों के साथ मिलकर रास्पुतिन को मारने की योजना बनाई। उसे एक समारोह में बुलाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया और साइनाइड भरे केक परोसे गए। हर केक बीसों व्यक्तियों को पलक झपकते मार सकता था, मगर जब अफ़सरों ने देखा कि ताक़तवर सांड की तरह रास्पुतिन नशे में झूमता एक के बाद एक केक खाए चला जा रहा है, स्वाद की तारीफ़ कर रहा है तो उनके सचमुच छक्के छूट गए। घबराकर यूसुपोफ़ ने अपनी भरी पिस्तौल उस पर खाली कर डाली—छः या दस गोलियाँ खाने के बाद भी वह सिर्फ़ लड़खड़ाया—मरा तब भी नहीं। घबराकर उन्होंने उसे लाठियों से पीट-पीटकर बेहोश कर डाला और बर्फ़ में फिंकवा दिया। कहना यह है कि वह सिर्फ़ बेहोश हुआ था और बाद में उठकर कहीं चला गया।

अचानक इस फ़िल्म पर मुकदमा ठोक दिया गया। क्रांति के दौरान भागकर इंग्लैंड में बसने वाले एक शाही अफ़सर यूसुपोफ़ की पत्नी का आरोप था कि फिल्म झूठी है और न रास्पुतिन ने उसके साथ बलात्कार किया, न वह उसकी रखैल बनकर रही। मुकदमा लंबा चला और सुनते हैं, मैट्रो वालों को काफ़ी मुआवजा देना पड़ा ...शायद 'प्रामाणिकता' की कीमत...

'बैंडिट क्वीन' से पहले अभी-अभी एक और फिल्म को लेकर भी हंगामा उठा था। फ्रेंच फिल्म 'लन्यूत बंगाली' (बंगाली रात) में उपन्यासकार मैत्रेयी देवी और मिर्चिया एलियादी के बीच ऐसे अंतरंग सेक्स-सीन दिखाए गए हैं कि भारत सरकार को उसे प्रतिबंधित करना पड़ा। प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री एस.एन. दास गुप्ता ने अनेक जिल्दों में भारतीय दर्शन का इतिहास लिखा है। कलकत्ता में उन्होंने एक रूमानियन विद्यार्थी मिर्चिया एलियादी को अपने घर रखकर संस्कृत और दर्शनशास्त्र सीखने में मदद की और इस दौरान उसकी घनिष्ठता उनकी परमसुंदरी पुत्री मैत्रेयी देवी से हो गई। भारतीय दर्शन, यहाँ के शहरों, पहाड़ों और योगियों के बीच बरसों भटकने वाला यह विदेशी युवक, बंगाली कन्या के प्रेम में ऐसा गिरफ्तार हुआ कि यहीं बसने की सोचने लगा। मगर उसे जाना था। बात सन् 1928 की है। लौटकर उसने भारतीय दर्शन पर हज़ारों पृष्ठ लिखे और दुनिया के कुछ गिने-चुने भारत-विशेषज्ञों में माना गया। उसने अपनी आत्मकथा में इस प्रेम-प्रसंग पर खुलकर लिखा है। यही नहीं, उसने 'मैत्रेयी (1933)' नाम से अपने इस अनुभव को जिस उपन्यास में पूरी संवेदना और विस्तार से लिखा है, उसके रुमानिया में चालीस से अधिक संस्करण निकले हैं। शायद यह बात मैत्रेयी देवी को बहुत बाद में मालूम हुई। तब, जब साठ साल बाद उपन्यास अंग्रेजी में आया। उन्होंने जवाब में अपना प्रसिद्ध उपन्यास लिखा, 'न हन्यते' (बाद में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त) सन् 1975 में। ज़ाहिर है, 'मैत्रेयी' या 'बंगाली रातें' उपन्यास में दोनों के बीच जो अंतरंग और निजी रहा होगा, वह सब खुलकर सामने आया है—पश्चिमी बेबाक़बयानी के साथ। यही नहीं, उसमें रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति मैत्रेयी की भक्ति को लेकर वह कहता है, "वह साला घिनौना बुढ़ऊ लड़कियाँ पटाने में माहिर, साला गुरुदेव रोबि ठक्कर..." ज़ाहिर है, रवीन्द्रनाथ टैगोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए "दुष्ट बुड्ढा" या माँ काली के लिए "लहंगा उठाकर नाचने वाली चुड़ैल" सुनकर कौन बंगाली चुप रहेगा ? आज न मैत्रेयी जीवित हैं, न मिर्चिया। मगर मिर्चिया ने इन आरोपों के जवाब में 'भारतीय पाखंड' को ही ज़िम्मेदार ठहराया था कि ये लोग न सच बोल सकते हैं, न सुन सकते हैं। मुझे उसकी बात में कुछ सच्चाई लगती है, क्योंकि मैत्रेयी देवी का 'न हन्यते' दोनों के बीच के संबंध की सचाई को स्वीकार भी करता है और अस्वीकार भी। उपन्यास आत्मकथात्मक है और थोड़ी चालाकी से बुना गया है। नायिका के जीवन में तीन पुरुष हैं—समानांतर। सांसारिक और शारीरिक ज़रूरतों के लिए पति, श्रद्धा-पूजा के समर्पण भाव के लिए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ और रोमांटिक या अशरीर छायावादी प्रेम के लिए मिर्चा नाम का विदेशी युवक—तीनों न कहीं एक दूसरे को काटते हैं, न आड़े आते हैं। हाँ, उपन्यास का नाम ज़रूर संकेत देता है कि शरीरों के मर जाने पर भी भावनात्मक लगाव नहीं मरते...न हन्यते, हन्यमाने शरीरे—एक तरह तीनों पुरुष देह से ऊपर हैं—एक अपनी सांसारिकता के रोज़मर्रापने में, दूसरा अपने देवत्व में और तीसरा अपने विदेशी या परपुरुष होने की वर्जनाओं में...हो सकता है, पश्चिमी यथातथ्यवादी दृष्टि को यह सुविधाजनक विभाजन भारतीय पाखंड ही लगता हो।

मगर सवाल वही नैतिकता का है : सच के नाम पर आप किसी के व्यक्तिगत जीवन को कितना उधेड़ सकते हैं ? यही सवाल एक दूसरे संदर्भ में बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूँ, क्या याद करूँ' को लेकर भी आया था। अपने फ़रारी जीवन में प्रकाशवती जी ने बच्चन जी के यहाँ इलाहाबाद में शरण ली थी और दोनों काफ़ी निकट आ गए थे। बच्चन ने अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रेम कविताएँ उसी युग में लिखीं। शायद तब तक प्रकाशवती जी का विवाह यशपाल से नहीं हुआ था। बहरहाल, पचास-साठ साल बाद अपने को इस तरह पेश किए जाने से प्रकाशवती जी आहत ही हुई थीं और हम लोगों से आग्रह करती रहीं कि इस मनोवृत्ति/हरकत का विरोध किया जाना चाहिए। आप अपना सच लिखने के नाम पर दूसरे को अशोभन स्थिति में डालने के अधिकारी कैसे हैं ? पच्चीस साल की फ्रैंस्वा जिलों ने साठ साल के पिकासो से शादी की और आठ साल बाद अलग हो गई। फिर उसकी पुस्तक आई, "माई लाइफ़ विद पिकासो।" फ्रांसीसी कला जगत में तूफ़ान आ गया। वहाँ के बड़े-बड़े चित्रकारों ने, जिलों द्वारा दिए गए पिकासो के व्यक्तित्व पर नहीं, इस बात पर पुस्तक को प्रतिबंधित करने का आग्रह किया कि इस तरह के चित्र अगर भूतपूर्व प्रेमिकाएँ या पत्नियाँ देने लगेंगी तो हम कहाँ रहेंगे...बहरहाल। इस तरह के प्रसंगों में सबसे अधिक गरिमामय पुस्तक मेरी निगाह में 'चेख़व इन माई लाइफ़' है। उसे एक मधुर प्रेम-कथा की तरह पढ़ा जा सकता है। लीदिया एविलोवा ने आग्रह किया था कि पुस्तक उसकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हो। सन् पचास के आस-पास अंग्रेजी में आई। सुना, बाद में उसे वापस ले लिया गया और शायद कोई पुनर्मुद्रण नहीं हुआ। मेरी प्रति से अज्ञेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी से लेकर अशोक वाजपेयी तक न जाने कितने लोगों ने फ़ोटोस्टैट कराए। बाइद वे, अज्ञेय जी को केंद्र में रखकर इला जी का प्यारा-सा उपन्यास 'छत पर अपर्णा' एकदम अनदेखा ही चला गया।

बहरहाल, यहाँ सवाल न क़ानूनी है, न कला और विधागत अपेक्षाओं का। अपने-अपने समाज में हम कितना सच बोलने या सुनने-देखने का जोखिम उठा सकते हैं, इसका है और यहाँ यह व्यक्तिगत नैतिक मूल्यों पर आ टिकता है—मगर इसी तरह के धर्मसंकटों से बचने/बचाने का आग्रह आत्मकथाओं को एक मक्कार झूठ में तब्दील कर देता है। मोहन राकेश को अपनी डायरी में महिलाओं के अ-व-स नाम देकर अमूर्तनों का सहारा लेना पड़ता है। फिर भी यह कमलेश्वर की उन ग़लत बयानियों, झूठों और शेखियों से अच्छा है जहाँ हर कोई नीच, दुष्ट, ईर्ष्यालु और टुच्चा है और अद्वितीय प्रतिभा से धधकते इस अग्निपुंज को बर्दाश्त नहीं कर पाता। कमलेश्वर सब कुछ कह और लिख सकता है, सिर्फ़ दूसरों को छोटा बनाए बिना अपने को बड़ा सिद्ध नहीं कर सकता। वह 'मैगालोमेनिया' नाम की आत्मघाती कुंठा और अपनी ऐतिहासिक स्थिति को लेकर घनघोर संशय, असुरक्षा या हीनताबोध का मारा हुआ है। उसने संस्मरण नहीं लिखे, खुद ही सब कुछ लिखकर अपने 'कालपात्र' गाड़े हैं। ऐसी रचनाओं को भी क्या सेंसर की ज़रूरत है ?

हंस, अक्तूबर 1994

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बचा रहेगा शब्द

आज जिसे हम शिष्ट संगीत और चित्रकला कहते हैं, वहाँ दो समानताएँ और दो अंतर्विरोध एक साथ ही ध्यान खींचते हैं। दोनों को ही विशिष्ट और दीक्षित रसिक वर्ग चाहिए—वह हर किसी के लिए नहीं है। समझ और सुरुचि की यह ग्रहणशीलता लंबे रागात्मक अभ्यास से आती है जिसे हर कोई 'एफोर्ड' नहीं कर सकता। अभिजात और विशिष्ट सुविधाओं की एक दुनिया है, जहाँ ये सांस्कृतिक प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं—'स्टेटस सिंबल'। हुसैन और गुजराल को समझने वाले ही भीमसेन जोशी और पंडित जसराज को 'एप्रिशियेट' कर सकने की हैसियत में हैं। ये सब हमारी निधरी संस्कृति के अनिवार्य हिस्से हैं। हमें इनका संरक्षण और संवर्धन करना है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि आज ये आर्थिक रूप से भी सबसे मूल्यवान कलाएँ हैं। संपन्नों के लिए हैं, इसलिए स्वयं भी संपन्न हैं। अंतर्विरोध यह है कि आधुनिक चित्रकला अपना व्याकरण पश्चिमी क्लासिकल और समकालीन स्रोतों से विकसित करती है; संगीत शुद्ध भारतीय परंपरा से। एक जगह हम इसलिए 'देसी' हैं कि वैश्विक हैं और दूसरी जगह ऐसे वैश्विक हैं कि शुद्ध 'देसी' हैं। एक हमें देश से जोड़ती है तो दूसरी काल से। मगर दोनों देश-काल से परे इसलिए भी हैं कि उनकी अपनी-अपनी भाषाएँ हैं जो कानों या आँखों से 'पढ़ी' जाकर आत्मा तक पहुँचती हैं—और ये दोनों भाषाएँ हमारी अपनी साहित्यिक भाषा पर निर्भर नहीं हैं। साहित्य की भाषा, देश और काल दोनों से बंधी है, उधर ये 'भाषाएँ' दोनों का अतिक्रमण करती हैं। इनकी अपील चूँकि सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। इसलिए ये सच्चे अर्थों में 'सेक्युलर' भी हैं—हर पूर्वग्रह से निरपेक्ष। शायद इनकी प्रतिष्ठा और मूल्य का आधार भी यही है। अगर आप संस्कृत, सभ्य और संपन्न हैं तो इन दोनों कलाओं से बच नहीं सकते। कह सकते हैं कि बचे ही इसलिए हैं कि ये दोनों कलाएँ आपके पास हैं।

मगर साहित्य की या कहें, कविता की स्थिति यह नहीं है। इस विशिष्ट या दीक्षित वर्ग में अगर वह प्रवेश पाती है तो यह उर्दू कविता या मध्यकालीन हिंदी कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में ही संभव है। कह सकते हैं कि दोनों कविताओं के विषय और शब्द इतने ज्यादा सुनिश्चित या हमारे परंपरागत संस्कार का हिस्सा हैं कि उन्हें समझने के लिए कोई माथापच्ची नहीं करनी पड़ती—दूसरे, दोनों कविताओं को बड़े संगीतकारों का दुहरा आधार मिला है; उन्होंने अपनी कला और इन साहित्यिक रचनाओं की गहराइयों और ऊँचाइयों के नए-नए आयाम खोले हैं—तभी वे हमें राग और सौंदर्य (एस्थेटिक्स) की लोकोत्तर अनुभूतियों से साक्षात्कार करा पाती हैं। परिचित और साधारण काव्य भी वहाँ विशिष्ट अर्थ देने लगता है। सुदर्शन फ़ाकिर की ग़ज़ल हो और वेगम अख़्तर गायें—वाह, क्या बात है ! या सूर के पद और पं. जसराज का गला। वेगम अख़्तर के संदर्भ में मैंने जानबूझ कर ग़ालिब या जिगर का नहीं—फ़ाकिर का नाम लिया है। एक नया और निहायत अपरिचित कवि, बड़ी गायिका के माध्यम से किस तरह परम अभिजात दुनिया का हिस्सा बना दिया जाता है। यानी शुद्ध संगीत को कविता की ज़रूरत नहीं है। हाँ, संगीत के सहारे कविता मूल्यवान हो सकती है।

इन सारी कलाओं का मूल्य भी है और बाज़ार भी, क्योंकि इन दोनों को वनाए रखने वाला संपन्न मध्य वर्ग और उच्च मध्य वर्ग हमेशा से रहा है। रूप वदल गए हैं मगर इन कलाओं के पास पहले भी दरवार और कुलीन कलावंत थे—आज भी हैं। हिंदी की अपनी या सूफी कविताएँ; इश्क़ हक़ीक़ी का मज़ा देती हैं तो रीतिकालीन या उर्दू कविता इश्क़ मजाज़ी का। कपिला वात्स्यायन की खोज बताती है कि कैसे जयदेव की कविता चित्र, संगीत और नृत्य कलाओं को व्यापक कृष्णाधार देती है। यानी दो-दो कलाएँ एक-दूसरे से जुड़कर ऊर्जा ग्रहण कर रही हैं। भक्ति, अध्यात्म और दर्शन का सहारा न होता तो अकेली 'कविता' के आधार पर तुलसीदास भी केशवदास ही बनकर रह जाते।

कलाओं की इस दुनिया में सौ साल क़ी हिंदी कविता कहीं नहीं है। अपनी सारी गेयता के वावजूद प्रसाद, निराला, महादेवी को शायद ही किसी बड़े संगीतकार या गायक ने उठाया हो। बाद के गीतकार स्वयं गायक बने, गायक उधर नहीं झुके ...रवींद्रनाथ ने कविताओं के लिए अपने संगीत का आविष्कार कर लिया और उसे इतना अभिजात वना दिया कि गायकों को प्रतिष्ठा या स्वीकृति पाने के लिए उधर आना अनिवार्य हो गया। सचमुच मेरे मन में कभी-कभी श्रद्धा भी होती है कि इस संश्लिष्ट माहौल में अशोक वाजपेयी साहित्य की (साहित्य का अर्थ उनके यहाँ सिर्फ कविता है) स्वायत्तता और कविता के अपने जनतंत्र का झंडा उठाए हुए हैं। यही नहीं, उसे दरबार या पुरस्कार के वल पर कला की निष्णात और अभिजात दुनिया में वही स्वीकृति दिलाने पर भी तुले हैं जो संगीत और चित्रकला को प्राप्त है (उसमें अंग्रेजी लेखन भी शामिल है)। हो सकता है कि कुछ दरवारी आलोचक या उपकृत-पुरस्कृत कवि उन्हें सूचनाएँ भी देते रहे हों कि कविता का व्योम (अब इसका अर्थ आकाश, अवकाश या स्पेस, कुछ भी लगा लें) पूरी तरह सुरक्षित-संरक्षित और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनतांत्रिक है, इसलिए कविता अपने कूढ़-मगजों की नहीं, विश्व-कविता की ही नागरिक है। मगर क्रूर और बेबाक सचाई सिर्फ यही है कि इन सारे 'सत्य-केंद्रित साक्षात्कारों' के बावजूद अभिजात कला की दुनिया में इस कविता का कोई 'खरीदार' (सात्विक अमेरिकी अर्थों में) नहीं है, क्योंकि वह अपनी स्वायत्तता और शुद्धता के स्पेस में किसी भी अन्य कला या विचार को घुसने का 'वीज़ा' नहीं देती। कल तक दीवारों से घूरते उपनिवेशी शेर-चीते हिरनों के सिर हटाकर शाल-भंजिका मूर्तियाँ और मधुबनी झाँकियों की एथ्निसिटी अपनी जगह है मगर घंटीदार परदों के पीछे से झाँकती यह कलफ़ लगी चुन्नटदार कविता किसी भी भदेस और भुच्च की छाया से अपने को अशुद्ध नहीं होने देगी। शुद्धता को बचाए रचना है तो अवांछनीय से दूरी रखनी पड़ेगी—यही नहीं, इस दूरी का शास्त्र भी गढ़ना होगा, जहाँ विशिष्ट और अद्वितीय (एक्सक्लूसिव) का दार्शनिक 'जस्टीफिकेशन' हो। बनता होगा साधारण और रोजमर्रा को छान-फटककर एक्सक्लूसिव, मगर अब उसकी रक्षा तो तभी की जा सकेगी, जब उसे मंडेन (फूहड़) और वल्गर (रोज़मर्रापने के बासी) की छूत से बचाकर रखा जा सके। तर्क सीधा है, जो जितना एक्सक्लूसिव है, उतना ही मूल्यवान है और जो इस मूल्य को दे सकता है, वही इसका उपभोक्ता भी है।

विडंबना इस साहित्य (कविता) की यह है कि संगीत और चित्रकला की तरह न इसका कोई पारखी (कॉनोस्योर) है, न समाहर्ता (कलेक्टर)। सिर्फ सौ-पचास आपसी समानधर्मा रचनाकार हैं। उनकी चिंता और प्रकांड बौद्धिक तनाव सिर्फ इसे बचाए रखना है। मुझे यह 'इंटेन्सिव केयर' में रखी ऐसी देह लगती है जिसे कुशल डॉक्टर किसी तरह स्पंदित रखने की भागदौड़ में लगे हैं। पिछले बीस-पच्चीस साल की इस कविता का विषय या तो स्वयं कवि और कविता है, उसकी महत्ता और अनिवार्यता है या फिर उबाऊ दुहराव है। कभी असद जैदी ने 'बहनें' या आलोक धन्वा ने 'ब्रूनो की बेटियाँ' और 'भागी हुई लड़कियाँ' लिखी थीं। गगन गिल की 'एक दिन लौटेगी लड़की' तक में भी कुछ नयापन बना रहा। फिर जो लड़की-पुराण चला कि सारी लघु-पत्रिकाएँ त्राहि-त्राहि कर उठीं। पेड़, चिड़िया और पिता या माँ का पहाड़ा हिंदी-कविता का स्थायी अंतरा बन ही बैठा था। वह भी इस लड़की-बाज़ी के आगे फीका पड़ गया। गनीमत यही है कि बिठोविन, मात्सार्ट, शूबर्ट या उन्हीं के भारतीय प्रतिरूप 'पं. जसराज, भीमसेन जोशी, शमशेर को सुनते हुए' वाली कविताएँ इधर दिखाई देनी बंद हो गई हैं। वैसे भी, कविता की स्वायत्तता पर यह हमला है। उसे दूसरे के विचारों, रचनाओं या कलाओं पर निर्भर होकर अपनी संप्रभुता (सॉवरनिटी) क्यों खोनी चाहिए ?

संस्कृति के बाजार में हिंदी कविता आज स्पष्ट रूप से दो हिस्सों में बँटी है। मंचों और हास्य-कवि सम्मेलनों की फूहड़ भाँड़ैतियों के प्रचंड कुत्साकरण में, या वातानुकूलित हरित-कक्षी (ग्रीन हाउस) 'बोन्साईकरण' के चमत्कारों में, दोनों को ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार या संपन्न मध्य वर्ग का संरक्षण प्राप्त है, दोनों एक-दूसरे की प्रतिक्रिया में पनपती हैं। राजनीति की शब्दावली में, एक बौद्धिक एलीट की कविता है तो दूसरी नव-धनाढ्य लुम्पिन का मनोरंजन। इसे साहित्य का प्रेम बाँधे है तो उसे साहित्य की चिंता। एक को बड़े-छोटे संस्थानों के भाषा-साहित्य विभाग या सामाजिक राजनैतिक पार्टियों के संस्कृति-विंग सींच रहे हैं, तो दूसरी को सेमिनार, पुरस्कार या सरकारी खरीद। एक जंगली सांड की तरह मंचों और माइकों से कविता की ऐसी-तैसी कर रहा है तो दूसरी तरफ भारत-भवनों या आइटीयो-पुलों से असहाय रिरियाहटें सुनाई देती हैं : भाषा को बचाओ, बचा रहेगा शब्द...

मेरी भी चिंता यही है कि अनिवार्य और अपरिहार्य रूप से अस्सी-नब्वे प्रतिशत कविताओं या काव्यविमर्शों से लदालद सैकड़ों लघु-पत्रिकाओं के बावजूद 'शब्द' बच क्यो नहीं रहा है ? हर साल, हजार-पाँच सौ कविता-संग्रह तो छपा ही लिये जाते हैं; फिर कविता पर यह अभूतपूर्व संकट क्यों है ? सरकारी, गैर-सरकारी कौन-सा पुरस्कार या सम्मान है जो कवियों ने आपस में या कवि-चमचों ने नहीं दिया है ? पिछले पाँच-सात सालों में आधा दर्जन हिंदी कवि जरूर ऐसे निकल आएँगे जिनकी यह 'ऊपरी आमदनी' दस-बारह लाख से कम नहीं है। गद्य में तो शायद भीष्म साहनी ही उनकी बराबरी कर सकें...और इस सबके बावजूद कविता शब्द को बचाने में ही मर रही है। खींचतान कर कवि का क़द जितना बड़ा किया जा रहा है, कविता क्यों बौनी होती जा रही है ? कौन मार रहा है इस कविता को ? बचाना किससे है इसे ? फूहड़ संस्कृति से ? कुजात पाठकों से ? खरीदने-बेचनेवाली बाज़ारू विज्ञापनी बोलियों से ? हत्या, बलात्कार, भ्रष्टाचार, हिंसा परोसती पत्रकारिता से ?

इस बाज़ार में (माफ कीजिए परिवेश में) कवि-साहित्यकार को अपना वह मूल्य, स्वीकृति और सम्मान चाहिए जो आज के अभिजात वर्ग में चित्रकार और संगीतकार को मिलता चला जा रहा है, नर्तक और अभिनेता को सुलभ है। निरक्षर, अनपढ़, जाहिल—न एक शब्द बोल सकते हैं, न सोच-चिंतन की नई स्थितियों को समझ सकते हैं, राजनैतिक या किसी भी तरह की प्रतिबद्धता या पक्षधरता का तो सवाल ही नहीं है। वे जब सत्ता या दरबार की आरती उतारते हैं तो कोई नाक-भौंह नहीं सिकोड़ता—मगर संस्कृति के शीर्ष पर बैठे मीडिया-स्टार बने हैं। हम जो रात-दिन आँखें फोड़ते हैं, देशी-विदेशी किताबें घोंटते हैं, विचारों के अंतर्राष्ट्रीय स्पेस में उपग्रह बने चकरघिन्नी खा रहे हैं—हमें क्या थोड़ी-सी भी 'जगह' नहीं ? सारी जयश्रियाँ और पद्मश्रियाँ उन्हीं के लिए हैं—नॉर्थ या साउथ एवेन्यू में हम एक फ्लैट के भी हकदार नहीं हैं ? हम टकियल पत्रकारों से भी गए—गुज़रे हो गए ? क्या हैं नकली अंग्रेजी रचनाकार हमारे सामने ? हमें क्या सिर्फ इसीलिए 'बिरादरी' से बाहर रखा जाएगा कि हमारे पास भाषा है और कभी-कभी हम उसे बोल देते हैं ? सचमुच, कितनी तड़प या ललक है वहाँ पहुँचने की...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकट के इस माहौल में 'उप भोक्ता संस्कृति और कथा-साहित्य' नाम से 13-14 मई को देहरादून में कथाकारों का एक ऐतिहासिक सम्मेलन आयोजित किया गया। ऐतिहासिक इसलिए कि शायद इतने कथाकार एक साथ दसियों बरसों से नहीं जुटे। कानपुर के 'संगमन' या कटिहार के 'कथाकोशी' में भी इतने नहीं आए थे। इसी से लगता है कि रचनाकारों को खतरे की पहचान और चिंता थी। बातें व्यावहारिक भी हुईं और ठोस भी। भटकीं भी और बिखरीं भी। ग़नीमत यही हुई कि ये सब कथाकार थे। कवि होते तो व्योम की कविता या कविता के व्योम में ही दार्शनिक पतंगें उड़ाते। जैसी कि आशा थी, पहले दिन बहस मीडिया पर केंद्रित रही। मीडिया से भी अधिक दूरदर्शन मीडिया पर कि वह हमारे पाठक छीन रहा है। रचनाओं का कचूमर निकाल रहा है, आक्रामक विज्ञापनों द्वारा ऐसी चीज़ों और उनसे जुड़ी संस्कृति को हमारा हिस्सा बना रहा है जो हमारी ज़रूरत नहीं है—हिंसा, नंगेपन और षड्यंत्रों को परोस-परोस कर हमारी अगली पीढ़ी को स्मगलरों, ड्रगियों और हत्यारों में बदल रहा है। यह संस्कृति हमारे सारे सामाजिक ताने-बाने के चिथड़े उड़ाए दे रही है। दूसरे दिन, बात पत्रिकाओं और प्रकाशनों पर आई। अच्छी पत्रिकाओं का बंद होते जाना, प्रकाशकों का शोषण, सरकार की उपेक्षा और पाठकों की उदासीन निरक्षरता। इन सबमें ईमानदार लेखन की जगह क्या और कहाँ है ?

सब मिलाकर रचनाकारों की चिंता अपने अप्रासंगिक, व्यर्थ, फालतू और संस्कृति की मुख्य धारा से अलग होने की चिंता थी, एक लुप्त होती प्रजाति की चिंता। हर चीज़ को बाज़ार में बदलती संस्कृति और दोगली भाषा के बीच अपनी जगह टटोलने की चिंता। मुझे लगता है कि हम सब अपने उस महत्त्व को लेकर परेशान थे जिसका न तो इस बाज़ार में कोई मूल्य है, न ख़रीदार। बाज़ार को नकारना अब असंभव है, मगर जो 'माल' हमारे पास है, उसकी जरूरत बाज़ार को नहीं है। अंतविरोध यह था कि अपने गोदामों में पड़े इसी माल की हम ऊँची से ऊँची कीमतें माँग रहे थे, "जो जैसा जहाँ है" की शर्त पर उसे ख़रीदे जाने की जिदें दुहरा रहे थे। सरकार और समाज को गालियाँ दे रहे थे कि वह हमारी मदद नहीं कर रहे हैं। हममें से कुछ आपस में ही एक दूसरे को समझा रहे थे कि हम कितने महान और महत्त्वपूर्ण हैं। जगद्गुरु पीठ से नीचे आने को कोई तैयार ही नहीं था और "कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू" की कुंठा हमारे सारे सोच को निर्धारित कर रही थी। हम महान चिंतक, हम स्रष्टा, हम क्रांतदृष्टा...हम अद्वितीय, हम...वंदनीय...इत्यादि-इत्यादि को ही गोल-मोल भाषा में काते जाना दयनीय ही लग रहा था। दूरदर्शन और प्रकाशन से होती हुई हमारी सारी शिकायतें सरकार से ही थीं, क्यों नहीं सरकार इन दुष्टों की बाँहें मरोड़ती कि वे हमारी रचनाओं को हमारी शर्तों पर लें। मूर्खों और बेवकूफों की सरकार शिक्षा, चिकित्सा से लेकर अपनी सारी राष्ट्रीय संपदा को या तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बेच रही है या व्यवसायीकरण के लिए निजी हाथों में सौंप रही है। कागज और पोस्टेज की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंधाधुंध बढ़ती कीमतें ही बताती हैं कि वह शिक्षा और साहित्य को ठेंगे पर रखती है। ज़ाहिर है कि इस सरकारी उदासीनता के खिलाफ किसी को सोल्जेनित्सिन याद आ रहा था, जिसने सोवियत सत्ता को हिलाकर रख दिया था तो किसी को द-गॉल का 1968 के विद्यार्थी-आंदोलन के समय कहा गया प्रसिद्ध वाक्य मुग्ध किए हुए था कि "हम सार्त्र को कैसे गिरफ्तार कर सकते हैं ? सार्त्र तो स्वयं फ्रांस है"—साहित्य की इससे बड़ी महानता और क्या होगी ? एक तरफ हमारे यहाँ के खून-चूसू प्रकाशक हैं और दूसरी तरफ विक्रम सेठ जैसे लेखक, जिन्हें दो-दो करोड़ की रॉयल्टी अग्रिम मिलती है। लेखक और लेखन के महत्त्व की बात हो और भारत की दूसरी भाषाओं का कीर्तन करते हुए आत्मधिक्कार का कर्मकांड न किया जाए, यह असंभव था। बंगला-मराठी-मलयालम में देखिए, किस तरह किताबें हाथो-हाथ बिकती हैं, वहाँ लेखक का कितना सम्मान है। यहाँ साली हिंदी में खुद लिखो, खुद छपाओ या खुद प्रकाशक ढूँढो। फिर रॉयल्टी के लिए उसके सामने गिड़गिड़ाओ या नोटिसबाजी करो...उधर मार्खेज़ है, जिसके नए उपन्यास का दस हज़ारी संस्करण दो दिनों में बिक जाता है। हमारे बड़े से बड़े लेखक को वह सम्मान प्राप्त नहीं है जो देश-विदेश की छोटी से छोटी भाषाओं के लेखकों को सहज ही मिला हुआ है। लानत है इन पचास करोड़ हिंदीभाषियों पर...इतनी बड़ी जनसंख्या में तो हमारा पहला ही संस्करण दस लाख का होना चाहिए।

मूलतः हम सबकी चिंताएँ या शिकायतें बिचौलियों से थीं—फिल्म, नाटक, निर्देशक, प्रकाशक, संपादक या आलोचक—यही हमारी कृतियों को सामने नहीं आने दे रहे। हम चाहते थे कि फिल्म या सीरियल निर्देशक वह राजमिस्त्री हो, जो हमारे ब्लू-प्रिंटों को परम विनम्रता और जी-हुजूरी भाव से ज्यों का त्यों बनाए, हमें हमारा हिस्सा और सम्मान हमारी आकांक्षा के अनुरूप दे; प्रकाशक हमारी पुस्तकें सरकारी खरीदारों और पाठकों को बेचे या रचनाओं में आग लगा दे—मगर जो कुछ हम लिखें उसे परम भव्य रूप में छापे और हम जितनी चाहें, रॉयल्टी दे दे। संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसा सजग और गरिमामय तो हो, मगर हमारी लिखी गीता को बिना कांटे-छाँटे, सिर्फ कुशल प्रूफरीडर की तरह विशिष्ट रूप से प्रस्तुत करे और सबसे अधिक पारिश्रमिक दे। आलोचक सिर्फ हमारी रचनाएँ पढ़ें और हर लेख में उन्हें कालजयी सिद्ध करें...हमारी सबसे अधिक शिकायत थी सरकार से, वह खुद हमें बड़े से बड़े पुरस्कार-सम्मान-प्रतिष्ठा ही न दे, बल्कि इन बिचौलियों को सख्ती से मजबूर करे कि हमारी आकांक्षाओं के अनुरूप बर्ताव करें...क्योंकि यही हमारे सबसे बड़े रोड़े हैं।

ज़ाहिर है कि हममें से हर कोई या तो इस असुविधाजनक सवाल से कतरा रहा था या सचमुच उसकी सोच का वह हिस्सा ही नहीं था कि ये अलग-अलग क्षेत्रों के बिचौलिये या सरकारें हिंदी लेखकों के खिलाफ क्यों एकजुट हो गए हैं ? क्यों हम जैसे महान, मनीषी लेखकों को उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित करने या भूखा मारने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर तुले हैं ? हम देशी-विदेशी, नई-पुरानी हवाई महानताओं में यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि न हमारे पास ग्राहक हैं, न हमारे माल का कहीं कोई खरीदार...हम खुद अपने 'उत्पादनों' पर ऊँचे से ऊँचे प्राइस-टैग लगाकर बैठ जाते हैं। खरीदार आए न आए, हम रोज स्वयं अपना मूल्य बढ़ा लेते हैं। हमें सामंती युग की दरबारी प्रतिष्ठा भी चाहिए और पूँजीवादी युग की व्यापक स्वीकृति भी। हम अपनी कला को संपन्न अभिजात एलीट की संवेदना से नीचे नहीं उतारना चाहते, मगर वाह-वाही जन-जन की चाहते हैं—'बुलेट प्रूफ कमांडो दल' से घिरे राजनेता की तरह। इस मामले में मुझे सुधीश पचौरी ज्यादा व्यावहारिक लगते हैं कि अगर हम आज के मीडिया-विस्फोट या बाजार-बाढ़ को रोक नहीं सकते (जो जाहिर है, असंभव है) तो हमें अपनी सारी महानता छोड़कर उसका, उनकी शर्तों पर हिस्सा बन जाना चाहिए—'व्हेन यू कैन नॉट रैज़िस्ट ए रेप, रैलिश इट' (जब बलात्कार का विरोध असंभव हो, तो उसका मज़ा लो)। हम इस वास्तविकता को क्यों नहीं स्वीकार करना चाहते कि हम उस देश और भाषा के रचनाकार हैं, जिसकी किताब खरीदने में न रुचि है, न जेब, जहाँ न साक्षरता है और न संस्कार...कवियों ने इसे समझा है। उनके संग्रह या तो खुद छापे जाते हैं या खरीद के आश्वासन पर आते हैं। उनके भूगोल में पाठक हैं ही नहीं। अगर हैं तो फूहड़ घुसपैठिया हैं।

और सच बात तो यह है कि नाम हम चाहे जितना लें, सौ-दो-सौ खत भी दिखा दें—मगर पाठक कथाकार के भी भूगोल में नहीं है। हमारा सारा शिकायती दफ्तर सिर्फ सरकार तक है। सारे लोक-कल्याण उपक्रम जिस तरह सरकार, केंद्रित या सरकार मुखापेक्षी हैं—वैसे ही साहित्य भी है। परिणामतः जो उनका हश्र हुआ, वही साहित्य का हो रहा है—कटौतियों तक। और यही हमारे अहं को स्वीकार नहीं है। यहाँ मैं एक निहायत ही 'डिस्टर्बिंग' तथ्य की तरफ जरूर ध्यान खींचना चाहूँगा।

वस्तुतः हिंदी का सारा सौ साल का लेखन निहायत ही डरे, चौकस और हिसाबी रचनाकारों का सुरक्षित लेखन है। वहाँ कला बहुत है, आग नदारद है, कला नकल और बुद्धि या सूचनाओं से आती है, आग जनता और जिंदगी से। अगर आप याद कर सकें तो ज़रूर बताएँ कि क्या कभी किसी नामी हिंदी लेखक को, दूसरी गतिविधियों में भाग लेने के लिए नहीं, सिर्फ लेखन के लिए सज़ा या देश-निकाला मिला ?—अधिकांश अफ्रीकी लेखकों या सोल्जेनित्सिन, तस्लीमा नसरीन और सलमान रुश्दी की तरह जोश मलीहाबादी और यशपाल की दो एक रचनाओं को छोड़कर कभी हमारी किसी रचना को सरकारी कोप का निशाना बनना पड़ा ? मैं यहाँ एक दूसरे व्यक्ति, समुदाय या संप्रदाय को अपमानित करनेवाली या तथाकथित अश्लील नहीं, सत्ता और सरकार के लिए असुविधाजनक हो जानेवाली रचनाओं की बात कर रहा हूँ। क्या हमें पता है कि बंगला, तेलुगू और मलयालम में कितनी रचनाएँ या रचनाकार हैं जिन्हें महफूज येव्तुशेंको और पास्तरनाक की तरह सिर्फ अपने लेखन की कीमतें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुकानी पड़ी हैं ? और तो और, बकौल मैनेजर पांडेय, जिस भाषा में सदी की सबसे भयानक दुर्घटना यानी देश-विभाजन पर किसी अच्छे कवि का नाम लेने के लिए भी एक रचना न हो, उस संवेदनशीलता का क्या करेगी सरकार और क्यों कुछ करेगी जनता ? लोकतंत्र में सरकारें सिर्फ उनका सम्मान करती हैं, जिनसे डरती हैं और डरती सिर्फ उनसे हैं जिनके साथ जनता है। हमें ईमानदारी से स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारे 'साहित्यकार' की लड़ाई दरबार या अभिजात दुनिया की शोभा बनने के साथ-साथ बाज़ार में बिकाऊ होने की ही लड़ाई है।

अत्यंत ही आदर्श और यूटोपियन स्थिति होगी, जब हमारे बिचौलिए सिर्फ हमारी सेवा में ही अपनी जिंदगी की सार्थकता मान लें, मगर वास्तविकता दूसरी ही है। दुनिया भर की गरिमामयी लफ्फाजी, शुतुरमुर्गी दहशत और मूर्ख स्वर्गों का मोह या मुग़ालता छोड़कर हमें इस सचाई का सामना करना ही होगा कि संस्कृति, जैसी हम चाहते हैं—वह तीसरी दुनिया में अभी भी सिर्फ कुटीर-उद्योग है—नाटक, फिल्म, साहित्य—सभी कुछ। यहाँ उत्पादन से लेकर खपत तक खुद ही देखना होगा—चाहे नुक्कड़ नाटकों के रूप में हो, गुरिल्ला सिनेमा के रूप में या वामपंथी आंदोलनों के दिनों घर-घर बेचे जाने वाले साहित्य के रूप में। और अगर हम अपने आसनों से नीचे आने को किसी तरह तैयार नहीं हैं तो बिचौलिए ही पटाने होंगे—फिर अगर बिचौलिए हैं तो उनके स्वार्थ, हित और मानसिकताएँ भी हैं, चुनाव सिर्फ इतना है कि बिचौलियों से एकदम पल्ला झाड़ लें और लिख-लिखकर अगली पीढ़ियों के लिए रखते जाएँ या फिर इनसे ही अपने समीकरण बैठा लें...उत्पादन और उपभोक्ता के बीच मूल्यों को घटाते-बढ़ाते इन बीच के लोगों की अपनी शर्तें हैं। यानी बाजार की दुनिया में तो सारे बिचौलिए छोटे-बड़े हर्षद मेहता ही होते हैं। बाज़ार की क्रूर सचाई यह है कि जो बिकेगा, वही बचेगा और बिकेगा वही, जो बिचौलिए चाहेंगे। लगता है, हमारी यह पीढ़ी तो जनता से स्वीकृति के सपनों और सरकार दरबार से महानता या सुविधाएँ माँगने की दयनीयता में ही खप गई।

मगर अगली पीढ़ी है कहाँ ? हिंदी क्षेत्र के मध्यवर्गीय शहरी समाज में साहित्य को केंद्र बनाकर कौन-सी अगली पीढ़ी आ रही है—वह सब तो दूसरी बड़ी दुनियाओं में दौड़ रही है। गाँवों-कस्बों में संघर्ष करती अगली पीढ़ी कहीं हो तो हो, हमारी नई पीढ़ी की उम्र चालीस साल की है। मगर हम उधर क्यों देखेंगे ?—हमारे सौंदर्यशास्त्र या अंतर्राष्ट्रीय आभिजात्य का क्या होगा ? हमारा संघर्ष जिस दुनिया का हिस्सा बनने जा रहा है वह इतिहास, विचारधारा सभी का अंत घोषित करके बाजार की आक्रामकता के आगे समर्पित हो चुका है। कहना यह चाहिए कि ये अंत घोषित ही इसलिए किए जा रहे हैं कि हमारे-आपके भीतर बचे-खुचे प्रतिरोध के कीड़े सिर न उठाने लगें और हम बेशर्त अपनी पहली प्रतिश्रुतियाँ (कमिटमेंट) भूलकर उसका हिस्सा बनने लगें। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने हमारे अब तक के विकसित उद्योगों को पहले ही खा-चबा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया है। अब वे सिर्फ उनके वितरण-केंद्रों का काम कर रहे हैं। आज वैचारिक दुनिया की अंतर्राष्ट्रीयताएँ हमारे स्वागत में खड़ी हैं—आइए, हम दोनों हाथ उठाए इस समृद्ध, संपन्न और शक्तिशाली दुनिया की यात्राएँ शुरू करें। छोड़िए भाषा, शब्द, रचनाशीलता, प्रतिबद्धता का जंजाल—न इनमें हमें पहले कुछ मिला है, न आगे मिलनेवाला है।

शब्द को चीत्कारों और सिद्धांतों से नहीं, कर्म से बचाया जाता है। कर्म ही देता है शब्द को सार्थकता। कर्म की यह सार्थकता आती है आस्था से। आस्था को बल देनेवाले कारक हैं विचार, संकल्प और मूल्य—यही हमें जोड़ते हैं सपनों से, अर्थात् भविष्य से। व्यक्तिगत हो या सामूहिक हम सब ऐसे भविष्य के सपने देखते हैं, जहाँ सुख-शांति है, प्रतिभा और क्षमता के उपयोग के सही अवसर हैं; अन्याय, शोषण, विषमता नहीं है, प्रेम है, परिवार है, आपसी सहयोग और सौजन्य है। अगर यह सब नहीं है तो उसे पाने की ज़िद, लगन और संघर्ष है। कर्म के लिए इस आस्था के विना शब्द को सार्थकता कैसे मिलेगी ? और जब आस्था और अर्थ ही नहीं होंगे तो शब्द बचेगा कैसे ? रचेगा क्या ? शब्द का अपना कोई अर्थ होता है क्या ? उसे अर्थ तो हम देते हैं—दूसरे शब्दों के साथ विशेष संबंध से, संदर्भ से, आसंग से, परंपरा से, भविष्य से और सबसे अधिक अपने मंतव्य से। मंतव्य तिकड़म होगा और हम 'साधना' शब्द का प्रयोग करेंगे तो इसमें शब्द का क्या दोष है ? पलटकर शब्द डँसेगा नहीं ? आपके 'होने' को ही झूठ सिद्ध नहीं कर देगा ? या फिर खुद आत्महत्या कर लेगा।

आज तो हम थके, चुके या बिके हुए लोग हैं, इसलिए बहुत मुश्किल है अपनी बनी बनाई दुनिया छोड़कर इस तरह के किसी विकल्प को चुनना, या चुनने की बात करना। हमारे हित में यही सबसे सही है कि हम निर्विकल्प बने रहें या शब्द को अपनी मौत मर जाने दें...

'हंस', जून 1995

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर बैठने का सुख

कोई भी वैचारिक मुद्दा या तो बहस लायक होता है या नहीं होता। मगर मित्र लेखकों में एक अजीब प्रवृत्ति दिखाई देती है—लगभग दयनीयता की हद तक। वे या तो सवाल उठानेवाले की जन्मपत्री बाँचने लगते हैं या प्रश्न की परिभाषाओं में ही अपना बौद्धिक कमाल दिखाते हैं। काशीनाथ के 'देख तमाशा लकड़ी का' के बहाने जब मैंने आर्ष-भाषा और लोकभाषा के आपसी रिश्तों को समझने के लिए, उस पर एक बुद्धिजीवी की तरह विचार करने का आमंत्रण दिया तो कुछ मित्रों ने प्रत्याक्रमण को ही 'जवाब देना' समझा (अगर 'लोक भाषा' यानी 'गालियों' से आपको इतना ही मोह है तो अपने घर में क्यों नहीं बोलते ?) मेरा आग्रह था कि भाषा को लेकर पारिवारिक किस्म के आत्मसंतोष की बजाय गहराई से विचार इस पर किया जाना चाहिए कि क्या अन्य उपकरणों की तरह भाषा भी छोड़ी और ग्रहण की जाने वाली चीज है या स्वयं जीवन पद्धति और अस्तित्व की अभिव्यक्ति है ? सवाल दो प्रकार की भाषाओं से आगे बढ़कर संभ्रांत और लोक के आपसी रिश्तों का है। उन्हें लेकर अपनी या समाज की मानसिकताओं के विश्लेषण का है। करोड़ों लोगों के 'अस्तित्व की अभिव्यक्ति' भाषा को जब हम 'पाखाना-पेशाब-संभोग' जैसे निजी कर्मों को सार्वजनिक रूप से पेश करने के तर्क के रूप में बदल देते हैं, तो हमारी कौन-सी ज़हनियत प्रकट होती है ? एक विशेष वर्ग (चाहे इसमें हम स्वयं भी क्यों न शामिल हों) के इस अहंकार की गहरी पड़ताल क्यों बुद्धिजीवी की चिंता का विषय नहीं होना चाहिए ?

केंद्रीय प्रश्न से कतरा जाने की यह मनोवृत्ति 'दूर बैठे का दुख' को लेकर भी आई थी। इसे पुनर्प्रस्तुत करने के पीछे अशोक वाजपेयी का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करना नहीं था, न ही उनके 'काले कारनामों' का उद्‌घाटन। मुझे लगा, उन्होंने कुछ ऐसे सवाल या आक्षेप पेश किए हैं जिन पर अपनी विधा के हित में विचार किया जाना ज़रूरी है। प्रसन्नता है कि अशोक वाजपेयी, उनकी अदाएँ, राजनीति, भारत-भवन, अफसर, उनके द्वारा की गई साहित्यिक नृशंसताएँ इत्यादि-इत्यादि के ब्यौरों के संपादन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद उनके वक्तव्य के कुछ अंतर्विरोधों पर खुलकर बात हुई और कथा-समीक्षा के कुछ जरूरी सवालों को निथारकर सामने लाया जा सका। हालाँकि मुझे लगता है, कुछ जरूरी बातें छूट गई हैं : अगर कविता बनाम कहानी को सवाल की तरह पेश किया जाना जरूरी है तो विचार इस पर भी होना चाहिए कि दोनों की आस्वाद-प्रक्रियाएँ एक ही हैं या अलग-अलग ? कथा-संवेदना और काव्य-संवेदनाएँ आपस में विरोधी हैं या उनमें कोई गुणात्मक अंतर भी है ? क्या कहानी को भी सीधे जीवन-संदर्भों से काटकर देखा जा सकता है ? कहानी में अमूर्तन विषय-वस्तु में होता है या कथ्य और संप्रेषण में ? कविता के संवेदन-बिंबों की तरह क्या कहानी के अनुभव बिंबों का एकमात्र स्रोत, संदर्भ और विस्तार सिर्फ रचनाकार ही बना रह सकता है और उसे अपने को पात्रों में प्रक्षेपित करने, बाँटने या समो देने की जरूरत नहीं रहती ? जीवन—वह भी सिर्फ निजी जीवन से उठाए गए बिंबों को अपने मन के 'लैब' में लाकर कवि जिस तरह रासायनिक ट्रीटमेंट करता है, क्या कहानी में भी वही संभव है ? अगर है, तो फिर उस गतिशीलता का क्या होगा जो फ़्रीज किए हुए पात्रों को आपस में और अपने समय और समाज से जोड़ने का दूसरा नाम है ? कहानीकार क्या बिना पात्रों और उनके आपसी संबंधों के काम चला सकता है ? अगर पात्र हैं तो क्या उन्हें देश-काल से काटकर रुंड-मुंड संज्ञाओं में बदलकर (वैश्विक प्रश्नों) से जूझा जा सकता है ? माना कि हर कथा अपने आप में मूलतः रूपक, प्रतीक या दृष्टांत कथा ही है, मगर अपने उपकरणों के लिए वह जिस किस्से या यथार्थ का उपयोग करती है, उसकी अपनी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता का दायरा क्या है ? अगर यथार्थ इतना ही ऊपरी, डिस्पैंसेबिल (जिसे आसानी से छोड़ा जा सके) या मैनेजेबिल है तो क्यों नहीं (बिना हास्यास्पद या एब्सर्ड हुए) राम की कथा को आधुनिक ड्राइंगरूम या वेशभूषा में उन्हीं दोहे-चौपाइयों में कहा जा सकता, क्यों यथार्थ का भ्रम और तार्किकता देने के लिए काशाय-कोपीन जरूरी लगते हैं ? मूलतः आज की कवि-मानसिकता को ये सवाल इसलिए जरूरी नहीं लगते कि वहाँ रचना का तीसरा और जीवंत आयाम, यानी समाज या पाठक उसी आग्रहशीलता या एसर्टिव ढंग से उपस्थित नहीं होता। मुझे लगता है कि कुछ कवि-कुंठ विचारक कहानी को भी आज की कविता के उसी दुश्चक्र में डाल देना चाहते हैं, जहाँ बस रचना हो और उसका व्याख्याकार आलोचक—स्वतंत्र रूप से पढ़कर 'रस' लेने वाला कोई न हो...राजी सेठ जैसे कथाकार एक तरफ तो रंजकता, पठनीयता की पुरानी किस्सागोई की संदर्भवत्ता से मुक्त होना चाहते हैं तो दूसरी ओर 'सरिता' के पाठकों से घिरे होने की विडंबना और रचनाकार के अकेले पड़ जाने पर दुखी हैं। मुझे लगता है, अध्यात्म एकायामी, आज की कविता द्विआयामी (कवि-आलोचक का आपसी संवाद) और कहानी त्रि-आयामी विधा हैं। कहानी को मनुष्य से शुरू होकर नाम रूपधारी ठोस मनुष्य तक (मनुष्य के आइडिया तक नहीं) व्यक्त अनुभव के माध्यम से आना ही होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्चर्य है कि अशोक जैसा कवि-अंतर्दृष्टि वाला—समीक्षक कैसे आसानी से आज की कविता की परंपरा को सिर्फ इसलिए हज़ार सालों की बता पाया कि कहानी की उम्र सौ साल घोषित करनी थी ? वे जिस कविता की बात करते हैं उसकी उम्र तो हिंदी में साठ-सत्तर साल भी नहीं है—हाँ, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध या पहले के केशव, बिहारी को वे इसी परंपरा में शामिल कर रहे हों, तो बात दूसरी है। उनसे पहले तो सारी पद्य-कथाएँ या काव्योपन्यास हैं, सारा रस-सिद्धांत नाटकों के संदर्भ में है जो अपने-आप में अभिनेय कथाओं का दूसरा नाम है ! हज़ार साल की किस इकलौती काव्य-परंपरा की बात करते हैं अशोक ? व्याकरण, शब्द शक्तियों, रीतियों या दूसरे लक्षण-शास्त्रों की ? मगर वे सब उनकी अभिप्रेत कविताओं में कहाँ हैं ? या कहाँ उन्हें समझने और खोलने में सहायक हैं ? वे स्वयं अपनी कविताओं को रस-सिद्धांत और काव्यशास्त्र की उन कसौटियों पर परखे जाना पसंद करेंगे ? मुझे लगता है (गलत भी हो सकता है) कि आज की कविता का मूल, पुराने शास्त्र नहीं, आज के समय की संवेदना है और उसी के स्वरूप, स्रोत और परिणतियों को समझने की जरूरत है, वही कहानी और कविता को अपनी विशिष्ट प्रकृति में देखने या खोलने में सहायक होगी...रस-निष्पत्ति का इकहरा, नीरंध्र और मोनोलिथिक स्वरूप, आज के बंटे, खंडित, जटिल और अनेक स्तरों पर जीने वाले 'सहृदय' के लिए लगभग अप्रासंगिक है। कोई भी समाज कभी द्वंद्वहीन नहीं होता, मगर पुराना सारा काव्यशास्त्र या रस-सिद्धांत उन फुरसती, स्थिरमना, द्विविधाहीन और अपनी स्थिति या हैसियत को लेकर सुरक्षित और संरक्षित प्रभु-वर्ग का मनोविनोद था जो एक समय में एक ही रस को भरपूर जी सकते थे। निर्विकल्प-समाधि या तुरीयावस्था में बने रह सकते थे। आज के बंटे, टूटे, कुंठित खंडित व्यक्तित्व वाले शंकाग्रस्त और अनेक अंतर्विरोधों में एक ही समय सांस लेने वाले कवि या पाठक के लिए वह शास्त्र क्या कहीं भी कोई दिशा-निर्देश देता है ? उन्हें उस पुराने रस-स्वर्ग या निर्विकल्प समाधि का 'दर्शन' करा सकता है ? या हम अपने पुराने काव्य-बोध से आज की कविता को समझ सकते हैं ? वस्तुतः जिन स्रोतों से हमने आज अपना सारा साहित्य-बोध लिया है, उनके साथ अपने रिश्तों को समझने की शुरुआत ही अपनी आज की कहानी को समझने में सहायक होगी...

जिसे हम आज कहानी (या कविता भी) कहते हैं, वह या उसे रचने-समझने का शास्त्र हमारा अपना उत्पादन नहीं था—वह बाहर से लाकर हमारे सामने परोसा गया था। साम्राज्यवादी व्यवस्था में अपने लोगों के लिए मनोरंजन या ज़रूरत की ऐसी हजारों चीज़ें 'होम' से भेजी जाती थीं और उनमें कहानियाँ कविताएँ या विचार भी थे। हमें उनके 'स्वाद' का अभ्यस्त बनाया जा रहा था। उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने के पीछे कौन-सी कुंठाएँ, प्रतिस्पर्धाएँ या दबाव थे, उनमें जाने का समय नहीं है, सिर्फ इतना जानना काफी है कि उन्हीं की तर्ज पर तैयार किए गए अपने स्तरहीन,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोंडे और नकली उत्पादनों के मुकाबले, मूल स्रोत से आए असली उत्पादन अधिक प्रामाणिक और मानक थे। वे ही शासक-वर्ग में हमारे 'शामिल होने' के प्रमाण-पत्र थे। इसी क्रम में जो साहित्य (मेरा मतलब यहाँ कहानी से है) हमें मिल रहा था—वह 'फ्रोज़न-मीट' की तरह 'कोल्ड-टेक्स्ट' के रूप में था। जिन लोगों के बीच वह साहित्य रचा जा रहा था, उनका परिवेश, रहन-सहन, आपसी संबंध, साहित्य के साथ उनके संवाद इत्यादि कुछ ऐसी बातें थीं जिनकी सारी जानकारी हमें मुख्यतः उन्हीं रचनाओं से मिलती थी। यानी उन रचनाओं को पढ़ने, समझने और उनमें रस लेने की प्रक्रिया में ही हम उनके पाठक या प्रशंसक बन रहे थे। अपनी संस्कृति और संस्कारों से लगभग अपरिचित दूर बैठे लोगों की वह ऐसी दुनिया थी जिसमें न हम प्रवेश पा सकते थे, न अपने-आपको वहाँ प्रक्षेपित। हमारे हिस्से थी या तो जानकारी या चमत्कृत होने की मनःस्थिति। यह संवादहीन, इकतरफा साहित्य हमारे भीतर न कोई स्मृति जगाता था, न बिंब। मानसिक रूप से वह हमें अपनी जड़ों या जड़ता से उखड़ने को तो उत्प्रेरित करता था, मगर अपना और अपनी दुनिया का हिस्सा नहीं बना सकता था। चूँकि सब मिलाकर वह अपनी आबोहवा, खेत-मैदानों और लोगों के बीच उगा हुआ साहित्य नहीं था, इसलिए वह हमारे अंतस्तल के भीतरी तारों को झनझनाने की बजाय एक विचित्र या विकृत किस्म का उच्छिन्न 'साहित्य-बोध' पैदा कर रहा था। दिक्कत कविता में उतनी नहीं थी, जितनी कहानी में। कविता में निराकार और अमूर्त बिंबों के खाली स्पेस को हम अपने बिंबों, स्मृति चित्रों या स्वप्नों से भरते रह सकते थे और उनका 'भरपूर आस्वादन' कर सकते थे, लेकिन कहानी में तो ठोस व्यक्ति थे, उनके भौतिक देश-काल थे, समाज और सामाजिक संबंध थे—वहाँ उस तरह का सीधा 'साधारणीकरण' लगभग असंभव था...कविता के मुकाबले उस कहानी को अपनी चेतना का हिस्सा बनाने में लंबे समय और ज्यादा घनिष्ठ सामाजिक अंतर्क्रियाओं की जरूरत थी। शायद इसीलिए कविता जिस आसानी से उस बाहरी मुहावरे से जुड़ गई, कहानी और चित्रकला नहीं जुड़ पाई—वहाँ प्रभाव (या नक़ल) ज्यादा मुखर होते गए, क्योंकि कथ्य, टेक्नीक, स्वरूप सभी कुछ उन जैसा होने लगता था। हमारे अपने लोगों को लेकर जो कुछ था वह या तो थे विदेशियों द्वारा राजा-नवाबों के चित्र, नेटिव लैन्डस्केप, लाइफ, घटनाओं के स्केच या किप्लिंग, साकी जैसों की कहानियाँ। शायद कविता-जगत को भी उन 'हमलों' से गुजरना पड़ा हो।

किताब के पन्नों के बीच रखा हुआ फूल या तोड़कर कहीं से लाया गया 'बौर'—ठीक वही नहीं होता जो उनके अपने परिवेश में रहते हुए पल्लवित-पुष्पित होता है। हम जिन कहानियों को पढ़कर परिष्कृत, सुसंस्कृत या बहुपठित हो रहे थे वे उनके अपने किसी देश-काल की उपज थी, अपनी आबहवा में, अपने लोगों से संवाद और अंतर्क्रियाओं में उनका विकास हुआ था। कुछ जीवित लोगों की छायाएँ उनमें थी और कुछ जीवित लोगों ने अपने को उनमें पाया था। हर कथा-रचना प्रकृतिशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने समय-समाज से एक जिरह और संवाद होती है। इसलिए हर नई रचना वहाँ एक घटना होती थी, हलचल और प्रतिक्रिया जगाती थी। चाहे 'सॉरो ऑफ यंग वर्टर' (गेट) हो या, डेविड कॉपरफील्ड और लेडी चैटर्लीज लवर, फादर एंड संस (तुर्गनेव) हो या गोर्की की मदर। वहाँ उन किताबों पर गोष्ठियाँ होती थीं, बहसें और प्रदर्शन होते थे। प्रतिबंध और पेशियाँ लगाई जाती थीं। हमारे यहाँ ऐसी प्रतिक्रिया शायद देवदास, शेष-प्रश्न, चंद्रकांता संतति, चित्रलेखा, सुनीता, दादा कामरेड जैसी कुछ रचनाओं को लेकर ही हुई। रचनाओं को लेकर ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया का स्वरूप फ्रांस और रूस में सबसे ज्यादा जीवंत था। मगर वह सब हम तक आता था एक 'ठंडे पाठ' के रूप में...हम या तो उनकी कला और सौंदर्यशास्त्र ले सकते थे या उनमें साँस लेते लोगों की—'जानकारियाँ,' शायद यही कारण है कि कथा-लेखन के नाम पर हम लंबे समय तक उनकी कला और उनके सौंदर्यशास्त्र को ही कातते-बुनते रहे। जीवंत लोगों की जीवंत संवेदनाएँ हम ले नहीं सकते थे और अपने को वहाँ 'भर' नहीं सकते थे। बाद में भी जिन पास्तरनाक, येव्तुशेको, वाजेन्सेन्स्की जैसों की कविताएँ हमें झकझोर रही थीं उनके बारे में हम यह भूल जाते थे कि वे उनके अपने समाज से निरंतर चलने वाली अंतर्क्रियाओं के रूप में उगी थीं। दसियों हज़ार लोग उन्हें सुनते और उद्वेलित होते थे, पचास-पचास हजार के संस्करण सात-सात दिनों में समाप्त हो जाते थे, मगर हमारे लिए वह सिर्फ कला थी—एक ऐसी बौद्धिक प्रमेय जिसे हमें खुद ही हल करना था और अपनी ऊँचाई पर खुद ही अपनी पीठ ठोकनी थी...अपने यहाँ की 'भौंडी समझ' और संवादहीनता से कुंठित और क्षुब्ध होकर हमने पाठक को ही काटने का सिद्धांत गढ़ डाला था—यानी नारा दिया कि लोकप्रिय होना अनिवार्यतः असाहित्यिक होना है...नतीजतन हम रचनाओं में बोंसाई वृक्षों के कौतुक प्रयोग ही करते रहे।

क्रांति की तरह ही रचनात्मकता का निर्यात नहीं किया जा सकता। मुहावरे के पीछे आग्रह सिर्फ यही है कि कथाकार की संवेदनाएँ, संस्कार, मिजाज, तेवर सिर्फ और सिर्फ अपने ही समाज के होते हैं—इनके बिना जो चीज हम तक आती है वह है कला, तकनीक या शास्त्र और सिर्फ इन्हें ही पकड़ें तो हम जिंदगी-भर मणि कौल या कुमार शाहनी की तरह विश्वस्तरीयता के झूठ को जीते हुए दूसरे (डुप्लीकेट) ब्रेसों, गोदार्द बनने के शीर्षासन ही करते रह जाएँगे। जब उन्होंने कहा कि संकलन-त्रय कला की जान है तो अपनी रचनाओं में हम वही करते रहे, फिर वहाँ शोर मचा इन सबको तोड़ो और बिखराओ, तो हमने वह शुरू कर दिया—चाहे वे कंस्ट्रक्शन करें, या डि-कंस्ट्रक्शन—हमारी बौद्धिक उपलब्धि सिर्फ इतनी है कि हम उनके दिए को अपने यहाँ लागू करते रहे...उसी बौद्धिक आतंकवादी की तरह आज अशोक कहानी से वह सब माँग रहे हैं जो उनके हिसाब से कविता में है। कल चित्रकला और संगीत की दुनिया से आकर साहित्य के कंधों पर सवार कोई बेताल प्रश्न करेगा कि "राजन,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता, चित्रकला की तरह प्रयोगधर्मा क्यों नहीं हो पाती या संगीत की उन लोकोत्तर वैश्विक अनुभूतियों में क्यों नहीं ले जा पाती...वह अभी तक इतनी प्रिमिटिव क्यों है ? क्यों शब्दों से ही बंधे रहने को आग्रहशील है।

'ठंडे पाठ' की प्रकृति है कि वह व्यक्ति (लेखक) से उद्गमित होकर व्यक्ति (पाठक) तक पहुँचता है—परिणामतः हमें अभ्यस्त या कंडीशंड कर देता है कि हम रचना को संदर्भ-निरपेक्षता से ग्रहण करें। शायद यही कारण है कि प्रकट रूप में समूह या टीम द्वारा प्रस्तुत और समूह को संबोधित नाटक, फिल्म या टी.वी. प्रोग्राम आज के कथाकार के आसन को डगमगा देते हैं—यानी गंभीर कहानी का लेखक और पाठक इन विधाओं को—चाहे वे कितनी भी कलात्मक क्यों न हों, अपने से कुछ दर्जे नीचे मानता है।

वस्तुतः कहानी को जब तक 'कोल्ड-टैक्स्ट' की तरह लिया जाता रहेगा, वह कलात्मक या सौंदर्यशास्त्रीय कसौटियों पर निर्दोष चाहे जितनी उतरती रहे, न वह भीतर कहीं कुछ बदलेगी, न बाहर...संवादहीन, अकेले और अभिशप्त द्वीप में होने का बौद्धिक संतोष भले ही देती रहे...कभी-कभी शंका यह भी होती है कि कहीं किसी गहरी असफलता और निरर्थकता बोध से ही तो दूसरों को असंस्कारी सिद्ध करने की सारी बौद्धिक बड़बोली तार्किकता जन्म नहीं लेती ? मेरे लिए क़हानी पर इस तरह सोचना एक तरह का आत्मसमर्थन ज्यादा है, सैद्धांतिक बहस कम, 'वहाँ तक पहुँचने की दौड़' की बौद्धिक घुटन से बाहर निकलकर खुले में साँस लेने की छटपटाहट ही अपने को निर्ममता से जांचने और अस्वीकार करने का दबाव पैदा करती है... बंगालियों और बंगला कथा-साहित्य के प्रति अपने सारे पूर्वाग्रहों के बावजूद कभी-कभी मैं गंभीरता से सोचता हूँ कि क्या बुद्धिजीवी कथाकार सिर्फ हिंदी की ही बपौती हैं, कहीं और किसी भाषा में बुद्धिजीवी हैं ही नहीं ? रवीन्द्रनाथ लिखे या सत्यजित रे, बुद्धदेव बसु लिखे या जगदीश बसु, नीहार रंजन रे लिखे या पुराने पुरातत्ववेत्ता राखाल चंद्र और आज के वैज्ञानिक नार्लीकर, उनके कथा-साहित्य में पठनीयता भी है और किस्सागोई भी। वहाँ हम आश्वस्त होते हैं कि लेखक किसी भी क्षेत्र की कितनी ही बड़ी तोप क्यों न हो, अगर हम उसकी कहानी पढ़ने जा रहे हैं तो वह सबसे पहले एक रोचक, बाँधनेवाली, पठनीय कहानी ज़रूर होगी, और अंत तक पढ़वाने की प्रक्रिया में ही अपना संदेश हम तक पहुँचाएगी...

यहाँ हमें एक और तथ्य को भी नहीं भूलना चाहिए—सारी दुनिया में कथा-समीक्षा क्यों उस तरह विकसित नहीं हुई जैसी कि ये समीक्षा ? क्यों कथा-समीक्षा अनिवार्यत समाज-समीक्षा की सरहदों को छूती रही है ? वहाँ क्यों स्वयं रचना ही अपना मानक या उत्स नहीं बन पाती, क्यों बार-बार जीवनानुभवों की पड़ताल में जाना पड़ता है ? सिर्फ कला-पक्ष और भाषायी पड़ताल कभी भी कथा-समीक्षा की सीमाएँ नहीं रही। यह रीतिकाल मुख्यतः कविता की समीक्षा पर ही हावी रहा। बिना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहरी सामाजिक और राजनैतिक विश्लेषण दृष्टिवाली कथा-समीक्षाएँ किन लोगों ने लिखी हैं—यह याद करने में समय लगेगा। लगता है कहानी-संबंधी अपनी अवधारणा को अब हमें नए सिरे से जाँचने और समझने की जरूरत है, सिर्फ अपने संदर्भों में। मगर मज़ाक न समझा जाए तो मैं कहूँगा कि हम सबको चुनौती की तरह एक बंधन अपने ऊपर लगाना चाहिए कि सौ-पचास कहानियाँ बच्चों और किशोरों के लिए जरूर लिखेंगे, उनकी कार्यशालाओं में शिरकत करेंगे। हो सकता है हमें और हमारी सनसनाती बौद्धिक ऊँचाईयों को यह सुझाव बेहद अपमानजनक लगे (अब हमें कहानी-लेखन में घुटनों चलना सिखाने की गुस्ताखी भी सुननी थी ?) मगर मशक्कत और प्रयोग की तरह एक बार इस तरह अपना 'इलाज' करने में बुराई क्या है ? आखिर तोल्सतोय, रवीन्द्रनाथ, प्रेमचंद, सत्यजित राय, सिंगर—किसने बच्चों की कहानियाँ, उपन्यास नहीं लिखे ? बड़े-बड़े खूँखार डिक्टेटरों, शाहंशाहों की मूँछें खींचकर बच्चे ही तो कभी-कभी उन्हें 'आदमी' होने के सुख की याद दिलाते हैं। हो सकता है गंभीरता और बौद्धिकता के इस लकवे से बच्चों का जीवंत स्पर्श ही हमें मुक्त करने की शुरुआत करे।

वर्ना हम आदमी और आत्मा की गहरी रासायनिक पड़तालें ही करते रहेंगे—कहानी फुटपाथों पर भीख माँगेगी...या आज की हिंदी कविता की तरह फ्री-मैसोनिक जैसे किसी गुप्त-क्लब की सांकेतिक वार्ता होकर रह जाएगी...शायद ऐसे कई संप्रदाय हैं जो कहते हैं कि वे हजार सालों से चल रहे हैं। हाँ, जो उनके सदस्य नहीं हैं या उस ज्ञान में दीक्षित नहीं हैं—वे न तो वहाँ प्रवेश पा सकते हैं, न उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों के बारे में कुछ जानते-समझते हैं...कविता के 'सौंदर्यशास्त्र' की ये फ्री-मैसोनिक सोसाइटियाँ कुछ पहुँचे हुए कवियों को ही मुबारक हों, कहानीकारों के लिए तो चेतावनी ही हो सकती है कि 'यह उनका रास्ता नहीं है'...कामना करते हैं कि सारे महाभारत लड़ चुकने के बाद 'उजाड़ भूमियों' से गुजरते हुए, मोक्ष की हिमानी ऊँचाइयाँ अनासक्त और अशोक-कवियों की आत्माओं को शांति दे...

दूर बैठा कोई कवि जब अपनी उम्र हजार साल और कहानीकार की उम्र सौ साल तय करता है तो वह अपने को वैश्विक-स्तर पर और दूसरे को स्थानीयता से बाँधने के दुराग्रह का शिकार होता है। सिर्फ कुतर्क की तरह तो यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि इधर की कविता क्यों सिर्फ अपनों के बीच ही वाद-विवाद-संवाद का विषय बनी रही, क्यों उसने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके मनुष्य के पूरे बोध को कभी आंदोलित-रूपांतरित नहीं किया ? जिस तरह डैविड-कॉपरफील्ड जैसे उपन्यासों ने इंग्लैंड के बाल-श्रमिकों पर पुनर्विचार की प्रेरणा दी। जेन ऑस्टिन ने सामाजिक आचार-विचार को प्रभावित किया। मेरी ब्लीचर स्टोव के 'टॉम काका की कुटिया' ने लिंकन को आंदोलित किया। टाल्सटाय ने लेनिन को दृष्टि दी। दोस्तोयेव्सकी ने फ्रॉयड को अपने सिद्धांत निरूपण का आधार दिया, या क्राइम एंड पनिश्मेंट ने अपराध-मनोविज्ञान को समझने के सूत्र दिए, गोर्की की 'माँ' ने मजदूर-आंदोलनों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेतृत्व किया। ऑर्वेल ने समाज-व्यवस्थाओं पर पुनर्विचार के लिए दबाव डाले। 'लेडी चटर्ली' ने स्त्री-पुरुष नैतिकता को झकझोरा या अलैक्स हैले ने अमेरिकन-नीग्रो को नई अस्मिता दी या नवीनतम 'सैटानिक वर्सेज' ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हिंस्र सवाल उठाया—क्या कभी कविता भी उस तरह अपने मुद्रित पन्नों से बाहर आकर बाहरी (या वैश्विक) जीवन का हिस्सा बन पाई ? क्यों उसे कुछ लोग सिर्फ वर्ग-पहेलियों की तरह हल करते और अपने ही ज्ञान पर मुग्ध, बौद्धिक (या आध्यात्मिक) संतोष की तरह ग्रहण करते रहे ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आज कविता भाषा और शब्दों की ऐसी प्रयोगशाला है जिसकी सार्थकता गद्य को समृद्ध और संपन्न करने में ही रह गई है ?

अंतर्राष्ट्रीयता और उन्मुक्त व्यवस्था का सर्वग्रासी और वैश्विक हमला जब कमजोर देशों को साम्राज्यवादी उपनिवेश बनाने लगता है तो 'स्वदेशी' की जरूरत महसूस होती है—साहित्य में भी...यानी कुछ लोगों में यह नैतिक दबाव पैदा होता है कि 'पिछड़े होने' का आरोप सहते हुए भी इस 'वैश्विक षड्यंत्र' का हिस्सा बनने से इनकार कर दें, दूसरे शब्दों में सिर्फ ट्रेंडर बने रहने के अपमान के खिलाफ आवाज़ उठाएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतन की स्वतंत्रता के पचास साल

साहित्य समाज की आत्मा का इतिहास है। स्वतंत्रता के बाद का हिंदी कथा-साहित्य प्रकारांतर से हमारी आशा-आकांक्षाओं, पराजयों और कुंठाओं की ही कहानी कहता है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय इतिहास ने करवट ली और नई यात्राएँ शुरू करने का क्षण आया। तब हमारे सामने भविष्य था और छूटते हुए का मोह हमें पीछे देखने को उकसाता था। उस समय की हिंदी-कहानी इस समाप्त होते अतीत और आने वाले समय के दबावों को वाणी दे रही थी। हम दो दुनियाओं में एक साथ थे। उस समय के कथा-नायक इसी नॉस्टेल्जिया से बाहर निकलने की कोशिश कर रहे थे। तब कहानी भाषा, शिल्प, ट्रीटमेंट और मानसिकता में कई स्तरों को एक साथ पकड़ना चाहती थी। वह 'नई कहानी' युग था और हिंदी की कुछ सर्वक्षेष्ठ कहानियाँ उस दौरान लिखी गईं। वहाँ गाँव, शहर, कस्बों के उभरते संघर्ष करते लोग थे।

मगर शीघ्र ही लगने लगा कि अतीत छूट गया है और भविष्य है नहीं। देश ढोंगी, भ्रष्ट, तिकड़मी और बिकाऊ राजनेताओं के हाथों में है। एक भयानक मोहभंग था—महान मूल्य, संस्कृति, प्राचीन गरिमा सब झूठे और व्यर्थ लगने लगे थे। कहानी में एक ऐसा नायक उभरने लगा था जिसका एकमात्र स्वर था अस्वीकार—अतीत, भविष्य, आस-पास की दुनिया, संबंध, संपर्क—यानी हर चीज का अस्वीकार। वह एंटी-स्टोरी और एंटी-नायक का युग था। उसके लिए औरत, प्यार, उम्र, मूल्य कुछ भी पवित्र नहीं था और वह हर चीज को तोड़-फोड़ रहा था। वह डैस्परेट और हताश नायक था जो स्वयं अपना भी दुश्मन बन बैठा था। ऊपर से वह अस्तित्ववादी शब्दावली का सहारा ले रहा था, मगर आशाहीनता, पराजय और कुंठा उसकी अपनी थी। अक्सर कहानियों में न उसका कोई नाम होता था, न व्यक्तित्व। वह ऐसा विद्रोही था जो या तो अपने को खा रहा था या अपनों को—औरत उसके लिए सिर्फ मादा थी और बाप या पुराना सबकुछ दुश्मन। भविष्य था ही नहीं...इन्हीं में से कुछ थे जो इस सड़ी-गली दुनिया को बदल डालने के लिए गाँवों और कस्बों की ओर निकल पड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे, माओ की लाल किताब लेकर वे वर्ग-शत्रुओं का सफाया कर रहे थे...हिंदी कहानी में तब एक धारा, उग्र क्रांतिकारियों और सामंतवादी अत्याचारों से खलबला रही थी...

अभी तक कहानी की दुनिया मुख्य रूप से शहरी मध्य वर्ग के विभिन्न धरातलों से बनी थी—उनकी समस्याएँ, आपस के भावनात्मक संबंधों के तनाव, टूटते रिश्ते, बेकारी भुखमरी, महानगर की हृदयहीनता, भ्रष्टाचार और हर जगह 'मिसफिट' होने के संघर्ष—धीरे-धीरे केंद्र बदलने लगा। अब कहानी गाँव और कस्बों की तरफ आने लगी। या तो शहरी जीवन में कथा-संभावनाएँ ही चुक गई थीं या वह सब बासी और पुनरावृत्ति लगने लगा था। ऐक्शन सिर्फ गाँवों में था जहाँ अभी भी सामंती मूल्यों और सामंती शोषण का साम्राज्य था। नौकरशाही, जमींदार, अहलकार सभी दोनों हाथों से लूट रहे थे—विकास और उत्थान के नाम पर सरकारी साधन और किसानों की उपज सब उनकी मौज-मस्ती और हवस का शिकार थी। वहीं से उभर रहे थे कहानीकार और कहानी प्रतिशोध और प्रतिहिंसा में बदल रही थी—शोषण और अत्याचार जब ऐसी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं कि परिणाम की चिंता किए बिना कमजोर से कमजोर आदमी उलटकर वार करता है। यही आदमी अब हिंदी कहानी का नायक था...

लेकिन इधर कुछ वर्षों से फिर कहानी का परिदृश्य बदला है। कल का रहनुमा बाकायदा खलनायक है। प्रशासन, राजनेता और अपराधी के बीच फर्क करना मुश्किल है। धर्मांध राजनीति, सांप्रदायिक दंगे और जातिवादी संघर्ष जो पहले दबे-ढंके ढंग से आते थे—आज अपने भयानकतम रूप में सामने है। पहले वामपंथी विचारधारा संघर्ष के लिए साहस, नैतिक बल और भविष्य देती थी। आज वह पृष्ठभूमि में चली गई है। चूँकि आज लेखक के पास कोई 'विजन' नहीं है इसलिए सारा साहित्य छोटी-छोटी कहानियों या अमूर्त कविताओं में सिमट आया है। बाहर से हमला करने वाला मीडिया और उपभोक्तावाद का खतरा इतना जबर्दस्त है कि उसे अपना लिखा स्वयं व्यर्थ लगने लगा है—वह मुद्रित शब्द से विश्वास खो रहा है। ऐसे में हो सकता है सारा साहित्य फिर अपने निजी संसार तक सीमित होकर रह जाए और सारी लड़ाई अपनी पहचान या 'अस्मिता' की न होकर, अस्तित्व बचाए रखने तक ही बनी रहे...

112171

फिर भी महिलाओं, दलितों और वंचितों की ओर से आने वाली कहानियाँ एक और ही दिशा का संकेत कर रही हैं। ये यातना और संघर्ष से उपजी कहानियाँ हैं, जो सशक्त साहित्य के आधारभूत तत्व हैं।

●●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

Signature Date

Acc

Filing

E A B

Any other

Checked

Recommended By

Compiled
1999-2000

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजेन्द्र यादव

जन्म : 28 अगस्त, 1929

शिक्षा : एम. ए. (आगरा)

निवास : आगरा, मथुरा, झांसी, कलकत्ता होते हुए अब दिल्ली में।

प्रथम रचना : प्रतिहिंसा ('चांद' के भूतपूर्व संपादक श्री रामरखसिंह सहगल के मासिक 'कर्मयोगी' में) 1947 में।

प्रकाशित रचनाएँ :

उपन्यास : सारा आकाश, उखड़े हुए लोग, शह और मात, एक इंच मुस्कान (मन्नू भंडारी के साथ), कुलटा, अनदेखे अनजाने पुल, मंत्रविद्ध। **कहानी संग्रह :** देवताओं की मूर्तियाँ, खेल-खिलौने, जहाँ लक्ष्मी कैद है, छोटे-छोटे ताजमहल, किनारे से किनारे तक, टूटना, ढोल और अपने पार, वहाँ तक पहुँचने की दौड़, श्रेष्ठ कहानियाँ, प्रिय कहानियाँ, प्रतिनिधि कहानियाँ, प्रेम कहानियाँ, दस प्रतिनिधि कहानियाँ और चौखटे तोड़ते त्रिकोण। (अब तक की तमाम कहानियाँ पड़ाव-1, पड़ाव-2 और 'यहाँ तक' शीर्षक तीन जिल्दों में संकलित)। **कविता संग्रह :** आवाज तेरी है। **समीक्षा-निबंध :** कहानी : स्वरूप और संवेदना। उपन्यास : स्वरूप और संवेदना। कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति, औरों के बहाने, अठारह उपन्यास, कांटे की बात (छः खंड)।

संपादन : नये साहित्यकार पुस्तकमाला में मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, फणीश्वरनाथ रेणु तथा मन्नू भंडारी की चुनी हुई कहानियाँ। एक दुनिया : समानांतर, कथा-यात्रा, कथा-दशक, आत्मतर्पण और काली सुखियाँ (अफ्रीकी कहानियाँ)।

अनुवाद :

उपन्यास : हमारे युग का एक नायक : लर्मेल्तोव, प्रथम प्रेम, वसंत प्लावन : तुर्गनेव, टक्कर : ऐन्तोन चेखव, संत सर्गीयस : टालस्टॉय, एक महुआ : एक मोती : स्टाइनबैक, अजनबी : अलबेयर कामू (छहों उपन्यास कथा-शिखर-1, 2 शीर्षक दो जिल्दों में संकलित)।

संप्रति : गत दस वर्ष से 'हंस' साहित्यिक मासिक का संपादन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar